

कल्याणालोचना गीताञ्जली

(मूलगाथा, पद्यानुवाद, समीक्षा, संदर्भ सहित)

(गद्य-पद्य सहित)

मूलग्रन्थकर्ता - अज्ञात (प्राचीन) (या अजित ब्रह्म)

पद्यानुवाद - आचार्य कनकनन्दी

: पुण्य-स्मरण :

श्रीमती टीना मनीष के नये गृह में

ग्रीष्मकालीन अवकाश निवास व स्वाध्याय (ग.पु. कॉलोनी)

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

कुमार वर्ण जैन (पञ्चोरी) के 13वें जन्म दिन के उपलक्ष्य में स्वप्रेरित ज्ञानदान। शुभाकांक्षी अनुमोदक श्रीमती टीना जैन व मनीष पञ्चोरी (माता-पिता) व भगिनी कुमारी क्रिया जैन ग्रीष्मकालीन अवकाश व स्वाध्याय के पुण्यार्जक

ग्रंथाङ्क-313

प्रतियाँ-500

संस्करण-प्रथम 2019

मूल्य-201/- रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/ मो. 082337-34502

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

आत्मशुद्धि हेतु कल्याणालोचना (प्रस्तावना)

(चाल:- आत्मशक्ति....)

- आचार्य कनकनन्दी

कल्याण आलोचना होती है मंगल कामना/(भावना)

वे होते हैं वन्दना-प्रतिक्रमण व आलोचना।

इससे होती पाप (कर्म) रूपी मल परिमार्जना,
जिससे उपलब्ध होती है निर्मल आत्मा।। (1)

इस हेतु निर्मल आत्मा की होती वन्दना,
'वन्दे तद्गुणलब्धये' की पावन भावना।

स्वयं को परमात्मा बनाने की महान् कामना,
इस हेतु होता है प्रतिक्रमण सह आलोचना।। (2)

स्व-कृत पाप दूर हेतु स्व-दोष स्वीकारना,
देव या गुरु समक्ष स्व-दोषों की आलोचना।

इस हेतु प्रायश्चित्त तप स्वीकारना,
दोष दूर हेतु पश्चात्तापादि करना।। (3)

पश्चात्ताप से होती है कर्म निर्जरा,
इस हेतु स्व-दोष स्वीकारना कल्याणालोचना।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व भी इससे होता,
सुदृष्टि-श्रावक-मुनि हेतु मुख्य साधना।। (4)

इससे परे होता है स्व-शुद्धात्मा ध्यान,
“मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध व आनन्द धाम”।
“द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित मैं हूँ सच्चिदानन्द”,
“ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि गुण अनन्त”।। (5)

इस हेतु श्रावक बनते निर्ग्रन्थ श्रमण,
ध्यान-अध्ययन तप-त्याग में होते लीन।
समता-शान्ति-निस्पृहता से करते आत्मविशुद्धि।
जिससे गुणस्थान वृद्धि से आत्मोपलब्धि।। (6)

इस हेतु कल्याणालोचना की हुई रचना,
अज्ञात कोई मुमुक्षु आत्मा की रचना।
स्व-पर विश्व हित हेतु हुआ पद्यानुवाद,
'सूरी कनक' का लक्ष्य 'शुद्ध-बुद्ध-आनन्द'।। (7)

यह है गीताञ्जली के एक शतक ग्रन्थ,
नितिन (सीपुर) के अनुरोध से सम्पूर्ण हुआ शतक।
सीपुर से गीताञ्जली धारा का हुआ शुभारंभ,
क्रान्ति धाम नन्दौड़ में हुआ शतक सम्पूर्ण।। (8)
नन्दौड़ 1.11.2018 रात्रि 12:20 व प्रातः 07:30

सन्दर्भ

व्यक्ताव्यक्त प्रमादे यो निवसति प्रमत्त संयतो भवति।

सकल गुणशील कलितो महाव्रती चित्रलाचरणः।। (601)। भाव.सं.

अर्थ :- जो मुनि अठ्ठाईस मूलगुणों को पालन करते हैं शील वा उत्तर गुणों को पालन करते हैं महाव्रतों का पालन करते हैं ऐसे मुनि अब व्यक्त वा अव्यक्त रूप प्रमाद में निवास करते हैं तब वे प्रमत्त संयत वा प्रमत्त संयमी मुनि कहलाते हैं ऐसे मुनियों का चारित्र अत्यंत शुद्ध नहीं होता किन्तु अनेक रंगों से बने हुए कुछ दोष उसमें लगते ही रहते हैं।

भावार्थ- प्रमाद होने से कुछ न कुछ दोष लगते रहते हैं।

15 प्रमाद

विकथा तहय कसाया इंदियणिद्दा तहव पणओ य।

चउ चउ पण मेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा।। (602)।।

अर्थ :- चार विकथा चार कषाय पाँच इन्द्रियाँ निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते हैं।

राजकथा, भोजकथा, देश कथा और चोर कथा ये चार विकथाएँ कहलाती हैं। इन कथाओं के सुनने से वा कहने से पाप का बंध होता है इसलिये इनको विकथा कहते हैं।

क्रोध, मान,माया, लोभ ये चार कषाय हैं। ये भी पाप बंध के कारण हैं।

पाँचों इन्द्रियों के विषय भी पाप बंध के कारण हैं निद्रा पापबंध का कारण ही है तथा स्नेह वा प्रणय भी पापबंध का कारण है इसलिये इन सब को प्रमाद कहते हैं तथा इन्हीं प्रमादों के कारण चारित्र की अत्यंत शुद्धता नहीं होती। प्रमादों के कारण उनमें दोष व अशुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है।

इस गुणस्थान में कौन सा ध्यान होता

झायइ धम्मज्झाणं अहं पि य णो कसाय उदयाओ।

सज्झाय भावणाए उवसामइ पुणु वि झाणम्मि।। (603)

अर्थ : छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनि धर्मध्यान का चिंतवन करते हैं। तथा नोकषाय के उदय होने से उनके आर्तध्यान भी हो जाता है। तथापि स्वाध्याय और रत्नत्रय की भावना के कारण उसी ध्यान से उस आर्तध्यान का उपशम कर देते हैं।

भावार्थ : मुनियों के आर्तध्यान कभी कभी होता है तथा तीन ही प्रकार का आर्तध्यान है निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता। यदि किसी मुनि के निदान नाम का आर्तध्यान हो जाए तो फिर उस मुनि का छठा गुणस्थान ही छूट जाता है।

तज्झाण जाय कम्मं खवेइ आवसएहिं परिपुण्णो।

णिंदण गरहण जुत्तो पडिक्कमण किरियाहिं।। (604)

अर्थ : छठे गुणस्थान में रहने वाले वे मुनि अपने छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते हैं। तथा उन्हीं आवश्यकों के द्वारा उस स्वल्प आर्तध्यान से उत्पन्न हुए कर्मों का नाश कर देते हैं। इसके सिवाय वे मुनि उस आर्तध्यान के कारण अपनी निन्दा करते रहते हैं और अपनी गर्हा करते रहते हैं प्रतिक्रमण करते रहते हैं और अपनी समस्त क्रियाओं का पालन करते रहते हैं।

जाव पमाए वदूइ जावथिरं थाइ णिच्चलं झाणं।

णिंदण गहण जुत्तो आवसइ कुणइ ता भिक्खूः।। (605)

अर्थ : वे छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनि जब तक प्रमाद सहित रहते हैं, जब तक उनका निश्चल ध्यान अत्यंत स्थिर नहीं होता है तब तक वे मुनि अपनी निन्दा करते रहते हैं गर्हा करते रहते हैं और छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते रहते हैं।

छट्टु मए गुणठाणे वदंतो परिहरेइ छावासं।

जो साहु सोण मुणई परमायम सार संदोहं॥ (606)

अर्थ : जो साधु छठे गुणस्थान में रहकर भी छहों आवश्यकों को नहीं करता वह साधु परमागम के सार को नहीं समझता ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ : छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों को छहों आवश्यक अवश्य करने चाहिये और प्रतिदिन ही करने चाहिये। इनको कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

समता वन्दना स्तोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया।

व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट्॥

अर्थ : समता धारण करना, वन्दना करना, स्तुति करना, प्रत्याख्यान व त्याग करना प्रतिक्रमण करना और व्युत्सर्ग करना ये छह आवश्यक कहलाते हैं।

जो साधु आवश्यक नहीं करता

अहव मुणंतो छंडइ सव्वावासाइं सुत्तबद्धाइं।

तो तेण होइ चत्तो सुआयमो जिणवरिंदस्स॥ (607)

आयमचाय चत्तो परमप्पा होइ तेण पुरिसेण।

परमप्पय चायेण य मिच्छत्तं पोसियं होइ॥ (608)

अर्थ : अथवा जो साधु जान बूझकर सिद्धांत सूत्रों में कहे हुए आवश्यकों को त्याग कर देता है; छह आवश्यकों को नहीं करता वह साधु भगवान् जिनेंद्र देव के हुए आगम का ही त्याग कर देता है ऐसा समझना चाहिये तथा यह बात भी निश्चित है कि जिसने आगम का त्याग कर दिया उसने परमात्मा का भी त्याग कर दिया और परमात्मा का त्याग करने से वह पुरुष मिथ्यात्व की ही पुष्टि करता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

भावार्थ : आगम सब भगवान् जिनेंद्र देव का कहा हुआ है इसलिये जो पुरुष आगम को नहीं मानता वह पुरुष भगवान् जिनेंद्र देव को भी नहीं मानता वह पुरुष मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता है। इसलिये आगम की अवहेलना करना महापाप माना जाता है।

एवं णाऊण सया जावण पावेहि णिच्चलं झाणं।

मण संकप्प विमुक्कं तावासय कुणह वयसहियं॥ (609)

अर्थ : यही समझकर मुनियों को उचित है कि जब तक मन के संकल्प विकल्पों से रहित होकर निश्चल ध्यान की प्राप्ति नहीं होती तब तक उनको छहों आवश्यक प्रतिदिन अवश्य करते रहना चाहिए तथा अपने अन्य समस्त व्रतों का पालन करते रहना चाहिये।

आवश्यक आदि कार्यों का फल

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाण पुजाइं।

जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर णिमित्तं॥ (610)

अर्थ : जो सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकों का पालन करता है, व्रत नियम आदि का पालन करता है, वैयावृत्य करता है, पात्र दान देता है और भगवान् जिनेंद्र देव की पूजा करता है उस पुरुष का वह सब कार्य कर्मों की निर्जरा का कारण माना जाता है।

जस्सण णहगामित्तं पायविलेवो णओसही लेवो।

सो णावाइ समुद्दं तरेइ किमिच्छ भणिण्ण॥ (611)

अर्थ : जिनके न तो आकाशगामिनी ऋद्धि है न पैरों को स्थिर कर आकाश में चलने की ऋद्धि है और न औषधि लेप ऋद्धि है तथापि वह नाव के समान भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देता है।

भावार्थ : जिन मुनियों के कोई किसी प्रकार की ऋद्धि नहीं है ऐसे साधारण मुनि भी अपने रत्नत्रय स्वरूप शरीर से, अपने धर्मोपदेश से अनेक भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देते हैं, मुनियों की महिमा अपार वचनातीत है।

जा संकप्पो चित्ते सुहासुहो भोयणाइ किरियाओ।

ताकुणउसोविकिरियं पडीकमणाईय णिस्सम॥ (612)

अर्थ : इस छोटे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों के हृदय में जब तक शुभ संकल्प वा अशुभ संकल्प विकल्प होते रहते हैं, जब तक भोजनादिक क्रियाओं की प्रवृत्ति होती रहती है तब तक उन मुनियों को प्रतिक्रमण आदि समस्त क्रियायें करते रहना चाहिए।

‘‘प्रतिक्रमण’’

(आत्मालोचना, आत्मविश्लेषण, आत्मविशुद्धि के उपाय)

(विभावों का परिमार्जन एवं स्वभाव के प्रगटीकरण हेतु प्रतिक्रमण)

(चाल:- आत्मशक्ति से..., चिंगारी कोई भड़के....)

प्रतिक्रमण करता हूँ मैं...तन-मन-और काय से।

कृत-कारित व अनुमतयुत...द्रव्य और भाव से।। ध्रु.।।

अनादिकाल से हे प्रभु!...जो किया है विपरीत कर्म।

मिथ्यात्व अज्ञान कषायवश...वे सब नाश हो दुष्कर्म।।

अनन्त पंचपरिवर्तन में...चतुर्गतिरूपी संसार में।

चौरासी लाख योनियों में...जो किया है कर्म मोह में।। (1)

सबसे अधिक मैं पाप किया...मोहभाव के कारण।

अनात्म वस्तु को आत्म मानकर...न किया सत्य पहचान।।

शरीर सत्ता सम्पत्ति स्व-पर...शत्रु-मित्र स्व-पर जन।

अपना मानकर इनके हेतु...किया अधिक कुकर्म।। (2)

धार्मिक अन्धश्रद्धान से...संकीर्ण पन्थ मत अपनाया।

हिंसा युद्ध आक्रमण व...भेदभाव घृणा को अपनाया।।

अज्ञान के कारण न जान पाया...हित-अहित के तत्त्व।

हितग्रहण व अहित त्याग...ज्ञान-ज्ञेय के तत्त्व।। (3)

क्रोध-मान-माया-लोभ तथा...नोकषायों के कारण।

हिंसा झूठ चोरी कुशील-परिग्रह...किया भी विविध प्रमाण।।

प्रमादवश अनेक किया...अनर्थदण्ड अहितकर।

आवश्यक बिना ही पाप किया...नवकोटि से अनेक प्रकार।। (4)

पर के अहित चिन्तन व...वाद-विवाद कलह।

फैशन-व्यसन निन्दा-चुगली...ईर्ष्या-घृणा विद्रोह।।

चलने-बैठने-सोने में या...भोजन आदान-प्रदान में।

असि-मसि-कृषि-वाणिज्य-सेवा...शिल्पकला संगीत में।। (5)

राजनीति या कानून में...धार्मिक सामाजिक काम में।
जन्म-मरण व विवाह क्रिया...भोग-उपभोग काम में।
सम्यग्दृष्टि अवस्था या...श्रावक ब्रह्मचारी अवस्था में।
क्षुल्लक ऐलक आर्यिका या...साधु पाठक सूरी में।। (6)

ज्ञात-अज्ञात भाव में या...शयन स्वप्न जागृत में।
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में...जो किया अनात्म काम में।।
वे सब मेरे कुकृत्यों का...कर रहा हूँ मैं प्रतिक्रमण/(आलोचना)।
निन्दा गर्हा पश्चात्ताप युत...आत्मविशुद्धि के कारण।। (7)

पश्चात्ताप से फलश्चयुति...प्रतिक्रमण से पाप विनाश।
अशुभ से शुभ प्राप्त कर...शुद्ध से बनूँ अविनाश।।
मेरे द्रव्य भाव कर्मों को...कर रहा हूँ मैं विसर्जन।
सच्चिदानन्द स्वभाव बिना...अन्य सबका विनाशन।। (8)

मैं ही मुझमें ही स्थिर रहूँ...बनूँ ज्ञानानन्दमय।
'कनक' निजरूप को ही चाहता...जो है विज्ञानघनमय।। (9)

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-आध्यात्मिक विश्लेषण युक्त कविता
पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त से कर्मनाश करूँ! ?

(प्रतिक्रमण-आलोचना-आत्मविश्लेषण-प्रत्याख्यान का स्वरूप व फल)
(चाल: ज्योति कलश छलके...,नीले गगन के तले...)

धन्य स्व पश्चात्तापSSS धन्य-स्व-प्रायश्चित्तSSS
मेरे दोषों का स्मरण करूँSSS निन्दा-गर्हा से दूर करूँSSS...(ध्रुव)....
आगम-अनुभव से मैं जाना...अनादिकाल से पाप(मैं) कीना...
मन-वचन-काय से...राग-द्वेष-मोह(भाव) से...धन्य...(1)....
चौरासी लक्ष योनि मध्ये...पञ्च परिवर्तन चतुर्गति में...
पञ्च पाप सप्त व्यसनों से...अनंतानंत पाप किया मैं...

अनंत दुःख सहे...2...धन्य...(2)...

आत्म स्वभाव से विपरीत किया...देव-शास्त्र-गुरु को न माना...

दीन हीन अहंकारी बना...रत्नत्रय से विपरीत माना...

कुमार्गी बनके...2...धन्य...(3)

ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा कीना...स्व-पर को मैं दुःख दीना...

सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि हेतु...भोगोपभोग हेतु पाप कीना...

भव-भव भ्रमण किया...2...धन्य...(4)...

दुष्ट चिंतन व कथन से...अप्रयोजनभूत काम करने से...

खाना-पीना-सोना-चलने से...किया हूँ पाप परनिन्दा से...

भाव हिंसक बनके...2...धन्य...(5)

सत्य-तथ्य व आत्मज्ञान से...श्रद्धा-प्रज्ञा व अनुभव से...

हित-अहित जान रहा हूँ... अहित त्याग हेतु पश्चात्ताप...

प्रायश्चित्त करके...2...धन्य...(6)

अंतःकरण से (मैं) स्व-निन्दा करूँ...गुरु समक्ष गर्हा भी करूँ...

अंतःकरण से जल रहा हूँ...(पूर्व) पाप कर्मों को जला रहा हूँ...

प्रतिक्रमण करके...2...धन्य...(7)

स्व-पर सहानुभूति कर रहा हूँ...अन्य प्रति समानुभूति कर रहा हूँ...

पर दुःख कातर मैं बन रहा हूँ...मैत्री प्रमोद कारुण्य साम्य भा रहा हूँ...

अनुप्रेक्षा करके...2...धन्य...(8)...

हर जीव से क्षमा माँगता हूँ...अक्षमा भाव नहीं रखता हूँ...

पूर्वकृत पाप सभी त्यागता हूँ...भावी पाप को त्याग करता हूँ...

प्रत्याख्यान करके...2...धन्य...(9)

पाप-ताप-संताप-तनाव...त्याग से मैं बन रहा हूँ पावन...

एकाग्रचित्त से करूँ ध्यान-अध्ययन...समता-शांति से आत्मकल्याण...

पवित्र भाव से...2...धन्य...(10)

अशुभ त्यागकर शुभ करता हूँ...आत्मविशुद्धि बढ़ा रहा हूँ...

कर्मनाश से मोक्ष चाहता हूँ...'कनक' शुद्ध-बुद्ध होना चाहता हूँ...

स्वभाव में आके...2...धन्य...(11)

संदर्भ-

प्रतिज्ञा सूत्र

जीवे प्रमाद-जनिताः प्रचुराःप्रदोषाः,
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्-तदर्थ-ममलं, मुनि बोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्र-भव-कर्म-विशोधनार्थम्॥ (1) (प्रतिक्रमण)

भावार्थ-जिस प्रतिक्रमण से, जीव के द्वारा प्रमाद से उत्पन्न होने वाले अनेक दोष क्षय को प्राप्त होते हैं तथा अनेक भवों में उपार्जित कर्मों का क्षण-मात्र में नाश होता है। इसलिये मुनियों को संबोधन के लिए, मैं ऐसे मल रहित निर्मल प्रतिक्रमण को कहूँगा। (यह प्रतिक्रमण के रचयिता श्री गौतम स्वामी का प्रतिज्ञा सूत्र है।)

“भूतकालीन दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।” भावीकालीन दोषों का निराकरण करना प्रत्याख्यान है।

उद्देश्य सूत्र

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना-लोभिना,
रागद्वेष-मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्-निर्मितम्।
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्री-पाद-मूलेऽधुना,
निंदा-पूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषुः सत्यथे॥ (2)

भावार्थ-हे तीन लोक के अधिपति जिनेन्द्रदेव! मुझ पापी, दुष्ट, अज्ञानी, मायाचारी, लोभी के द्वारा राग-द्वेष रूपी मल से मलीन मन के द्वारा जिन पाप-कर्मों का उपार्जन किया गया है, उन पाप कर्मों को मैं अनंत चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सम्पन्न आपके चरण-कमलों में निंदापूर्वक छोड़ता हूँ तथा अब इस समय निरंतर सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की इच्छा करता हूँ।(जिनेन्द्र की साक्षीपूर्वक पाप-कर्मों का त्याग करता हूँ। इस प्रकार यह संकल्प सूत्र है।)

संकल्प सूत्र

खम्मामि सव्व-जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मिच्ची मे सव्व-भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि॥ (3)

भावार्थ- मैं संसार के समस्त प्राणियों के प्रति क्षमा भाव धारण करता हूँ।

समस्त प्राणी भी मुझ पर क्षमा भाव धारण करें। संसार के सभी जीवों में मेरा मैत्री भाव है तथा किसी भी जीव के साथ मेरा-वैर-विरोध नहीं है।

राग परित्याग सूत्र

राग-बंध-पदोसं च हरिसं दीण-भावयं।

उस्सुगतं भयं सोगं रदि-मरदिं च वोस्सरे।। (4)

भावार्थ-हे जिनेन्द्र! मैं आपकी साक्षीपूर्वक राग-द्वेष-बंध, हर्ष, दैन्य प्रवृत्ति/ भावना, पञ्चेन्द्रिय विषयों की वासना का आकर्षण, लोलुपता, आसक्ति, भय, शोक, रति और अरति का त्याग करता हूँ।

पश्चात्ताप सूत्र

हा! दुट्ट कयं हा! दुट्ट-चिंतियं भासियं च हा।

दुट्ट अंतो-अंतो डज्जमि पच्छत्तावेण वेदंतो।। (5)

भावार्थ-1. हाँ! यदि मैंने काय से कोई दुष्ट कार्य किया हो। 2. हाँ! यदि मैंने मन से कोई दुष्ट चिन्तन किया हो और 3. हाँ! यदि मैंने कोई दुष्ट वचन बोला हो तो मैं उन मन-वचन-काय की दुष्ट क्रियाओं को दुष्कृत-अशुभ समझता हुआ, पश्चात्ताप से भीतर ही भीतर पीड़ित हुआ जल रहा हूँ अर्थात् अपने दुष्कृत्यों से मेरा अन्तःकरण जल रहा है अतः हे जिनेन्द्र! आपकी साक्षीपूर्वक इनका त्याग करता हूँ।

दव्वे खेत्ते काले भावे य कदावराह-सोहणयं।

णिंदण-गरहण-जुत्तोमण-वच-कायेण-पडिक्कमणं।। (6)

भावार्थ-द्रव्य-आहार, शरीर आदि। क्षेत्र-वसतिका, मार्ग, जिनालय, आदि। काल-पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न आदि। भाव-संकल्प-विकल्प आदि।

मैं द्रव्य-शरीर आदि, क्षेत्र-वसतिका, मार्ग आदि, काल-भूत-भावी-वर्तमान अथवा पूर्वाह्न और अपराह्न में किये गये अपने अपराधों की शुद्धि के लिए मन-वचन काय से प्रतिक्रमण करता हूँ।

ए-इंदिया, बे-इंदिया, ते-इंदिया, चतुरिंदिया, पंचिंदिया, पुढविकाइया-आउ-काइया, तेउ-काइया, वाउ-काइया, वणप्फदि-काइया, तस-काइया, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

भावार्थ-हे जिनेन्द्रदेव! मैंने एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त किसी भी जीव को मारना, पीड़ा देना, एकदेश प्राणों का घात करना, विराधना करना आदि पाप-कार्यों को स्वयं किया हो, दूसरों से कराया हो अथवा करने वालों की अनुमोदना की हो तो मेरे पाप मिथ्या होंगे।

(अपराध-मनोविज्ञान-आत्म सुधारपरक शोधपूर्ण कविता)

सम्पूर्ण दोष-अपराध के कारण व निवारण उपाय

(चाल:- छोटी-छोटी गैया....)

दोष/(कमी, गलती) व अपराध के कारणों को जानो, अंतरंग-बहिरंग दोनों पहचानो।

अंतरंग होते हैं प्रमुख कारण, बहिरंग होते हैं गौण कारण।। (ध्रुव) क्रोध मान-माया लोभ व मोह, अंतरंग में ये प्रमुख कारण।

स्पर्श रस गंध वर्ण व शब्द, इनसे राग द्वेष होते कारक।।

हास्य रति अरति शोक व भय, जुगुप्सा-स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद। इनसे आवेशित जीव करते दोष, इनके भी होते अनेक भेद-प्रभेद।। (1)

बहिरंग कारण सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि, दशविध विविध परिग्रह आदि।

इसी से जीव करते अनेक दोष, फैशन-व्यसन आदि पाप अशेष।।

हिंसा झूठ कुशील परिग्रह चोरी, शोषण मिलावट भ्रष्टाचार आदि।

आक्रमण युद्ध आतंकवाद आदि, परनिन्दा अपमान क्षति आदि।। (2)

कलह विसंवाद व वाद-विवाद, वैर-विरोध व घृणा विद्रोह।

अनुशासनहीनता व कर्तव्यहीनता, श्रद्धा-प्रज्ञा व विवेकहीनता।

अयोग्य द्रव्य क्षेत्र काल व जीव, बाह्य कारक के प्रमुख भेद।

दोष व अपराध नाश के कारक, नाश करना होगा उक्त कारक।। (3)

अंतरंग कारण जब होते उपशम, श्रद्धा-प्रज्ञा-विवेक होते जागरण।

आत्म विश्लेषण आत्म सुधार द्वारा, दोषादि दूर होते प्रयत्न द्वारा।।

योग्य मार्गदर्शक गुरु भी चाहिए, स्वाध्याय मनन-चिन्तन चाहिए।

संयम धैर्य व साधना द्वारा, दोष दूर होते आत्मविशुद्धि द्वारा।। (4)

कानून राजनीति आदि न मुख्य उपाय, केवल बाह्य शिक्षा नहीं कारण। संकीर्ण कट्टर धर्म आदि नहीं कारण, ढोंग-पाखण्ड आदि नहीं कारण। कर्म सिद्धांत व मनोविज्ञान का सार, कानून संविधान व मेरे विचार। संक्षेप से 'कनकनन्दी' किया वर्णन, विशेष परिज्ञान हेतु करो विशेष ज्ञान।। (5)

मेरे स्वानुभव के कारण व परिणाम

(चाल:- आत्मशक्ति.....,सायोनारा....)

- आचार्य कनकनन्दी

आत्मानुभव/(स्वानुभव) है स्व-शुद्धात्मानुभव, अनुभव करना है स्व(मैं) को। मैं हूँ सच्चिदानंद अमूर्तिक द्रव्य, द्रव्य भाव व कर्म रिक्त को।। (1)

तन-मन-इन्द्रियों से परे हूँ, राग-द्वेष-मोह से भी परे।

ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा से भी परे, सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि परे।। (2)

ख्याति-लाभ-पूजा से परे हूँ, जन्म-जरा-मृत्यु से परे।

स्वयंभू सनातन स्वयंपूर्ण हूँ, जाति-लिंग व राष्ट्र से परे।। (3)

शत्रु-मित्र-भाई-बंधु से परे हूँ, अपना-पराया भेदभाव परे।

संकल्प-विकल्प-संक्लेश परे हूँ, आकर्षण-विकर्षण द्वन्द्व से परे।। (4)

अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय हूँ, अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व हूँ।

द्रव्यत्व अगुरुलघुत्व सहित हूँ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त हूँ।। (5)

कालातीत हूँ आकाश से भी व्यापक हूँ, अणु से भी सूक्ष्म अव्याबाध हूँ।

स्वयं में ही स्थित हूँ सर्वगत हूँ, ज्ञाता दृष्टा व ध्यान-ध्येय हूँ।।(6)

सत्य स्वरूप हूँ समता रूप हूँ, अनंत आत्मोत्थ सुख रूप हूँ।

निर्विकार हूँ निरञ्जन हूँ मैं, स्वयं के द्वारा स्वयं गम्य हूँ।। (7)

तर्कातीत हूँ इन्द्रिय अतीत हूँ, स्व-अनुभव से ही ज्ञात रूप हूँ।

मनातीत हूँ यंत्रों से अज्ञात हूँ, अज्ञानी-मोही से भी अज्ञात रूप हूँ।। (8)

धार्मिक रूढ़ि परम्परा रिक्त हूँ, कानून व भौतिक विज्ञान से परे हूँ।

लौकिक रीति-रिवाज परे हूँ, शब्दातीत हूँ अनुभवगम्य हूँ।। (9)

अज्ञान मोह व राग-द्वेष परे, मेरी ही श्रद्धा-प्रज्ञा से मैं हूँ ज्ञात।

मेरे ही विश्वास से मेरी विशुद्धि से, एकाग्रचित से मेरे द्वारा मैं ज्ञात ।। (10)

ज्ञानानंदमय संतुष्टि-तृप्ति से, मेरे द्वारा ही मैं अनुभव होता हूँ।
देवशास्त्र गुरु सुद्रव्यादि निमित्त से, 'कनक' स्व द्वारा स्व को वेदन करूँ।। (11)

स्वानुभव बिना न सम्यक्त्व होता, न होते सुज्ञान व चारित्र भी।
धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान भी न होते, न होते संवर-निर्जरा मोक्ष भी।। (12)

समस्त धर्म कर्म स्वानुभव हेतु ही, सम्यग्दृष्टि से लेकर श्रमण/(सिद्ध) तक।
स्वानुभव होता है ईकाई स्वरूप, बीज यथा ईकाई वृक्ष से फल तक।। (13)

समालोचना से मिलती है विविध शिक्षाएँ

(चाल : तेरे प्यार का आसरा... आत्मशक्ति)

समालोचना से (मुझे) मिलती अनेक शिक्षाएँ।

गुण दोष परिज्ञान की शिक्षाएँ।

निन्दा होती है कुभावना, ईर्ष्या द्वेष घृणादि होती निन्दा भावना।

समालोचना होती सुधार भावना, ईर्ष्या द्वेष घृणादि रिक्त शुभ भावना।।

परोपकारी सुविज्ञान करते समालोचना, दोष दूर गुण वृद्धि हेतु करे
समालोचना।।

स्व-अज्ञात दोष दूर हेतु योग्य समालोचना, समालोचना सुनने हेतु योग्य
श्रोता बनना।।

समालोचना श्रवण हेतु जिज्ञासा भी चाहिए, धैर्यपूर्वक एकाग्रता से विश्लेषण
चाहिए।

अन्य के अनुभव व दृष्टिकोण अनेक लाभ होते, स्व-दोषों के परिहार
स्व-गुण विकास होते।

गुणग्राहकता व उदारवृत्ति नम्रता क्षमा बढ़ती, कूपमण्डूकता-हठग्राहिता-
अज्ञानता घटती।

सर्वज्ञ बिन अन्य सभी होते अपूर्ण अल्पज्ञ, अतः स्वदोष ढाकने हेतु अकरणीय
कुतर्क।।

इससे न होते स्व-दोष दूर न होता विकास, अज्ञान-दंभ बढ़ते होता आत्म विनाश।
तीर्थंकर से लेकर सद्गुरु देते उपदेश, रोग दूर करने हेतु यथा वैद्यों का
निर्देश।।

नीति-नियम-कानून-संविधान भी समालोचना, समालोचना के बिना विकास की नहीं संभावना।

रावण-कंस हिटलर नहीं माने समालोचना, गुणग्राही विकासशील मानते समालोचना।।

समालोचना से होती ज्ञान-विज्ञान-क्रांति, सभ्यता-संस्कृति व भाषा की उन्नति। शोध-बोध व समीक्षा होती समालोचना, आत्मविकास योग्य 'कनक' को मान्य समालोचना।।

सुविचार-किसी को राय देने की तुलना में किसी अच्छी राय से फायदा उठाने के लिये अधिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। जे. कॉलिंस

मानव की दोष प्रवृत्ति के कारण एवं निवारणोपाय

(चाल : 1, सुनो सुनो हे दुनिया वालों....2 कहाँ गये चक्री....)

सुनो मानव! तुम्हे बताऊँ, तुम्हारी विचित्र/(विकृत) प्रवृत्ति। जिसे जानकर तुम करो हे! सच्ची व अच्छी प्रवृत्ति।। (1)

इसके लिए अनेक कारण मुख्य अंतरंग व बाह्य हैं। अंतरंग है प्रमुख कारण, गौण कारण बाह्य है।। (2)

द्रव्य-भाव-नोकर्म होते हैं, अंतरंग के कारण। द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि होते हैं बहिरंग कारण।। (3)

पूर्वभवों के संचितकर्म/(संस्कार) होते हैं द्रव्य कर्म। उसके उदय होने पर, होते हैं भाव कर्म।। (4)

क्रोध मान माया लोभ मोह काम है भाव कर्म। भाव कर्म से प्रेरित होकर, होते हैं बाह्य कर्म।। (5)

शरीर बनता नोकर्म से, जो है इन्द्रिय आधार। विचित्र प्रवृत्ति के हेतु, ये हैं मूल आधार।। (6)

इन्ही कारणों से हे! मानव, तू करता पापाचार। ज्ञात-अज्ञात विवश होकर करता है तू पापाचार।। (7)

हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह बलात्कार।

फैशन-व्यसन अष्ठ-मद, ढोंग व मिथ्याचार।। (8)

ठगी मिलावट कलह, विसंवाद व भ्रष्टाचार।

अंधविश्वास व निंदा चुगली, ईर्ष्यादि पापाचार।। (9)

पापाचार से निवृत्ति हेतु ही, ध्यान-अध्ययन-तप है।

दान-दया-परोपकार व संयम-त्याग-व्रत है।। (10)

शिक्षा-संस्कार-सदाचार व नीति-नियम-संविधान है।

न्याय-राजनीति-अर्थशास्त्र व सामाजिक प्रतिबंध है।। (11)

दोष होने पर पश्चात्ताप व आलोचना प्रायश्चित्त है।

यह है आध्यात्मिक विधान, जो कि सर्वोत्तम है।। (12)

गौण विधान है न्याय द्वारा, दण्ड को प्राप्त करना।

मनोवैज्ञानिक पद्धति से भी, दोषों को दूर करना।। (13)

अशुद्ध भाव से दोष होते हैं, शुद्ध से होते दूर

भाव को शुद्ध करने हेतु, तू करो हे! प्रयत्नाचार।। (14)

भाव शुद्ध बिना बाह्य धर्म व शिक्षा नियम कानून।

दोष दूर नहीं होता है, प्रकाश बिन यथा तम।। (15)

गुण दोष को जानो-मानो-करो दोष निवारण।

इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' किया है यह वर्णन।। (16)

“दोष निवृत्ति एवं सत् प्रवृत्ति के कारण”

(पश्चात्ताप एवं उत्तम क्षमा प्रारंभ होता है स्वयं से)

(आंतरिक पीड़ा प्रायश्चित्त आदि से होती है दोषों की निवृत्ति एवं गुणों में प्रवृत्ति)

(चाल : यमुना किनारे)

प्रसव पीड़ा होती है यथा प्रसव के पहले।

अन्तः (आंतरिक) पीड़ा होती है तथा (है) दोष दूर करने के पहले।। ध्रु.।।

जो कोमल स्वभावी व गुणग्राही होते हैं।

स्व-दोषों के कारण वे पश्चात्तापी होते हैं।।

जो कठोर क्रूर व हठग्राही होते हैं।

स्व-दोषों के कारण वे पश्चात्ताप न करते हैं॥(1)

यथा रावण कंस व जरासंध हिटलर।

पश्चात्ताप के द्वारा न किये वे दोष दूर॥

अशोक वाल्मिकी अंगुलीमाल तथाहि दृढ़प्रहारी।

पश्चात्ताप के द्वारा वे बने स्वदोष परिहारी॥ (2)

ताप ताड़न गलन से स्वर्ण पाषाण होता शुद्ध।

पश्चात्ताप के कारण दोषी हो जाता है शुद्ध॥

अंधपाषाण यथा नहीं होता कभी शुद्ध।

तथाहि कठोर क्रूर नहीं होता दोषों से शुद्ध॥ (3)

जो दयालु परोपकारी गुणग्राही होते सज्जन।

दोष होने पर वे/(जो) चाहते दोष परिमार्जन।

स्व-दोष के कारण वे पश्चात्ताप बहुत करते।

पीड़ित होते अन्तःकरण से स्वयं को दोषी मानते॥ (4)

आत्मविश्लेषण करते गुरु को दोष बताते।

प्रायश्चित्त करते स्वदोष को दूर वे करते॥

क्षमादान करते सभी को क्षमा मांगते भी सभी से।

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ से पावन भाव सभी से॥ (5)

दोष दूर करके आत्मसंतोष को वे पाते।

पुनः पूर्वोक्त दोष को पुनरावृत्ति न करते॥

धर्म कानून प्रायश्चित्त व मनोविज्ञान में पढ़ा हूँ।

बाल्यकाल से अभी तक मैं अनेक अनुभव किया हूँ॥ (6)

उसी पाप के कारण बहुत वे दुःखी।

इसी के विपरीत जो कठोर क्रूर दुर्जन।

स्व दोष को न मानते न करते परिमार्जन॥

उसी पाप के कारण बहुत वे दुःखी होते।

इह परभव में वे अनेक दुःखों को पाते॥ (7)

कर्म संस्कार के कारण दोष होना संभव है।
दोष जो दूर करते वे ही सच्चे मानव हैं।
दोष जो दूर कर लेते वे बन जाते भगवान् (हैं)।
न दोष दूर करते वे ही पक्के हैवान(हैं)॥ (8)

स्व दोष दूर करके मानव बनो भगवान्।
इसी कार्य के हेतु ही 'कनक' सदा प्रयत्नवान्॥ (9)

उक्तं चं-

जीवे प्रमाद जनिता प्रचुराःप्रदोषाः,
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात् तदर्थं ममलं मुनि बोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्रं भव कर्म विशोधनार्थम्॥ (1)

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना,
रागद्वेष मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्।
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्री पाद मूलेऽधुना,
निन्दा पूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषु सत्पथे॥ (2)

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मिक्खी में सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि॥(3)

राग-बन्ध पदोसं च हरिसं दीण भावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदि मरदिं च वोस्सरे॥ (4)

हा! दुट्ठ कयं हा! दुट्ठ चिंतियं भासियं च हा दुट्ठं।
अंतो-अंतो डज्झमि पच्छत्तावेण वेदंतो॥ (5)

दव्वे खेत्ते काले भावे च कदावराह सोहणयं।
णिंदण गरहण जुत्तो मण वच कायेण पडिक्कमणं॥ (6) (प्रतिक्रमण)

स्व-पर हित हेतु स्व पर गुण दोष ज्ञातव्य

(चाल-दोहा)

बुरा ही देखने जो चला, बुरा ही देखता सही।
अच्छा ही देखने जो चला, समीक्षा/(परीक्षा) करता सही॥ (1)

- बुरा ही देखने जो चला, बुरा ही होता वो सही।
अच्छा ही देखने जो चला, गुणज्ञ होता वो सही॥ (2)
- काला चश्मा धारक सम, बुरा जो व्यक्ति होय।
अच्छा बुरा सब एक सा, लगे ऐसा दुर्गुण होय॥ (3)
- (सही)/ पारदर्शी चश्मा धारक सम, गुणज्ञ व्यक्ति होय।
जो जैसा हो वह वैसा देखे, बुरा या अच्छा/(जो) होय॥ (4)
- बुरा व्यक्ति सदा अन्य को, बुरा ही सदा माने।
अवचेतन संतुष्टि से, स्वयं को ही अच्छा माने॥ (5)
- गुणज्ञ व्यक्ति व गुणग्राही, जो होता सो सज्जन।
स्व-पर गुणों को सो गुण माने, कुगुण को कुगुण॥ (6)
- बुरे भले दोनों जीव होते, संसार के माहिं।
बुरे व्यक्ति बुरे गुणों से, बचे सो सज्जन होय॥ (7)
- स्व-गुणों को भी गुणज्ञ, गुण ही मानेगा सही।
स्व गुणों की वृद्धि से, महान् बने जग माहि॥ (8)
- स्व-गुणों को भी कुगुण, मानेगा सही नहीं।
ऐसा यदि होयेगा तो, सुगुण विकास न होय॥ (9)
- हीन भावना भी आयेगी, पुरुषार्थ होगा हीन।
उत्साह साहस धैर्य भी, हो जायेंगे विहीन॥ (10)
- स्वाभिमान न आयेगा, नहीं होगा है विकास।
आत्मविश्वास भी न होगा, न होता आत्मविकास॥ (11)
- आत्म चिंतन मनन स्मरण, नहीं होगा आत्मज्ञान।
सोऽहं भाव भी नहीं होगा, नहीं होगा आत्मध्यान॥ (12)
- इसी से धर्म का होगा लोप, होगा आध्यात्म लोप।
मोक्ष मार्ग का भी होगा लोप, होगा मोक्ष का भी लोप॥ (13)
- अतएव बुरा भाव से, अन्य के बुरा न देखो।

स्व पर हित हेतु स्व पर, गुण दोष भी देखो॥ (14)

यह है मनोविज्ञान नैतिक, शिक्षा व आध्यात्मिक।

इसे ही 'कनक' माने विकास हेतु आध्यात्मिक॥ (15)

सत्य कटु नहीं, सत्य है सच्चिदानंद

(चाल - दोहा)

सत्य न होता कटु है, सत्य है शिवसुंदर।

सत्य सम न कोई होता, सत्य है परमेश्वर॥ (1)

अस्तित्वान् जो होता सत्य, असत्य न सत्तावान्।

जीव पुद्गल धर्म अधर्म, आकाश काल सत्तावान्॥ (2)

सत्य है वस्तुस्वरूप, सत्य है उत्तम धर्म।

सत्य है अणु-महाव्रत, भाषा समितिमय सत्य॥ (3)

हितमित प्रिय वचन, होता है वाचनिक सत्य।

औरन को शीतल करे, आप हूँ शीतल होय॥ (4)

हितकर कटु वचन भी, गुरु के हितकर होय।

रोगहर कटु औषधि भी, रोगी को उपादेय होय॥(5)

लालित्य सुमधुर वचन भी, वेश्या के योग्य न होय।

चोर ठगी लुटेरों के, मीठे वचन भी कटु होय॥ (6)

परम सत्य है वस्तु स्वरूप, सच्चिदानंदमय होय।

उसके वर्णन स्वरूप आगम, वचन भी सत्य होय॥ (7)

लौकिक व्यवहार स्वरूप नीति, नियम कानून होय।

उसके वर्णन स्वरूप, पुस्तक वचन भी सत्य होय॥(8)

आध्यात्मिक न है सत्य बिना, न है लौकिक व्यवहार।

ज्ञान विज्ञान सभ्यता संस्कृति, गणित इतिहास समाचार॥(9)

इसी से विपरीत है असत्य, असत्य है मिथ्या भ्रम।

सच्चिदानंद बनने हेतु, 'कनक' पाले हर धर्म॥(10)

कर्म सिद्धांत, गुणस्थान, व्यवहार मनोविज्ञान, कानून एवं
मैनेजमेंट गुरु से युक्त शोधपूर्ण कविता
“हर क्षेत्र में भाव की मुख्यता क्यों ?

(भाव से ही पाप-दुःख पुण्य-सांसारिक सुख, मोक्ष-आत्मसुख)

(चाल : छोटी-छोटी गैया)

भाव से उत्पन्न होता विचार, विचार से होता है व्यवहार।

खाना पीना व कथन भी होता, कर्म बंध व मोक्ष भी होता।। (1)

वस्तु स्वभावमय होता भाव वर्तमान पर्यायगत भाव।

भाव है अशुभ-शुभ व शुद्ध, पाप पुण्य व सिद्ध स्वभाव।। (2)

अशुभ है पाप जिससे पतन, शुभ है पुण्य जिससे उत्थान।

शुद्ध (है) इससे परे श्रेष्ठ-ज्येष्ठ, जिससे मिलता अनन्त सुख।। (3)

अशुभ भाव है क्रोध मान माया, लोभ मोह काम विकारमय।

इसी से उत्पन्न होते अशुभ कर्म, पंच पाप व फैशन-व्यसन।। (4)

अन्याय अत्याचार व दुराचार, शोषण मिलावट व भ्रष्टाचार।

आक्रमण युद्ध व लूट व हत्या, आतंकवाद चोरी व बलात्कार।। (5)

सनम्र सत्यग्राही विवेक सह/(युक्त) उदार, सहिष्णु संवेदनशील।

मैत्री प्रमोद करुणा साम्य गुण ग्रहण युक्त भाव से भाव ।। (6)

दान दया शुभ के काम, परोपकार व अद्रोह काम।

पंच पाप-सप्त व्यसन त्याग, स्व पर उपकारी वचन-काम।। (7)

शुभ भाव से नहीं/(असंभव) अशुभ काम, अन्याय अत्याचार दुष्टता काम।

शोषण मिलावट व भ्रष्टाचार, ईर्ष्या द्वेष घृणा व व्यभिचार।। (8)

मोह क्षोभ रहित है शुद्ध भाव, सत्य समतामय पावन भाव।

अनंत ज्ञान दर्शन सुख स्वभाव, शुभाशुभ रहित विमुक्त भाव।। (9)

अतएव भाव ही होता प्रधान, इसी से ही होते कार्य उत्पन्न।

शुभ व शुद्ध भाव करणीय, ‘कनकनन्दी’ को यह वरणीय।। (10)

“भाव से भाग्य एवं भावी निर्माण”

(भाव ही पाप-पुण्य एवं मोक्ष)

(कल्पवृक्ष-कामधेनु-चिन्तामणि शाल्मली-वृक्ष-अमृत है भाव)
(चाल : 1. तेरे प्यार का आसरा..., 2. चौपाई..., 3. नरेंद्र छन्द...,)

भाव के विश्व स्वरूप को जानो...अशुभ-शुभ शुद्ध पहचानो।
अशुभ भाव है पाप व दुःख...शुभ शुद्ध है पुण्य व मोक्ष।। ध्रु.।।

भाव से भावी उत्पन्न होता...भाव से भाग्य निर्माण होता।
भाव से स्वर्ग मोक्ष मिलते...जैसा भाव वैसा ही होते।।

अशुभ भाव है नरक तिर्यच...रोग शोक व दुःख संताप।
विष शत्रु व अस्त्र-शस्त्र...कलह विवाद शुद्ध विनाश।। (1)

क्रोध मान माया लोभ व मोह...ईर्ष्या द्वेष घृणा कामुक भाव।
हिंसा झूठ व कुशील परिग्रह...चोरी व्यसन फैशन द्रोह।।
निंदा चुगली अपमान भय...शोषण मिलावट आतंकवाद।
तनाव क्षोभ (व) भ्रष्टाचार आदि...अशुभ भाव है विपरीत बुद्धि।। (2)

शुभ है कामधेनु कल्पवृक्ष...चिन्तामणि व मंत्र व तंत्र।।
दिव्य औषधि व रसायन कल्प...प्रसाद वरदान आशीर्वाद।
दान दया सेवा पर उपकार...सरल सहज व मृदु व्यवहार।
उदार प्रेम व नम्र व्यवहार...अहिंसा सत्य सुशील सदाचार।। (3)

शालीन शान्त मधुर व्यवहार...कोमल स्वभाव संवेदनशील।
भेद-भाव रहित विश्व हितकर...शुभभाव के हैं परिकर।।
शुद्ध भाव है आत्मस्वरूप...सच्चिदानंदमय अध्यात्म रूप।
सत्य शिव सुंदर अमृतमय...अजर अमर व विज्ञान मय।। (4)

तन मन इन्द्रिय रूप रहित...द्रव्य भाव नोकर्म से रहित।
संकल्प विकल्प क्षोभ रहित...स्वतंत्र केवल निज स्वरूप।।
अतएव जीव स्वयं का कर्ता...स्व निर्माता स्वयं का भोक्ता।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र द्वारा...स्वर्ग मोक्ष सुख पाता है सारा।। (5)

(कनकनन्दी' हेतु भाव सहारा)

“अशुभ त्यागो शुभ से शुद्ध बनो”

(चाल : चलो दिलदार चलो...)

चलो दिलदार चलो दया दान सेवा करो,
स्वार्थ लोभ मोह छोड़ो उदार भाव धरो।
साधु साध्वी वृद्धजन पशु पक्षी रोगी जन,
आहार औषधि से यथायोग्य सेवा करो।। (1)

सदाचार नीति पालो शोषण ठगी छोड़ो,
परनिंदा ईर्ष्या छोड़ो विनम्र भाव धरो।
तन मन स्वस्थ करो प्राणायाम योग करो,
भ्रमण नित्य करो प्रमाद दूर करो।। (2)

मद्य मांस द्यूत छोड़ो फैशन दंभ छोड़ो,
सादा जीवन जीओ उच्च विचार करो।
अध्ययन ध्यान करो संकीर्ण भाव छोड़ो,
कृतज्ञ भाव धरो घृणा विद्वेष छोड़ो।। (3)

सत्य तथ्य को जानो गुणग्राही नम्र बनो,
दीर्घदर्शी प्राज्ञ बनो सरल भाव धरो।
सौम्य शान्त गुणी बनो अनुशासी शुचि बनो,
हित मित प्रिय बोलो सत्यग्राही सदा बनो।। (4)

आत्मा परमात्मा जानो आत्मविशुद्धि करो,
संयम भाव धरो परिग्रह भोग छोड़ो।
गुणस्थान पार करो आत्मतत्त्व को वरो,
‘कनक’ नित्य चाहे शुद्ध स्वरूप वरो।। (5)

“सभी खुश/(सुखी) रहे ऐसा भाव उत्तम परन्तु सभी
को सुखी/(खुश) करना असंभव”

(चाल : छोटी-छोटी गैया...,तुम दिल की घड़कन...)

-आ. कनकनन्दी

पवित्र उदारता की भावना धरो, वसुधैव कुटुम्ब का भी विचार करो।

मैत्री प्रमोद माध्यस्थ करुणा धरो, सभी जीव सुखी रहे विचार करो।।(1)
हर जीव के अनुसार नहीं विचार, दुर्जनों के अनुसार नहीं विचार।
अज्ञानी-मोही (पापी) को खुश करने हेतु, आयोग्य भाव-व्यवहार
पतन हेतु।।(2)

तीर्थकर बुद्ध ईसा मसीह आदि, सभी को न सुखी कर पाये भी कभी।
उनके भी शत्रु होते हैं अनेक, सभी के भाव न होते एक व नेक।। (3)

सभी ग्राहक को वेश्या करती खुश, सती न करती सभी जन को खुश।
व्यापारी माल बेचे सभी ग्राहक को, आप्त वचन सही न लगे सभी को।।(4)

अभव्य न कभी बन पाते हैं भव्य, सुदृष्टि न बन पाते दूरान्दूर (भी) भव्य।
रेत से न निकलता कभी भी तेल, नहीं सुधरे रावण कंस हिटलर।। (5)

सुयोग्य शिष्य को उपदेश देना विधेय, अयोग्य अविनयी को न देना विधेय।
आगम अनुभव मनोविज्ञान से (मैं) जाना, आत्म सुधार को 'कनक'
प्रमुख माना।। (6)

आगम एवं प्रायश्चित संबंधी शोधपूर्ण कविता

स्व-शिष्यों को ही आचार्य प्रायश्चित देते हैं व कठोर
वचन बोलते हैं, अन्य जनों को नहीं! ?

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., तुम दिल की घड़कन....)

स्व-शिष्यों को ही प्रायश्चित देते, (तथाहि) बोलते सूरी कठोर वचन।
अन्य से ऐसा न व्यवहार करते, यह है आचार्यों का अलौकिक गुण।
दुष्ट-पापी-अज्ञानी मोही जीवों के, सहन भी करते हैं कटु वचन।
ताड़न मारन प्रताड़न सहते, करते न प्रतिकार न (कहते) कटु वचन।
मिथ्यादृष्टि को भी धर्मवृद्धिरस्तु म्लेच्छादि को भी धर्मलाभ कहते।
नमोऽस्तु कहने वाले श्रावकों को, सद्धर्मवृद्धिरस्तु कहते हैं।।

(सुदृष्टि) चांडालादि को पापक्षयोस्तु कहते, साधु आदि को प्रतिनमोऽस्तु।
केवल संघस्थ साधु-साध्वी को, प्रायश्चित देते कहते कठोर वचन।।
यह विधान है आगम/(प्रायश्चित) में वर्णित, मर्यादा व अनुशासन में गर्भित।

शिष्यों के लिए ही प्रायश्चित्त विधान, विधर्मी हेतु नहीं यह विधान।
विधर्मी (जब) सधर्मी स्वयं बनना चाहे, (तब ही) यह विधान उन्हें होगा
प्रयोग।

अन्यथा (यह) होगा बल प्रयोग सम, मर्यादा रहित अनुशासन विहीन।
धर्म आत्मविश्वास से होता प्रारंभ, विवशतापूर्वक न होता है सद्धर्म।
सिस्साणुगहकुसल होते धम्मार्इरिय, 'कनकनन्दी' हेतु यह होता है मान्य।।

श्लोक- विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।

रविरिवारविन्दस्य कठोराच्च गुरुक्तयः॥ (42) आत्मानुशासन

हिन्दी- कठोर सूर्य किरणों से, यथा विकसित होता कमल।

कठोर भी गुरु कथन से तथा विकसित भव्य कमल।।

श्लोक- लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभा पुरा।

दुर्लभाः कर्तुमद्यते वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥ (43) आत्मानुशासन

हिन्दी- उभयलोक हितकर वक्ता श्रोता सुलभ पूर्वे।

पालन दुर्लभ पूर्व भी, वक्ता-श्रोता दुर्लभ अब।

श्लोक- हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।

विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिण्यसे सुधीः॥ (46) आत्मानुशासन

हिन्दी- हितत्यागकर अहित अपनाकार, दुर्बुद्धि से पाया दुःख अनेक।

विपरीत करो है इसी से, सुख पाओगे बनो हे! सुबुद्धि।।

धर्म व अध्यात्म में समानता व अंतर

(चाल : तुम दिल की घड़कन....)

-आचार्य कनकनन्दी

धर्म है वस्तु स्वभावमय जो, हर द्रव्य में स्थित होता है।

जीव-अजीव व मूर्तिक-अमूर्तिक, हर द्रव्य धर्ममय होता है।।

आध्यात्मिक है जीव का शुद्ध स्वरूप, जो चैतन्य स्वरूप होता है।

ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय व सच्चिदानंद स्वरूप होता है।

हर द्रव्य में स्थित गुणों को 'स्वभाव' 'शक्ति' या 'धर्म' कहते हैं।

'लक्षण' या 'विशेष' रूप में भी, धर्म का कथन भी करते हैं।। (1)

हर द्रव्य में होते सामान्य गुण, 'अस्तित्व' 'वस्तुत्व' व 'द्रव्यत्व'।

‘प्रमेयत्व’ ‘अगुरुलघुत्व’ ‘प्रदेशत्व’ सहित होते हर द्रव्य।
किन्तु जीवों में होते विशेष गुण, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय।
अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह समता शांति क्षमामय।। (2)

आत्मविश्वास अनुभवज्ञान, सदाचरण सहिष्णुता उदारमय।
भेद-विज्ञान युक्त विवेकज्ञान, ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग।
शुद्ध-बुद्ध व परमात्म अवस्था, होती है परम आध्यात्मिकमय।
इसे प्राप्त हेतु जो होती है प्रक्रिया, उसे भी कहते हैं धर्ममय।। (3)

यथा पूजा-पाठ जप आराधना, तीर्थयात्रा वंदना प्रार्थना स्तवन।
दान दया सेवा व परोपकार, वैयावृत्ति, सहयोग-उपवास-मौन।
किन्तु आध्यात्मिक बिना उक्त धर्मकाम से नहीं मिलती है परम मुक्ति।
भले इसी से मिले सांसारिक सुख, भोगोपभोग-ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि।। (4)

इसी से संसार में ही परिभ्रमण होता, चौरासी लाख योनि व चतुर्गति में।
जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक मिलते, परम सुख न मिले संसार में।
मोक्ष प्राप्ति हेतु (अतः) जीवों को आध्यात्मिक, चाहिए जीवों का शुद्ध स्वरूप।
अतएव ‘कनकनन्दी’ आध्यात्मिक, सेवन करे पाने को शुद्ध स्वरूप।। (5)

सन्दर्भ-

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।

धम्म भोग णिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। (275) समयसार

अभव्य जीव नित्य कर्मफल चेतना रूप वस्तु की श्रद्धा करता है किन्तु नित्य ज्ञान चेतना मात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। इसलिये वह कर्मों से छूटने के निमित्त रूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, भोग के निमित्त रूप, शुभ कर्म मात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है : इसलिये वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रूचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोग मात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

निन्दा की आत्मकथा

(निन्दा का स्वरूप व कुफल)

(चाल : आत्मशक्ति....)

- मैं हूँ निन्दा सबसे निराली, सबसे निराला मेरा काम।
सुगुणी में भी दुर्गुण ढूँढना, ईर्ष्या-घृणा व दंभ के काम। (1)
- स्वयं के सुमेरू समान दोष, मुझे न दिखाई देता विशेष।
गुणी के सुमेरू समान गुण, मुझे न दिखाई देता विशेष।। (2)
- यथा आँख स्वयं को न देखती, किन्तु बाहर के दृश्य देखती।
मैं भी स्व-दुर्गुण न देख पाती, दूसरों में दुर्गुण ही मैं देखती।। (3)
- मुझमें ही ईर्ष्या व द्वेष-घृणा, अहंकार (व) नकारात्मक विचार।
जोंक-मक्खी गिद्ध-मच्छर सम, सुगुण में (से) भी दुर्गुण ग्रहण।।(4)
- मद्यपायी व पगला के समान, मेरा स्वभाव होता मिथ्या व भ्रम।
मृगमरीचिका सम मैं कुगुणी को, मानती रहती हूँ गुण महान्।। (5)
- मंथरा शकुनी दुर्योधन सम, मेरा स्वभाव होता है विषम।
गुण-गुणी को भी मैं मानती (हूँ), दुष्ट-दुर्जन व गुण-हीन।।(6)
- ‘दुर्जन परिहर्तव्य’ के अनुसार, सुगुणी-सज्जन मुझे करते परिहार।
तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं, मुझे मानने वाले पापी प्रचुर।। (7)
- ‘पुष्ट माँस भक्षी निन्दक जन’, मेरे कारण पाते मृषानन्द अपार।
देव-शास्त्र गुरु की भी निन्दा से, पापकर पाते हैं दुःख अपार।। (8)
- श्रीपाल भी कुष्ट रोगी बना मुझसे, सात सौ जन भी कुष्टी बने मुझसे।
साठ हजार सनत चक्री के पुत्र, अनेक भव दुःख पाये मेरे निमित्त।। (9)
- वाद-विवाद व कलह वैमनस, होते हैं मेरे कारण ईर्ष्या द्वेष।
लड़ाई-झगड़ा व फूट युद्ध होते, तथापि निन्दक मुझे चाहे विशेष।। (10)
- लोक में प्रसिद्ध है मेरी महिमा, निन्दा पुराण व निन्दा रस रूप में।
मेरे बिना निन्दक रसपायी के, भोजन भी नहीं पचता है पेट में।। (11)

मेरी महिमा को सज्जन-गुणी न मानते, उनका भी मैं न करती हूँ आदर/(परवाह)।
मेरे भक्तों के आश्रय पाकर, सज्जनों का भी मैं करती हूँ निरादर।। (12)
व्यंग (रूप) में 'कनक' मेरा किया वर्णन, मुझसे दूर रहने का वर्णन।
गुण व गुणी प्रशंसा ही करणीय, प्रशंसा गुण व पुण्य वरणीय/(ग्रहणीय)।।(13)

पापी की भी निन्दा न करूँ-प्रायश्चित (दोष दूर) हेतु शिष्यों को दोष बताऊँ

(निन्दा से(1) सत्य अणुव्रत (2) सत्य महाव्रत (3) सत्य धर्म (4)
भाषा समिति (5) वचन गुप्ति में दोष लगता है व निन्दक कषाय व
मिथ्यात्व युक्त भी होते हैं)

(चाल : तुम दिल की...छोटी-छोटी गैया...)

पापी की भी निन्दा मैं कभी न करूँ, पाप को सही भी कभी न मानूँ।
नवकोटि से समर्थन न करूँ, पापी का भी उद्धार सदा मैं चाहूँ।।

हर जीव अनादि से पापी ही होते, पाप से संसार में भ्रमण करते।

पाप से रहित होते अरिहंत सिद्ध, मैं भी अभी तक पापी इसी से सिद्ध।।(1)

पापी की भी निन्दा से मैं न पाप कमाऊँ, निन्दा करके क्यों मैं निन्दक बनूँ।

इसी से तो मैं स्वयं निन्दनीय बनूँगा, हर दृष्टि से मेरा तो पतन ही होगा।।(2)

निन्दा से पापी का पाप दूर न होगा, मेरे प्रति दृषित भी भाव करेगा।

ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-वाद-विवाद होंगे, वैर-विरोध-संक्लेश उत्पन्न होंगे।। (3)

शांति-समता-समन्वय नष्ट भी होंगे, सुधरने के बदले बिगाड़ भी होंगे।

शालीनता-गंभीरता मेरी नष्ट होगी, एकाग्रता संतुष्टि नष्ट भी होगी।। (4)

पृष्ठ-माँस भक्षण का दोष (मुझे) लगेगा, भाषा समिति सत्य धर्म में दोष लगेगा।

गुप्ति, सत्यमहाव्रत में दोष लगेगा, अनेक पाप के कारण (मेरा) पतन होगा।।(5)

देवशास्त्र गुरु की निन्दा मात्र से, मिथ्यात्व कर्म भी बंधे तीव्र से।

अवर्णवाद पाप भी इसे कहते(70) सत्तर कोटाकोटि सागर कर्म/(मोह)

बंधते।।(6)

तीर्थकर गणधर व आचार्य आदि, पर निन्दा से निवृत्त रहे वे सभी।
परनिन्दा से नीच गोत्र बंध भी होता, इह-परलोक में निन्दा का पात्र बनता।।(7)
सुधार हेतु योग्य शिष्य/(भक्त, व्यक्ति) के दोष बताऊँ, उपगूहन स्थितिकरण
वात्सल्य से बताऊँ।
प्रभावना अंग सहित पावन भाव से कहूँ, कार्य कारण सहित निवारण
हेतु बताऊँ।। (8)

आगम पद्धति गुरु के कर्त्तव्य युक्त, प्रायश्चित ग्रंथ मनोविज्ञान सहित।
द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव से संयुक्त, प्रायश्चित देता हूँ चित्त/(दोष) शुद्धि
निमित्त।।(9)

निन्दा से विपरीत प्रायश्चित की विधि, निन्दा से (मैं) पाप तो प्रायश्चित से
पाप विशुद्धि।

ईर्ष्या-द्वेष-घृणादि भाव निन्दा में, परोपकार की भावना प्रायश्चित में।। (10)

मेरी भावना-प्रतिज्ञा व प्रवृत्ति, आगम की आज्ञा व सज्जन प्रवृत्ति।
इसी से मुझे मिलती शांति-संतुष्टि, 'कनकनन्दी' का लक्ष्य आत्मोपलब्धि।।(11)

मैं न निन्द्य बनूँ न निन्दा करूँ

(गुणी व गुण प्रशंसक मैं बनूँ)

(राग : छोटी-छोटी गैया....)

-आचार्य कनकनन्दी

निन्द्य न बनूँगा निन्दा न करूँगा, बनूँगा सुगुणी व गुणग्राही।

मेरा स्वभाव तो सच्चिदानंदमय, निर्मल निर्विकार समतामय।। (1)

सभी के गुण-दोष जानते तीर्थकर, तथापि पापी से भी न करते घृणा।
किसी की भी निन्दा अपमान न करते, नहीं करते द्वेष न करते हत्या।।(2)

हर जीव (के) कल्याण हेतु करते उपदेश, दोष दूर हेतु भी करते (हैं) निर्देश।
पाप व पापी को भी जानते पूर्णतः, रहते वीतरागी व शांत निर्लिप्त।। (3)

ऐसा ही अन्य सभी धार्मिक भी करते, गणधर से लेकर श्रमण तक।
सुदृष्टि से लेकर श्रावक व सज्जन (तक), स्व-भूमिका अनुसार यथायोग्य।।(4)

सम्यग्दृष्टि के होते हैं अनेक गुण, दोष ढाँकना होता है उपगूहन।
दोष दूर करना होता है स्थितिकरण, वात्सल्य होता है प्रभावना अंग॥(5)
इसके बिना कोई न होता है धार्मिक, न धर्म होता है धार्मिक बिना।
गुणों का समूह ही होता है गुणी, गुणों से रहित होता है दुर्गुणी॥ (6)
सद्वृत्तों का होता गुण कथन, मनन-चिन्तन व पूजन वंदन।
आरती-प्रार्थना स्तुति अर्चना, वंदे तद्गुणलब्धये आराधना॥ (7)
इसी से प्रमुदित होता है मन, गुण गुणी में प्रमुदित मन।
जिससे पाप कर्म होता निवारण, सातिशय पुण्य का (भी) होता बंधन॥(8)
दोष कथन में होता मौन धारण, अपरिश्रावी यह गुण महान्।
इसी में समाहित क्षमा सहिष्णु गुण, ईर्ष्या द्वेष घृणा भाव शून्य॥ (9)
गुप्त रहस्यों का नहीं कथन गुण, सत्यव्रत व भाषा समिति गुण।
वचन गुप्ति हित मित प्रिय वचन, अद्वेषकारी व अकलह वचन॥ (10)
निंदा/(दोष कथन) से होता उक्त गुणों का नाश, पृष्ठ माँस भक्षण का
लगता दोष।
गुणनाश से होता धर्म विनाश, मिथ्यात्व और पापों का होता प्रवेश॥ (11)
निंदा (फल) से श्रीपाल बना कुष्ठ रोगी, अपमानित हुई अंजना सुंदरी।
जलकर मरे (भी) साठ सहस्र पापी, होते हैं निन्दित व रोगी॥ (12)
अतएव निन्दा मैं किसी की न करूँ, दोष दूर हेतु ही कथन करूँ।
वात्सल्य से योग्यजन को कहूँ, स्व-परहित 'कनक' मैं चाहूँ॥ (13)
संदर्भ :-

दोषकथक जिनधर्मी नहीं

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे।

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे॥ (490) भ.आ.

भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषों को आचार्यों से कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान् के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरों से कह देता है कि इसने यह

अपराध किया है अर्थात् ऐसा करने वाला आचार्य जिनधर्म से बाह्य होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना

तेणं रहस्सं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो।

अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव।। (491)

उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने ऐसा करके उस साधु का ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्त में यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देने पर वह लज्जित होकर दुःखी होगा अथवा आत्मघात कर लेगा, या क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को ही छोड़ देगा तथा उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं उसके मिथ्यात्व की आराधना का दोष भी होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना क्यों ?

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ।

धिद्धि अपुद्धम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो।। (496)

यदि आचार्य अपने शिष्य को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दोषी करते हैं तो इन अपुष्ट धर्म वाले श्रमणों को धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे।

इच्चवेवमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सधारिस्स।

पुट्टेव अपुट्टे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स।। (497)

जो आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे शिष्य के द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य गुप्त रखने वाला अपरिश्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते।

मैं प्रशंसनीय गुणी बनूँ व गुण-गुणी की प्रशंसा करूँ

(चाल : तुम दिल की..., छोटी-छोटी गया....)

-आचार्य कनकनन्दी

प्रशंसनीय गुणी मैं भी बनूँ, गुण गुणी की प्रशंसा भी करूँ।

वात्सल्य प्रमोद भाव मैं धरूँ, स्वयं को प्रसन्न व अन्य को करूँ।।

धर्म में इसे कहते अनुमोदना, गुणानुराग स्तुति (प्रार्थना) वंदना।

पूजा आरती या अर्चना सम्मान, विनय बहुमान गुण कीर्तन।।
 पूजनीय प्रति होती प्रार्थना, वंदना, पूजा आरती या स्तुति अर्चना।
 अन्य गुणी सत्कर्मी प्रति होती प्रशंसा, सभी सत्कर्म में अनुमोदना।।
श्लोक - स्तुतिः पुण्य गुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्न धीः।

निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम्॥ (सहस्रनाम)
 स्तुति होती है पुण्य गुणों की कीर्ति, स्तोता होता है भव्य प्रसन्न बुद्धि।
 निष्ठितार्थ पूज्य होते हैं स्तुत्य, फल मिलता है नैश्रेयस सुख।।

श्लोक- उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।

भक्तेः सुन्दर रूपं स्तवनात्कीर्तिं स्तपोनिधिषु॥ (25 रत्नक.)
 उच्चगोत्र मिले प्रणाम करने से भोग मिले हैं दान देने से।
 पूजा होती है उपासना से सुंदर रूप भी मिले भक्ति से।।
 कीर्ति मिलती है स्तवन करने से, तीर्थकर प्रकृति बंधे वैयावृत्ति से।
 ये सब फल मिले (हैं) गुरु भक्ति से, गुण प्रशंसा व अनुमोदना से।।
 आहारदाता को जो फल मिलता, प्रशंसाकर्ता को भी (वह) फल मिलता।
 आदिनाथ भगवान् के उदाहरण ज्ञेय, श्रेयांस-भरत के दृष्टान्त ज्ञेय।।
 अन्य गुण गुणी व सत्कर्मकर्ता की, प्रशंसा अनुमोदना करने की।
 होते हैं लाभ स्व-पर अन्य के, प्रोत्साहन तथा प्रेरित होने के।।
 प्रोत्साहनकर्ता भी बनते प्रसन्न, प्रफुल्लित होते तन व मन।
 उन्हें भी मिलता है आदर सम्मान, सेवा सहयोग एकता बहुमान।।
 प्रशंसनीय के भी बड़े (हैं) आत्मविश्वास, नेगेटिव थिंकिंग का होता है नाश।
 प्रेरित व प्रोत्साहित भी वे होते, उत्तम कार्य हेतु प्रयास करते।।
 तनाव भय से भी (वे) निवृत्त होते, सुखद अनुभव से समृद्ध होते।
 कृतज्ञ व सहयोगी भी बनते, वैर-विरोध व ईर्ष्या भी त्यागते।।
 इत्यादि होते हैं अनेक लाभ, इसलिए मैं करता हूँ सही तारीफ।
 आशीर्वाद पुरस्कार भी मैं देता, 'कनकनन्दी' को गुणी/(गुण) ही भाता।।
 रायचन्द व चापलूस नहीं बनूँगा, हतोत्साहित भी नहीं करूँगा।
 ठगना व प्रलोभन नहीं करूँगा, सच्चे-अच्छे प्रामाणिक बनूँगा।।

निन्दा-प्रशंसा के स्वरूप एवं फल

(राग : रघुपति राघव....शायद मेरी (नरेन्द्र)...., जय हनुमान....)

निन्दा व प्रशंसा के स्वरूप को जानों, दोनों से उत्पन्न फल पहचानों।
निन्दा है गुण-द्वेष असूया भाव सह, गुण व गुणी प्रति अनादर सह।।
प्रशंसा इसी से है विपरीत भाव, गुण व गुणी प्रति आदर भाव।
निन्दक में अनेक दुर्गुण भी होते, ईर्ष्या द्वेष घृणा पक्षपात होते।।
जोंक मच्छर सर्प गृहमक्खी सम, गुणी में भी करता दुर्गुण आरोपण।
इसी से बहुविध पाप ही कमाता, नीच गोत्र व असाता को बान्धता।।
निन्दक पृष्ठ माँस भक्षी सम होता, कीर्ति हनन रूपी हिंसा को करता।
निन्दा रसपान में मदमस्त होता, गुणी सज्जनों से बहिष्कृत होता।।
कलह झगड़ा व विद्वेष फैलाता, प्रेम संगठन-शान्ति को तोड़ता।
परभव में नीच गोत्र में जन्मता, तिर्यञ्च नारकी म्लेच्छ में जन्मता।।
निन्दा अपमान रोगों को भोगता, परिवार समाज से तिरस्कृत होता।
इसी से विपरीत प्रशंसक होता, गुण-गुणी प्रति प्रमुदित होता।।
मधुमक्खी हंस गाय सम होता, सुगुण रस को ग्रहण करता।
इसी से प्रशंसक प्रसन्न होता, स्व-पर के गुणों का विकास करता।।
प्रेम संगठन शान्ति को बढ़ाता, कलह झगड़ा विद्वेष घटाता।
उच्च गोत्र व साता वेदनीय बाँधता, देव मानव भोगभूमि में जन्मता।।
सम्मान कीर्ति सुख को भोगता, परिवार समाज में पुरस्कृत होता।
चापलूसी नहीं है यथार्थ प्रशंसा, दोष परिमार्जन नहीं यथार्थ निन्दा।
वेश्या व ठग के वचन न प्रशंसा, प्रायश्चित आलोचना गर्हा न निन्दा
प्रशस्त वचन से होती प्रशंसा, अप्रशस्त वचन से होती है निन्दा।।
प्रार्थना स्तुति पूजादि प्रशंसा, गाली अपशब्द झूठ वचन निन्दा।
वचन से व्यक्तित्व पहचान होता, प्रशंसा से उच्च निन्दा से नीचा।।
उच्च विचार उच्च कथन करणीय, 'कनकनन्दी' द्वारा उच्च ही वरणीय
निन्दा प्रशंसा से परे है आध्यात्मिक, शुभ करणीय अशुभ त्यजनीय।।

आत्म-विश्लेषण व आत्म-सुधार हेतु कविता

स्व-दोष दूर से मैं बनूँ अनंत ज्ञानी व सुखी

(मैं अभी अनंत ज्ञानी व सुखी नहीं हूँ इससे सिद्ध होता है
मैं अभी भी दोषी हूँ)

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत....)

-आचार्य कनकनन्दी

अनंत ज्ञान सुख न मिले अभी तक इससे सिद्ध हुआ (है) मैं दोषी।
दोष दूर कर ज्ञान सुख पाऊँ अन्य हेतु क्यों बनूँ मैं रागी-द्वेषी॥
अनादि काल से ही पर-परिणति से बना हूँ मैं दोषी।
स्व-परिणति से बनूँ निर्दोषी जिससे बनूँ मैं अनंत सुखी॥ (1)

स्व-परिणति हेतु चक्रवर्ती तक त्याग करते हैं राज्य वैभव।
निस्पृह-निराडम्बर-समताधारी बनकर दूर करते स्व-विभाव॥
शांति-कुंथु-अरहनाथ तो तीन-तीन पदवी के धारी थे।
साधु बनकर निस्पृह रूपसे मौन से दोष दूर हेतु पुरुषार्थ किये॥ (2)
पार्श्वनाथ व महावीर स्वामी पर मुनि अवस्था में घोर उपसर्ग हुए।
चौषठ ऋद्धि व चार ज्ञान सहित भी दोषी के प्रति साम्य रहे॥
दोषी प्रति भी नवकोटि से ईर्ष्या-घृणादि न भाव-व्यवहार किये।
समता-शांति-क्षमा-सहिष्णुता से आत्मशुद्धि में लीन रहे॥ (3)

जिससे वे सर्व दोष रहित होकर अनंत ज्ञान सुख प्राप्त किये।
अंत में मोक्ष प्राप्त कर शुद्ध-बुद्ध आनंद अविनाशी हुए।
मैं भी अनुभव कर रहा बालकाल से स्व-दोष दूर से ज्ञान सुख बढ़े।
दोष होने पर ज्ञान सुख घटे इससे मुझे दोष दूर हेतु शिक्षा मिले॥ (4)
मनोविज्ञान व कर्म सिद्धांत आयुर्वेद व शरीर विज्ञान से।
प्रायश्चित्त-ग्रंथ व कानून आदि से ऐसा ही मुझे ज्ञान मिले॥
इसलिए स्व-दोष दूर हेतु मैं बालकाल से ही प्रयत्नरत हूँ।
कोई जाने या न जाने कोई कहे या न कहे स्व-दोष दूर करता हूँ॥ (5)
भावात्मक दोष यथा राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि को विशेष दूर करूँ।

परनिंदा-अपमान-वैर-विरोध आदि दोषों को मैं दूर करूँ।।
 बाह्य तप-त्याग आदि यथायोग्य करूँ जिससे शरीर न रोगी बने।
 अत्यंत पित्त व शारीरिक गर्मी होने से शरीर न रोगी बने।। (6)
 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं' के अनुसार शरीर (की) सुरक्षा करूँ।
 प्रमाद मोहवश शरीर का भी मैं लालन-पालन नहीं करूँ।।
 भावात्मक दोष दूर बिना केवल शरीर दण्ड से न ज्ञान सुख बढ़े।
 सुद्रव्य क्षेत्र काल भाव के आश्रय से 'कनक' स्व-भाव दोष दूर करे।। (7)
 बाह्य धर्म प्रभावना भी मैं ऐसी न करूँ जिससे मेरे दोष बढ़े,
 धन-जन आदि पराश्रित काम न करूँ जिससे मेरे दोष बढ़े।)

स्व-स्वरूप को ही मैं पाऊँ/(ध्याऊँ)

(चाल : तुम दिल की..., सायोनारा...)

मैं ही मुझको देखूँ-सुनूँ...मैं ही मुझको जानूँ...
 मैं ही मुझ पर विश्वास करूँ...मैं ही मुझको पाऊँ...
 मैं ही मुझको उपदेश देऊँ...मैं ही मुझको ध्याऊँ...
 मैं ही मुझ पर नियंत्रण करूँ...मैं ही मुझको ध्याऊँ...
 मैं ही मेरा विश्लेषण करूँ...मैं ही मुझको सुधाऊँ...
 मैं ही मेरा अध्ययन करूँ...शोध-बोध भी करूँ...
 मैं ही मेरी अनुपेक्षा करूँ...मेरी भावना भी मैं करूँ...
 मेरा ही आह्वान मैं ही करूँ...मेरा अवतरण मैं करूँ...
 मेरी स्थापना मुझमें करूँ...सन्निधिकरण मेरा मैं करूँ...
 पूजा-आराधना प्रार्थना करूँ...वंदे तद्गुण लब्धये करूँ...
 विभाव भाव को दूर मैं करूँ...स्वभाव प्राप्ति हेतु ये सब करूँ...
 क्षमा भाव को प्राप्त मैं करूँ...क्रोध कषाय को दूर मैं करूँ...
 मार्दव भाव को प्राप्त मैं करूँ...अष्टमद को दूर मैं करूँ...
 आर्जव भाव को प्राप्त मैं करूँ...मायाचारी को दूर मैं करूँ...
 शुचि भाव को प्राप्त मैं करूँ...लोभ-कषाय को दूर मैं करूँ...
 सत्य स्वरूप को प्राप्त मैं करूँ...असत्य-मोह को दूर मैं करूँ...
 शुद्धात्मा को प्राप्त मैं करूँ...अनात्मा भाव को दूर मैं करूँ...

ऐसी ही मेरी पूजा-प्रार्थना करूँ...सर्वज्ञ आज्ञानुसार मैं करूँ...
बाह्य प्रपंच मैं सर्वथा त्यागूँ...संकल्प-विकल्प संक्लेश त्यागूँ...
स्वयं में ही मैं स्वयं ही रहूँ...कनकनंदी मैं स्व-स्वरूप वरूँ...
चितरी, दिनांक 18.10.2017, अपराह्न 4.58

संदर्भ

मुमुक्षु का कर्तव्य

अविद्याभिदुरं ज्योति, परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥ (49) इष्टो।

That excellent and supreme light of the self is the destroyer of ignorance, the seekers after saluation should always anage themselves in questioning others about it, in ectionately deeking if and in realizing if by actual exprionce!

पूर्वोक्त विषय को आचार्यश्री और भी बताते हैं-मुमुक्षु को सतत उस आनंद स्वरूप, ज्ञानमय, आत्म प्रकाशक अवद्या रूपी अधंकार को भेदन करने वाली परम् चित्ज्योति, विघ्नो को छेदन करने वाला विपुल, इन्द्रादि से पूजनीय चैतन्य प्रकाश के बारे में गुरु आदि से सतत पूछना चाहिए तथा उसकी इच्छा करनी चाहिए एवं उसका ही अनुभव करना चाहिए। आचार्य गुरुदेव ने शिष्य के प्रति परम करुणा से प्लावित होकर शिष्य को आत्म तत्व के बारे में विशेष ज्ञान कराने के लिए व उसमें स्थिर करने के लिए आत्म तत्व का सविस्तार यहाँ वर्णन किया है।

समीक्षा - संसारी जीव अनादि अनंत काल से स्व-आत्म स्वरूप को भूलकर उससे दूर होकर, उससे च्युत होकर पर द्रव्य में ही रचा है, पचा है, अनुभव किया है और अपनाया है। अतएव ऐसे चिर-विस्मरणीय उपेक्षित स्व-आत्म द्रव्य और आत्म स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान, आचरण और उसकी उपलब्धि बहुत ही दुरूह है, क्लिष्ट साध्य है। कुंदकुंद देव ने कहा भी है-

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स॥ (4) समयसार

(सुदा) अनंत बार सुनी गई है (परिचिदा) अनंत बार परिचय में आई है (अणु भूदा) अनंत बार अनुभव में भी आई है। (सव्वस्स वि) सब ही संसारी

जीवों के (काम भोग बंध कहा) काम शब्द से स्पर्शन और रसना, इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण, चक्षु और श्रोत इन्द्रिय के विषय लिए गए हैं उनके बंध या संबंध की कथा अथवा बंध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध एवं उसका फल नर-नरकादि रूप लिया जा सकता है, इस प्रकार काम, भोग और बंध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत-परिचित और अनुभूत है इसलिए दुर्लभ नहीं किन्तु सुलभ है। (एयत्तस्स) परन्तु एकत्व का अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणमन रूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव में आने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उस एकत्व का (अवलंबो) उपलंब संप्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग में ले आना (णवरि) वह केवल (ण सुलभो) सुलभ नहीं है (विहतस्स) कैसे एकत्व का ? रागादि से रहित एकत्व का। क्योंकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय में आया और न अनुभव में ही लाया गया।

उपर्युक्त कारण से आचार्यश्री ने कहा कि हे-मोक्ष सुख के इच्छुक भव्य! तुम सतत मोक्ष स्वरूप स्व-आत्म तत्त्व का चिंतन, मनन, श्रवण, निनिध्यासन, ध्यान करो। ग्रंथकार ने समाधितंत्र में व्यक्त करते हुए कहा है-

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तपरो भवेत्।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

योगी को चाहिए कि वह उस समय तक आत्म-ज्योति का स्वरूप कहे, उसी के संबंध में पूछे, उसी की इच्छा करे, और उसी में लीन होवे जब तक अविद्या (अज्ञान) जन्य स्वभाव दूर होकर विद्यामय न हो जावे।

अष्टावक्र गीता में भी प्रकारान्तर से इस विषय का प्रतिपादन मुनि अष्टावक्र ने निम्न प्रकार से किया है-

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।

प्रज्वालयाज्ञानगहन वीतशोकःसुखीभव॥ (9)

फिर शिष्य प्रश्न करता है कि, आत्मज्ञानरूपी, अमृतपान किस प्रकार करूँ ? तब गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य! मैं एक हूँ अर्थात् मेरे विषे सजाति-विजाति का भेद नहीं और स्वगत भेद भी नहीं है, केवल एक विशुद्ध बोध और स्व-प्रकाश रूप हूँ, निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान रूपी वन को भस्म करके शोक,

मोह, राग, द्वेष, प्रवृत्ति, जन्म, मृत्यु इनके नाश होने पर शोक रहित होकर परमानंद को प्राप्त हो।

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।

आनन्दपरमानन्दः स बोधस्तवं सुखंचर।। (10)

यहाँ शिष्य शंका करता है कि, आत्मज्ञान से अज्ञानरूपी वन के भस्म होने पर भी सत्यरूप संसारी की निवृत्ति न होने के कारण शोक रहित किस प्रकार होऊँगा ? तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य! जिस प्रकार रज्जु के विषे सर्प की प्रतीति होती है और उसका भ्रम प्रकाश होने से निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मा के विषे जगत् की प्रतीति अज्ञान कल्पित है, ज्ञान होने से नष्ट हो जाती है। तू ज्ञानरूप चैतन्य आत्मा है, इस कारण सुखपूर्वक विचर। जिस स्वप्न में किसी पुरुष को सिंह मारता है तो वह बड़ा दुःखी होता है परन्तु निद्रा के दूर होने पर उस कल्पित दुःख का जिस प्रकार नाश हो जाता है उसी प्रकार तू ज्ञान से अज्ञान का नाश करके सुखी हो। फिर शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरो! दुःख रूप जगत् अज्ञान से प्रतीत होता है और ज्ञान से उसका नाश हो जाता है परन्तु सुख किस प्रकार प्राप्त होता है ? तब गुरु समाधान करते हैं -

निरपेक्ष न अनेकांत सापेक्ष है अनेकांत।

स्याद्वाद के भङ्ग भी होते हैं सप्त/(अनंत) भेद।

निर्विकल्प स्व-सम्बेदन होता है भेद रिक्त।

परम शुद्ध सत्य-द्रव्य होते हैं निरपेक्ष।

अनंत परम रहस्य छद्मस्थ न ज्ञानगम्य।

अनंत परम रहस्य सर्वज्ञ ज्ञानगम्य।

परम सत्य/(द्रव्य) भी नास्ति पर-स्वरूप अभावतः।

सर्वथा नास्ति स्वरूप संभव नहीं कदाचित्।

ज्ञान बिना न ज्ञेय, ज्ञेय बिना न ज्ञान।

सभी ही ज्ञानगम्य सो होते हैं सर्वज्ञ।

सर्वथा न सर्वथा सत्य जो होता निरपेक्ष।

सापेक्ष-निरपेक्ष का 'कनक' रचा है काव्य।

गुण प्रशंसा व स्व-दोष स्वीकार से विकास तो गुण निंदा व स्व-दोष छिपाने से विनाश

(चाल : आत्मशक्ति...)

गुण प्रशंसा से गुण वृद्धि होते, स्व-दोष स्वीकार से दोष हानि।
गुण निंदा से गुण नाश होते, स्व-दोष छिपाने से दोष वृद्धि।।
पूजा-प्रार्थना-आरती-वंदना आदि होती है गुण प्रशंसा।
'वंदे तद्गुण लब्धये प्राप्तये' हेतु की जाती है गुण प्रशंसा।। (1)

गुण प्रशंसा से होता प्रमोद भाव 'गुणेषु प्रमोद' सूत्र कहता।
प्रमोद भाव में होती है ईर्ष्या-द्वेष-घृणादि की क्षीणता।।
इससे आत्मिक गुण प्रगट होते जिससे होता पाप क्षय।
शुभ भाव से पुण्य बंध होता जिससे होता है सर्वोदय।। (2)

इससे विपरीत है गुण निंदा जिसमें होते ईर्ष्या- द्वेष-घृणा।
जिससे होता है आत्म मलीन जिससे होता पाप कर्मबंध।।
इससे इह परलोक में मिलते, अनेक दुःख कलह-विसंवाद आदि।
आक्षेप-निंदा-दुर्गुण ग्रहण से लेकर आक्रमण-युद्धादि।।(3)

स्व-दोष स्वीकार है महान् गुण, जिसमें होता हिताहित विवेक।
आत्म विश्लेषण से ले प्रायश्चित ग्रहण व आत्मिक शुद्धिकरण।।
इससे दोष दूर होते जिससे, उत्पन्न होता है शुभ भाव।
पापकर्म होते नष्ट व पुण्य बंध से लेकर स्वर्ग-मोक्ष तक।। (4)

स्व-दोष छिपाने से होते है पूर्वोक्त से विपरीत काम।
मायाचार से ले मिथ्याचार, अहंकार से ले ममकार।।
इससे दोष बढ़ते जाते, जिससे होता अधिक पाप बंध।
जिससे होता आत्म पतन, संसार में होता परिभ्रमण।। (5)

गुण प्रशंसा व स्व-दोष स्वीकार में/(से) होता है शुभ भाव।
गुण निंदा व स्व-दोष छिपाने में(से) होता है अशुभ भाव।।
शुभ भाव ग्रहण व अशुभ भाव त्याग बिन नहीं होता है धर्म आरंभ।
हर क्षेत्र में इन गुणों के बिना, संभव नहीं है विकास आरंभ।।(6)

व्यक्ति से लेकर समाज राष्ट्र के, विकास हेतु उक्त गुण चाहिए।
इस हेतु ही 'कनकनंदी', उक्त गुणों को अनिवार्य मानते।। (7)

तब ये मानव नैतिक होगा!

(चाल : झिलमिल सितारों का...)

तब ये मानव नैतिक होगा, शालीन शान्त जब बनेगा।
अहंकार भाव त्यागकर, हित वचनों को सही सुनेगा।।...
ध्यान से हितकर वचन सुनकर, चिन्तन कर ग्रहण करेगा।
हित-मित-प्रिय वचन बोलेगा, वचन अनुसार कार्य करेगा।।
अहितकर राय कभी न देगा, अनावश्यक बातें(राय) नहीं कहेगा।
वाद-विवाद न ढोंग करेगा, सरल-सहज-मधुर होगा।।...
स्वयं की कमी को स्वयं जानेगा, आत्म-विश्लेषण स्वयं करेगा।
अन्य की कमी से शिक्षा भी लेगा, गुण ग्रहण कर दोष त्यागेगा।।
महान् उदार लक्ष्य धरेगा, लक्ष्यानुसार कार्य करेगा।
आलस्य प्रमाद भय छोड़ेगा, पराजय से भी शिक्षा को लेगा।।...
सकारात्मक सोच रखेगा, आशावादी आत्मविश्वासी होगा।
ईर्ष्या द्वेष घृणा दम्भ त्यागेगा, चोरी ठगबाजी नहीं करेगा।
आदर्शमय स्वयं बनेगा, प्रतिस्पर्द्धा भी नहीं करेगा।
दबाव प्रलोभन से रहित होगा, स्व-पर अहित नहीं करेगा।।...
फैशन-व्यसनों से दूर रहेगा, हिंसा झूठ से परे रहेगा।
उदार सहिष्णु भाव धरेगा, भेदभाव से दूर रहेगा।।
दान दया सेवा सहित होगा, परोपकार का भाव रखेगा।
संवेदनशील जब बनेगा, 'कनक' उसे नैतिक मानेगा।।

“दोष निवृत्ति एवं सत् प्रवृत्ति के कारण”

(पश्चात्ताप एवं उत्तम क्षमा प्रारम्भ होती है स्वयं से)

(आन्तरिक पीड़ा-प्रायश्चित्त आदि से होती है दोषों की निवृत्ति एवं गुणों में प्रवृत्ति)

(चाल : आत्मशक्ति से...., दया कर दान भक्ति....)

प्रसव पीड़ा होती है यथा प्रसव के पहले।

अन्तः (आन्तरिक) पीड़ा होती है तथा (है) दोष दूर के पहले।। ध्रु.।।

जो कोमल स्वभावी व गुणग्राही होते हैं।
स्व-दोषों के कारण वे पश्चात्तापी होते हैं।
जो कठोर क्रूर व हठग्राही होते हैं।
स्व-दोषों के कारण वे पश्चात्ताप न करते हैं।।1।।

यथा रावण कंस व जरासन्ध हिटलर।
पश्चात्ताप के द्वारा न किये वे दोष दूर।।
अशोक वाल्मिकी अंगुलीमाल तथाहि दृढ़प्रहारी।
पश्चात्ताप के द्वारा वे बने स्व-दोष परिहारी।।2।।

ताप ताड़न गलन से स्वर्ण पाषाण होता शुद्ध।
पश्चात्ताप के कारण दोषी हो जाता शुद्ध।
अन्धपाषाण यथा नहीं होता कभी शुद्ध।
तथाहि कठोर क्रूर न होता दोषों से शुद्ध।।3।।

जो दयालु परोपकारी गुणग्राही होते सज्जन।
दोष होने पर वे/(जो) चाहते दोष परिमार्जन।।
स्व-दोष के कारण वे पश्चात्ताप बहुत करते।
पीड़ित होते अन्तःकरण से स्वयं को दोषी मानते।।4।।

आत्मविश्लेषण करते गुरु को दोष बताते।
प्रायश्चित्त करके स्व-दोष को दूर वे करते।।
क्षमादान करते सभी को क्षमा मांगते भी सभी से।
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ से पावन भाव सभी से।।5।।

दोष दूर करके आत्मसंतोष को वे पाते।
पुनः पूर्वोक्त दोष को पुनरावृत्ति न करते।।
धर्म कानून प्रायश्चित्त व मनोविज्ञान में पढ़ा हूँ।
बाल्यकाल से अभी तक मैं अनेक अनुभव किया हूँ।। 6।।

उसी पाप के कारण बहुत वे दुःखी
इसी से विपरीत जो कठोर क्रूर दुर्जन।

स्व-दोष को न मानते न करते परिमार्जन॥
 उसी पाप के कारण बहुत वे दुःखी होते।
 इह परभव में वे अनेक दुःखों को पाते॥ 7॥
 कर्म संस्कार के कारण दोष होना संभव है।
 दोष जो दूर करते वे ही सच्चे मानव हैं।
 दोष जो दूर कर लेते वे बन जाते भगवान्(हैं)।
 न दोष दूर करते वे ही पक्के हैवान (हैं)॥ 8॥
 स्व-दोष दूर करके मानव बनो भगवान्।
 इसी कार्य के हेतु ही 'कनक' सदा प्रयत्नवान्॥9॥

उक्तं च:

जीवे प्रमाद-जनिताःप्रचुराःप्रदोषाः,
 यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
 तस्मात् तदर्थं ममलं मुनि बोधनार्थं,
 वक्ष्ये विचित्रं भव कर्म-विशोधनार्थम्॥1॥
 पापिष्ठेन दुरात्मा जडधिया मायाविना लोभिना,
 रागद्वेष-मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्।
 त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्री पाद मूलेऽधुना,
 निन्दा पूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषु सत्पथे॥ 2॥
 खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
 मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि॥ 3॥
 राग-बन्ध पदोसं च हरिसं दीण भावयं।
 उस्सुगतं भयं सोगं रदि-मरदिं च वोस्सरे॥ 4॥
 हा! दुट्ठ कयं हा! दुट्ठ-चिंतयं भासियं च हा।
 दुट्ठं अंतो-अंतो डज्झमि पच्छत्तावेण वेदंतो॥ 5॥
 दव्वे खेत्ते काले भावे च कदावराह सोहणयं।
 णिंदण-गरहण-जुत्तो मण-वच-कायेण पडिक्कमणं॥ 6॥ (प्रतिक्रमण)

शिक्षक दिवस के उपलक्ष्य में ‘सच्चे गुरुओं के कर्तव्य’

(चाल : जब हनुमान ज्ञान...)

सच्चे गुरु के स्वरूप को जानो...लौकिक तथा आध्यात्मिक जानो।
लौकिक ज्ञान के दाता लौकिक...आध्यात्मिक ज्ञान के दाता अलौकिक।।
माता-पिता भाई-बन्धु परिजन...दादा-दादी वृद्ध गुणी सज्जन।
विद्यालय के शिक्षक गुरुजन...वे होते लौकिक गुरु ज्ञानीजन।।1।।

आध्यात्मिक गुरु होते अलौकिक...आध्यात्मिक सन्त संयमी गुणवन्त।
विषय भोग से विरक्त साधु जन...ज्ञान ध्यान तो रक्त मुनि जन।।
सच्चे गुरु जो होते हैं सज्जन...केवल न देते पुस्तकीय ज्ञान।
रटन्त विद्या ही न देते शिष्यों को...सर्वोदय शिक्षा देते वे छात्रों को।। 2।।

तन-मन-आत्मा को सबल बनाते...तीनों को स्वस्थ आदर्श बनाते।
नैतिक आध्यात्मिक शिक्षा (को) देते...शब्दब्रह्म से परब्रह्म (को) बताते।।
अनुभव द्वारा मार्ग (को) बताते...आत्मानुशासन का पाठ (भी) पढ़ाते।
पवित्र उदार भावना सिखाते...दान दया सेवा (का) प्रयोग बताते।।3।।

शोध-बोध व प्रयोग कराते...धर्म दर्शन गणित सिखाते।
इतिहास तथा पुराण पढ़ाते...महापुरुषों की शिक्षा भी बताते।
महान् लक्ष्य व विचार सिखाते...सभ्यता संस्कृति विनय बताते।
अहिंसा सत्य का पाठ पढ़ाते...सहिष्णु समन्वय धैर्य सिखाते।। 4।।

समीक्षा समन्वय शिक्षा बताते...द्रव्य क्षेत्र काल भाव बताते।
अविरोध चार पुरुषार्थ सिखाते...सरल सहज जीना सिखाते।।
वात्सल्य भाव रखते शिष्यों से...निःस्वार्थ भाव रखते सभी से।
स्वयं आदर्श के मार्ग पे चलते...जिससे शिष्य प्रेरित होते।। 5।।

ब्रह्मा विष्णु महेश सम होते...शिष्यों का निर्माण पोषण करते।।
अज्ञान दुर्गुणों को दूर करते...अतएव गुरु को भगवान् भी कहते।।
गुरु कुम्भार शिष्य कुम्भ होते...कृषक गुरु शिष्य बीज (सम) होते।
शिष्यों की शक्ति (को) जागृत करते...‘कनक’ सच्चे गुरु को चाहते।। 6।।

अयोग्य को मैं क्यों नहीं बोलता ?

(चाल : अच्छा सिला दिया..., छोटी-छोटी गैया...)

अयोग्य को न उपदेश देता...मार्गदर्शन न शिक्षा देता।
अनुशासन प्रायश्चित देता...साम्य सहित क्षमा धारता।। ध्रु.।।
उनके कल्याण के (भी) भाव रखता...सामूहिक उपदेश भी देता।
लेख कविता ग्रंथों में लिखता...शिविर संगोष्ठी में कहता।।
व्यक्तिगत रूप से नहीं कहता...अनुभव से मैं काम लेता।
व्यक्तिगत रूप से कहने से...अच्छा से बुरा अधिक होता।। (1)

अहंकार-घृणा-द्वेष भाव से...संकीर्णता व भेद-भाव से।
अज्ञानता व मोह-स्वार्थ से...सही को न मानते पक्षपात से।।
पंथ-मत-जाति-दुराग्रह से...क्षेत्र व राजनीति पूर्वाग्रह से।
भाषा-परम्परा-रूढ़िवाद से...प्राचीन-आधुनिक हठाग्रह से।। (2)

ग्रामीण-शहरी भेद-भाव से...विज्ञान धर्म के पक्षपात से।
साक्षरी-निरक्षरी भेद-भाव से...सत्य को न मानते स्व-दोषों से।।
सत्य को न जानते न मानते...दुष्टता से तना-तनी करते।
स्व-पर कल्याण नहीं होता...मेरा समय अपव्यय होता।। (3)

रोग शोक संताप जब भोगते...कलह-झगड़ा-विद्वेष होते।
अति देरी से कोई-कोई मानते...अच्छा होता पहले यदि मानते।।
सरल-सहज जो भद्र होता...उपर्युक्त दोषों से रिक्त होता।
अल्पज्ञ होने पर भी उन्हें बताता...'कनक' को सनम सत्य भाता।। (4)

दोष स्वीकार करने वालों के प्रति मेरा उन्नत भाव

(दोष स्वीकारने का बहु आयामी लाभ)

(चाल : नगरी-नगरी..., तुम दिल की धड़कन...)

मुझे अच्छा लगता आनन्द आता, जब कोई स्व-दोषों को मानता।
आदर बढ़ता सम्मान बढ़ता, वात्सल्य व अनुग्रह बढ़ता।। ध्रु.।।
उसे पढ़ाने का भाव होता, कृत दोष को छोटा मानता।
सत्यग्राही व विनम्र (भी) मानता, विकास करने योग्य मानता।।

गुणग्राही व ज्ञानी मानता, चारित्र सम्पन्न शांत मानता।

अमायावी व संयमी मानता, हिताहित विवेकी सहज/(पावन) मानता।। (1)

इसे ही कहते हैं प्रायश्चित्त, शुद्ध करने का स्व-पर चित्त।

आत्मविश्लेषण व आत्मविकास, दोष/(पाप) दूर के उपाय विशेष।।

अंतरंग तप है यह विशेष, मानसिक रोगों को करता कृष/(नाश, विशेष)।

जिससे विनशे शरीर रोग, तन-मन-आत्मा होते निरोग।। (2)

जिससे ज्ञान विकास होता, आत्मविश्वास सुदृढ़ होता।

संयम तप का होता विकास, सम्यक्चारित्र होता विकास।।

धार्मिक ग्रंथों में यह मैं पढ़ा, प्रायश्चित्त न्याय नीति में पढ़ा।

चिकित्सा मनोविज्ञान में पाया, 'कनकनन्दी' भी ऐसा ही पाया।। (3)

अपाय विचय धर्मध्यान - भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की भावना के बल से अपने अथवा अन्य जीवों के कर्मों के नाश का विचार करना अर्थात् वर्तमान में इन प्राप्त हुए दुःखों से छुटकारा कब मिलेगा इस प्रकार जो विचार करता है उसको अपाय विचय नामक धर्मध्यान जानना चाहिए।

विपाक विचय धर्मध्यान- शुद्ध निश्चयनय से यह जीव अशुभ कर्मों के उदय से रहित है तो भी अनादि कर्मों के बंध के वश से पाप के उदय से नरकादि गतियों में दुःख रूप विपाक रूप फल का अनुभव करता है और पुण्योदय से देवादि गतियों में सुख रूप विपाक को भोगता है। उस प्रकार कर्मफल-विपाक का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

संस्थान विचय धर्मध्यान - जो लोकानुप्रेक्षा का चिंतन करता है वह संस्थान विचय नामक धर्मध्यान है। इस प्रकार चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

संपूर्ण विकास हेतु स्व-दोष जानूँ-मानूँ-त्यागूँ

(स्व-दोष जानना-मानना-त्यागना ही मोक्ष)

(चाल : मन रे! तु काहे न धीर धरे..., सायोनारा...)

जिया रे! तू स्व-दोषों को जानोऽऽ

दोषों को मानोऽऽ गर्हा/(निंदा) भी करोऽऽ दोष दूर हेतु प्रयत्न करोऽऽ...(ध्रुव)

दोष जानने से गुण ज्ञात होंगेऽऽ जिससे होगी श्रद्धा-प्रज्ञाऽऽ

इससे ही चर्या सम्यक् होगीऽऽ जिससे होंगे दोष दूरऽऽ
हित प्राप्ति अहित परिहारऽऽ जिया...(1)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रऽऽ निंदा-गर्हा व प्रतिक्रमण/(प्रत्याख्यान)ऽऽ
आत्म विश्लेषण व आत्मशोधनऽऽ अत्रत त्यागव्रत ग्रहणऽऽ
दोष त्याग हेतु ही सर्व विधानऽऽ जिया...(2)

द्वादश अनुप्रेक्षा व दशधा धर्मऽऽ तप-त्याग ध्यान-अध्ययनऽऽ
संवर-निर्जरा-मोक्ष समाहितऽऽ दोष ज्ञान व दोष परिमार्जनऽऽ
संपूर्ण विकास इसमें गर्भितऽऽ सर्व विकास इससे संपन्नऽऽ जिया...(3)

अज्ञान मोहवश अनादि काल सेऽऽ ये न हुए तुझसे संपन्नऽऽ
जिससे हुए कर्म आस्रव-बंधऽऽ जिससे हो रहा संसार भ्रमणऽऽ
इससे करो विपरीत काम/(आचरण)ऽऽ जिया...(4)

अन्यथा सभी बाह्य आचरणऽऽ होंगे व्यर्थ व दुःखदायकऽऽ
आत्मविशुद्धि से सिद्धि मिलतीऽऽ जिससे मिले सुख अनंतऽऽ
'कनक' बनो शुद्ध-बुद्ध आनंदऽऽ जिया...(5)

समालोचना व्यक्तित्व विकास के कारण, न कि आलोचना

(चाल : 1. शत शत वन्दन 2. सायोनारा, 3 छोटी छोटी गैया...) आचार्य कनकनन्दी
समालोचना विधेय न कि आलोचना, भावना सुधार की हो, न निंदा भावना।
कटु-औषधि हो न कि मारक विष, समीक्षा हो न निंदा ईर्ष्या व द्वेष।।
(स्थायी)

सुयोग्य दयालु माता गुरु डॉक्टर, यथा करते हैं सुयोग्य व्यवहार।
तथाहि समालोचना होना विधेय, चोर ठगी समान नहीं विधेय।। (1)

हित मित प्रिय वचन श्रेय, अहित मधुर भी नहीं है श्रेय।
हितकारी कठोर वचन श्रेय, शल्य चिकित्सा सम न अहित श्रेय।। (2)

समालोचना हो योग्य मात्रा में, औषधि सम न हीनाधिक में।
सरल/(मधुर) सहज व दृढ़/(धैर्य) शान्ति रहित]

करुणा भाव से हो न क्रूरता युक्त।। (3)

उपगूहण स्थितिकरण सह वात्सल्य, प्रभावना सह हो न दुष्ट विचार।
गुप्त रोगों का होता यथोपचार, समालोचना तथा दोषोपचार।। (4)

पृष्ठमाँस भक्षण होती है निंदा, पाप-ताप-संताप करे है निंदा।
स्व-पर-अहितकारी होती है निंदा, इहपरलोक अहितकारी है निंदा।। (5)

प्रेम(प्रशंसा) प्रेरणा से होता विकास, ईर्ष्या घृणा निंदा से होता विद्वेष।
अंधेरे से न होता अंधेरा विनाश, साधन-साध्य शुचि से होता विकास।।(6)

न निंदक बनो, न निंदक संगति करो, सकारात्मक व्यवहार सदा ही करो।
स्वपर उपकारी सदा ही बनो, आशीष “कनक” का विकास करो।। (7)

प्रकृष्ट सिद्धि-प्रसिद्धि-सिद्धि स्वात्मोपलब्धि अर्थात् स्व-आत्मा की पूर्ण
उपलब्धि ही प्रसिद्धि/सिद्धि/मोक्ष है। इस परमोत्कर्ष अवस्था/(पूर्ण) अवस्था में
आध्यात्मिक अनंत गुणों के साथ-साथ ईश्वरत्व/प्रभुत्व आदि गुण शुद्ध रूप में सहज
रूप में, स्वभाव रूप में प्रगट होते हैं और उसका अनुभव शुद्ध जीव करते हैं।

“स्वगुण-दोष परिज्ञान तब होते”

(चाल : है अपना दिल...)

तब ही स्व-गुण दोष परिज्ञान होते, भाव व लक्ष्य जब महान् होते...

उदार-पावन गुणग्राही होते, प्रगतिशील पारदर्शी होते...

हिताहित विवेक जब प्रकट होते, हित ग्रहण अहित त्याग भाव होते...

राग-द्वेष मोह पक्षपात न होते, ईर्ष्या घृणा तृष्णा द्वंद्व न होते...

दबाव प्रलोभन व भय न होते, संकल्प विकल्प संक्लेश न होते...

परनिंदा अपमानादि के भाव न होते, मैत्री प्रमोद कारुण्य साम्य भाव होते...

प्रसन्नचित्त शांत व सौम्य होते, परनिंदा-समीक्षा से शिक्षा गहते...

परछिद्रान्वेषण व मात्सर्य न करते, गुण ग्रहण व दोष दूर से प्रसन्न होते...

आत्म संयम दृढ़ता व धैर्य होते, सकारात्मक रचनात्मक भाव होते...

संवेदनशील आध्यात्मिक भाव होते, तुलनात्मक अनुभव सहचारी ज्ञान होते...

हितोपदेशी को सही जानते-मानते, उनके प्रति कृतज्ञ-बहुमान होते...

हठाग्रह-पूर्वाग्रह-मूढ़ता त्यागते, गंभीरता से स्व-परीक्षण करते...

आत्म विश्लेषण अनुसंधान होते, गुण से लाभ दोष से हानि समझते...

आत्मविश्वास पूर्ण यथार्थ ज्ञान होते, सरल-सहज भाव-व्यवहार होते...
 स्व-पर हितकारी भाव-व्यवहार होते, अनेकांतात्मक लचीला भाव होते...
 सनम्र सत्यग्राही दृढ़ संकल्पी होते, दीन-हीन-अहंकार भाव न होते...
 आदर्श व्यक्ति से प्रायोगिक सीखते, स्व-गुण दोषों को बार-बार लिखते...
 गहन-सूक्ष्म व्यापक सोचते, आदर्श पुरुषों के चारित्र पढ़ते...
 पाप कर्म जब शिथिल भी होते, पुण्य कर्म जब प्रबल भी होते...
 आध्यात्मिक गुण जब प्रगट होते, 'कनक' स्व-गुण-दोष परिज्ञान होते...
 बाल्यकाल से जानूँ हूँ मैं स्वगुण-दोष, स्वगुण बढ़ाऊँ व दूर करूँ स्वदोष...
 अन्य में ऐसे गुण कम मिलते, इससे 'कनकनदी' शिक्षा भी लेते...
 स्वगुण वृद्धि व दोष दूर से, आनंद अनुभव होता स्वयं में/(से)
 इसके बिना विकास न होता, आनंद अनुभव भी नहीं होता...
 स्वदोष दूर से मुझे आनंद आता, कोई दोष माने तो आनंद आता...
 स्वदोष दूर करना ही तो धर्म होता, पूर्ण गुणी होना तो धर्म होता...

स्व-दोष दूर करने के विविध उपाय (अंतरंग तप)

(चाल : आत्मशक्ति...)

- आचार्य कनकनदी

सुनो हे! शिष्य तुम्हें बताऊँ स्व-दोष दूर हेतु नाना उपाय।

जिससे आत्मिक विशुद्धि द्वारा, होगा तुम्हारे सर्वोदय।।

रोगी यथा स्व-रोग दूर हेतु व स्वस्थ-सबल बनने हेतु।

सुयोग्य वैद्य से चिकित्सा कराता तथाहि तुम्हें भी स्व-विकास हेतु। (1)

आगम अनुभव गुरु के द्वारा, जब ज्ञात होते हैं स्व-दोष गुण।

आत्मविश्लेषण व आत्मलोचना, (आत्मनिंदा) से योग्य गुरु से करो प्रायश्चित
 ग्रहण।।

क्रोध-मान-माया-लोभ से रहित, गुरु से करो स्व-दोष निवेदन।

विनम्रसत्यग्राही होकर प्रायश्चित लेकर करो स्व-दोष परिहरण।। (2)

स्व-दोष दूर करना ही है तप, जिससे होती है पापकर्म निर्जरा।

जिस से होती है आत्म-विशुद्धि आध्यात्मिक विकास होते सारा।।

बहिरंग तप तो बाह्य साधन जिससे साधने योग्य अंतरंग तप।

अंतरंग तप की उपलब्धि बिना, कार्यकारी नहीं बहिरंग तप।। (3)

अंतरंग तप में प्रथम भेद, होता है प्रायश्चित्त तप।

इसके बिना आगे के तप नहीं होते हैं कभी संभव।।

दोष सहित न विनय होता, तथाहि वैयावृत्त-स्वाध्याय।

व्युत्सर्ग तथा ध्यान न होते यथा वातादि त्रिदोष सह स्वास्थ्य।। (4)

तथाहि दोष दूर हेतु करो विनय, विनय से होता है ज्ञान लाभ।

ज्ञानलाभ हेतु स्व का अध्ययन करो, जिससे करो स्व-दोष दूर।

ज्ञान सहित व विनय युक्त, करणीय तुम्हें वैयावृत्य तप।

इससे अहंकार व प्रमाद दूर होंगे, जिससे तुम में होगा हल्कापन।। (5)

इससे होगा व्युत्सर्ग तप, अहंकार-ममकार त्याग से।

इससे होगा तेरा मन-स्थिर, जिससे होगा ध्यान उत्तम।।

ध्यान से होते हैं दोष/(पाप, कर्म) नाश, ये है सर्वोत्तम उपाय।

अन्य भी हैं अनेक उपाय, अन्तरंग तप ही प्रमुख उपाय।।(6)

मनन-चिंतन व संयम धैर्य, दोष दूर हेतु अनिवार्य उपाय।

सभी उपायों को स्वीकार करो, 'सूरी कनक' का तुम्हें आशीष।। (7)

“अनन्त विषमता में भी शान्ति समता प्राप्ति के उपाय”

(चाल : 1. आत्म शक्ति से ओतप्रोत...2. शायद मेरी शादी...3.चाँदी की दीवार)

अनन्त होते हैं जीव विश्व में, अनन्त होते हैं कर्म।

अनन्त होते हैं भाव-व्यवहार, अनन्त भी है संसार।। ध्रु.।।

भिन्न है सब तन मन से (भी), भिन्न है आहार विहार से।

रुचि लक्ष्य व आदत भिन्न, भाषा व रूप रंग से।। (1)

विषमतामय यह संसार है, सबका नहीं सम विचार/(व्यवहार)

संभव भी नहीं है समव्यवहार, संभव है स्व-सम विचार।।

विषमतामय भाव-व्यवहार से, होता है संक्लेश-विद्वेष।

समतामय भाव व्यवहार से, मिटता सब-संक्लेश-विद्वेष।। (2)

संक्लेश-विद्वेष से ही होते हैं, अनेक अन्याय अत्याचार।

वाद-विवाद व कलह द्वन्द्व, युद्ध-महायुद्ध व संहार।।
इनसे होते हैं कर्मबन्ध, उभयलोक में दुःख दातार।
इनसे बचने का उपाय है, समताभाव व व्यवहार।। (3)

हर जीव हर परिस्थिति में, न हो विषम भाव व्यवहार।
किसी से न हो राग व द्वेष, किसका भी न करे तिरस्कार।।
राग से होता है आकर्षण, होता द्वेष से है विकर्षण।
शान्ति समता से रहित है, आकर्षण तथाहि विकर्षण।। (4)

यथा उच्च-नीच रक्तचाप, दोनों ही रोग-अवस्था।
तथा ही राग व द्वेष भाव, विषम अशान्त अवस्था।।
राग सीता प्रति रावण का, बना है विनाश कारण।
द्वेष पाण्डव सह कौरव का, तथा ही विनाश कारण।। (5)

जहाँ राग वहाँ द्वेष भी है, दोनों ध्रुव एक साथ।
दोनों ध्रुवों से सहित ही, आकर्षण-विकर्षण साथ/(युक्त)।।
दधि मंथनी की यथा रस्सी, दोनों छोर युक्त होय।
विषम अशान्ति के कारण भी, राग-द्वेष दोनों होय।। (6)

राग-आकर्षण रूपी बन्ध है, विकर्षण बन्ध है द्वेष।
स्निग्धरूक्षत्वात् बन्ध है, न जघन्यगुणानाम् बन्ध।।
राग उष्ण घी सम होता है, द्वेष है तेजाब समान।
दोनों जब मिले शरीर में, ज्वलन होता है समान।। (7)

राग से भी होती है चिन्ता, द्वेष से तथा ही जानो।
राग या द्वेष दोनों से भी, अशान्ति विषमता मानो।।
साम्य है सुधा आत्मा के लिए, विष है राग-द्वेष-दोनों।
शान्ति इच्छुक अध्यात्म जन, त्यजते राग-द्वेष दोनों।। (8)

इस हेतु ही त्यजते साधु, धन-जन-मान-अपमान।
ख्याति-पूजा-लाभ सहित सर्व, मोह ममत्व व प्रियजन।।
अन्तरंग-बहिरंग त्याग से, उत्पन्न होता है साम्यरस।
इसी हेतु ही “कनकनन्दी” त्यागा है राग-द्वेष रस।। (9)

विषयानुक्रमणिका

क्र. विषय

पृ.स.

आत्मशुद्धि हेतु कल्याणालोचना(प्रस्तावना)

कल्याणालोचना गीताञ्जली

- (1) मंगलाचरण
- (2) अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व
- (3) अनन्त बार दुःख प्राप्ति के कारण
- (4) अनन्त बार मरण
- (5) निगोद में एक अन्तर्मुहूर्त में जन्म-मरण
- (6) विकलेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तों के क्षुद्र भव
- (7) जीवों के दुःख प्राप्ति के कारण
- (8) जीव एकाकी दुःख सहन करते
- (9) आयु क्षय होने पर कोई भी आयु देने में असमर्थ
- (10) जैनधर्म प्राप्त कर सभी जीवों को क्षमाकर
- (11) 363 प्रकार के मिथ्या सेवन का प्रायश्चित्त
- (12) सप्त व्यसन सेवन का प्रायश्चित्त
- (13) अणुव्रतमहाव्रतादि की विराधना का प्रायश्चित्त
- (14) चौरासी लाख योनियों के जीव प्रति कृत अपराध का प्रायश्चित्त
- (15) पंच स्थावर व विकलत्रय जीव प्रति कृत अपराध का प्रायश्चित्त
- (16) 70 अतिचार, सामायिक, क्षमाभाव में हुए दोषों का प्रायश्चित्त
- (17) फल, पुष्प, छाल, लता, बिना छने जल प्रयोग का प्रायश्चित्त
- (18) शीलादि के पालनादि न किया न भावना की उसका प्रायश्चित्त
- (19) सचित्त व रात्रि भोजन सम्बन्धी प्रायश्चित्त
- (20) जिन पूजा-पात्र दान-ईर्यापथ गमन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण
- (21) ब्रह्मचर्य-आरम्भ-परिग्रह सम्बन्धी प्रायश्चित्त
- (22) 170 कर्मभूमि के त्रिकालवर्ती जिन आदि की विराधना का प्रायश्चित्त

- (23) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त
- (24) पाँच सुज्ञान में लगे दोषों के प्रायश्चित्त
- (25) जिनवाणी में लगे दोषों के प्रायश्चित्त
- (26) 5 महाव्रत व 18000 शील युक्त भगवान् सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त
- (27) गणधर सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त
- (28) चतुर्विध संघ की विराधना के प्रायश्चित्त
- (29) चतुर्गति के जीवों की विराधना के प्रायश्चित्त
- (30) कषायकृत दोषों के प्रायश्चित्त
- (31) पर वस्त्र पर महिला-प्रमादकृत दोषों के प्रायश्चित्त
- (32) एकमेव परमशरण सूत्र-I (परम एकमेवशरण शुद्ध परमात्मा)
- (33) एकमेव परमशरण सूत्र-II
- (34) एकमेव परमशरण सूत्र-III
- (35) एकमेव परमशरण सूत्र-IV
- (36) एकमेव परमशरण सूत्र-V
- (37) एकमेव परमशरण सूत्र-VI
- (38) एकमेव परमशरण सूत्र-VII
- (39) एकमेव परमशरण सूत्र-VIII
- (40) एकमेव परमशरण सूत्र-IX
- (41) एकमेव परमशरण सूत्र-X
- (42) एकमेव परमशरण सूत्र-XI
- (43) एकमेव परमशरण सूत्र-XII
- (44) एकाकी स्व-आत्मा ही स्वजन है अन्य कोई नहीं
- (45) आत्म उपलब्धि हेतु
- (46) अनन्त गत काल के दुःख के कारण
- (47) वर्तमान जिनधर्म प्राप्ति से सिद्धि प्राप्ति

कल्याणालोचना गीताञ्जली

अथ कल्याणालोचना

मंगलाचरण

गाथा- परमप्यई वड्ढमदिं परमेद्वीणं करोमि णवकारं।

सगपर सिद्धि णिमित्तं कल्लणालोयणा वोच्छे॥ (1) कल्या.

पद्य- परमात्मा वर्द्धमान परमेष्ठी को मैं करूँ नमस्कार।

स्व-पर सिद्धि निमित्त कल्याण आलोचना को मैं कहूँ॥

समीक्षा व शिक्षा-

परमात्मा ही होते वर्द्धमान अथवा वर्द्धमान होते अन्तिम तीर्थकर।

परमात्मा व वर्द्धमान भी परमेष्ठी परमपद में होने से अवस्थित॥

ऐसे परमपद प्राप्ति हेतु जो करते हैं आत्मा की साधना।

वे भी होते परमेष्ठी यथा आचार्य उपाध्याय व साधु॥

इससे मिलती है शिक्षा परमात्मा अवस्था ही यथार्थ से वर्द्धमान।

सांसारिक कोई भी अवस्था आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं वर्द्धमान॥

चतुर्गति के जीव भले वे हो राजा-महाराजा से इन्द्र चक्रवर्ती।

आध्यात्मिक वर्द्धमान बिना वे न होते हैं परमात्मा से परमेष्ठी॥

ऐसे परमपद प्राप्ति हेतु आचार्य देव कर रहे उन्हें नमस्कार।

स्व-पर सिद्धि निमित्त कर रहे हैं कल्याणालोचना वर्णन॥

महान् पुरुष हर भाव व काम परमात्मा बनने हेतु ही करते।

स्व के साथ ही अन्य जीव हेतु कल्याण आलोचना करते॥

अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व

गाथा:- रे जीवा-णंत-भवे संसारे संसरंत बहुवारं।

पत्तो ण बोहिलाहो मिच्छत्तविजंभपयडीहिं॥ (2) कल्या.

पद्य:- रे! जीव! अनन्त भव संसार में भ्रमण किया अनन्त बारा।

प्राप्त न किया बोधिलाभ मिथ्यात्व प्रकृति के प्रभाव से॥

समीक्षा व शिक्षा :-

तत्त्वार्थ श्रद्धान या देवशास्त्र गुरु द्वारा आत्म श्रद्धान के बिना।
रे! जीव रहा तू मिथ्यात्वी जिससे तू न किया बोधि लाभ।।
इससे संसार में भ्रमण किया तू पंचपरिवर्तन अनन्तबार।
इससे शिक्षा मिले हमें आत्म श्रद्धान से करणीय ही बोधि लाभ।।
बोधिलाभ से मोक्ष प्राप्त नाश करणीय है संसार भ्रमण।

**आत्मन्! स्व शुद्धात्मा श्रद्धान बिना सभी
धर्म संसार वर्द्धक**

**(स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान बिना व्रत-नियम-तप-त्याग-कष्ट
सहन आदि संसार बीज संसार वर्द्धक)**

(चाल :- मन रे! तू काहे...सायोनारा...)

आचार्य कनकनन्दी

आत्मन्! तू स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान करऽऽऽ

इससे ही होता है सम्यग्ज्ञान...जिससे होता सम्यक् आचरणऽऽऽ (ध्रुव)
तीनों मय ही होता शुद्धात्मा स्वरूप...यह ही है मोक्षमार्ग रूपऽऽऽ
इसकी पूर्णता ही है मोक्षस्वरूप...जो आत्मा का परम रूपऽऽऽ
यह ही धर्म का सार रूपऽऽऽ आत्मन्!(1)

इस हेतु ही करो देव-शास्त्र-गुरु श्रद्धा...तत्त्वार्थ श्रद्धान भी इस हेतुऽऽ
निश्चय-व्यवहार धर्म-पालन भी...श्रावक व श्रमणधर्म पालन भीऽऽऽ
तप-त्याग व व्रत नियम भी ऽऽऽ आत्मन्! (2)

आत्मश्रद्धान बिना सभी ही व्यर्थ...सभी ही संसार वर्द्धक कामऽऽऽ
कठोर तप या परीषह जयादि...सभी ही धर्म-कर्म भी भव बीजऽऽऽ
विपरीत गति से लक्ष्य दूर समऽऽऽ

मिथ्या श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या-संहार-मार्गऽऽऽ आत्मन्!(3)

णवि जाणइ जिणसिद्धसरुवं तिविहेण तह णियप्पाणं।

जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे।। (124) (र.सा.)

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तय ण जाणइ सो।

जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्धिट्ठं।। (125)

जं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।

सम्मविसोहि विहीणं णाणं तवं जाण भवबीयं।।(126)

वय गुण सील परिसहजयं च चरियं च तवं सडावसयं।

ज्झाणझयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं।। (127)

खाई पूया लाहं सक्काराईं किमिच्छसे जोई।

इच्छइ जइ परलोयं तेहिं किं तव परलोयं।। (128)

कम्माइ विहाव सहावगुणं जो भाविऊण भावेण।

णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं।। (129)

बिना बीज यथा न होता है वृक्ष...तथाहि स्व-श्रद्धा बिना न धर्मऽऽऽ

आत्मा बिन यथा शरीर है शव...तथाहि स्व-श्रद्धा बिना न मोक्षऽऽऽ

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गऽऽऽ

सम्यग्दर्शन से प्रारंभ मोक्षमार्गऽऽऽ आत्मन्(4)

स्व का श्रद्धान करो जीव द्रव्यमय...निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-आनन्दऽऽऽ

कर्म बन्ध से बना तू अशुद्ध जीव...द्रव्य-भाव-नोकर्म से सम्बन्धऽऽऽ

कर्मक्षय से बनो शुद्ध-बुद्धऽऽऽ आत्मन्(5)

कर्मक्षय हेतु ही करो साधना...समता-शान्ति-निस्पृहता से ऽऽऽ

ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व त्यागो...संकल्प-विकल्प-संक्लेश आदिऽऽऽ

भोगाकांक्षा निदान से रहितऽऽऽ आत्मन्(6)

आत्मविशुद्धि हेतु ही ध्यान-अध्ययन...तप-त्याग व धर्म प्रभावनाऽऽऽ

अध्यापन-प्रवचन-लेखन-चिन्तन...सभी में ही करो आत्मा की आराधनाऽऽऽ

‘कनक’ स्व में ही स्व की साधनाऽऽऽ

तू बनो शुद्ध-बुद्ध परमात्माऽऽऽ आत्मन्(7)

सम्पूर्ण मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरूप का अयथार्थ श्रद्धान एवं आत्म स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्म बंध

का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिये मूल हेतु है।

मिथ्यात्व में बंध :-

“मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय योगः बंधहेतवः”॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु है क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। “त एते पञ्च बंध हेतवः, समस्ता व्यस्ताञ्च भवन्ति। तद्यथा मिथ्यादृष्टेः पञ्चपि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति” ये पाँचों स्वतंत्र बंध के हेतु हैं और समुदाय से भी बंध के कारण हैं। जैसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के पाँचों बंध के लिये कारण हैं। सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन स्थान में मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि 16 प्रकृतियों का बंध होता है। उसके आगे बंध व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिच्छत हुंड संढाऽसंपत्तेयक्ख थावरादावं।

सुहुमतियं वियल्लिंदिय णिरयदु णिरयाउगं मिच्छे॥ (95)॥ (कर्मकाण्ड)

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु इन 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णांति बंधकत्तारो।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायं जोगा य बोद्धव्वा॥ (10)॥ (समयसार)

सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्ता हैं। अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव होता है उसके माध्यम से पुनः नवीन कर्म बंध होता है। इसी प्रकार अविरति आदि से जानना चाहिये। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिये कारण नहीं है ? अवश्य कारण है किन्तु प्रमाद को कषाय में अन्तर्भूत कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में “जोगा पर्यडि पदेसा द्विदि कसायदो होदि” इसमें कषाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया है। तो क्या मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है ? अवश्य है, किन्तु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अन्तर्भूत

कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत-दीपक है, इसलिये उसके पहले पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये हैं।

सूत्र :-

सव्वतिव्वाणुभागा मिच्छातस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा।

अणंताणुबंधीणमण्णदा उक्कस्साणुभागुदीरणा तुल्ला अणंत गुण हीणा।।

(जय ध.पु.11)

सबसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है अर्थात् सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है। उससे अनंतानुबंधियों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंतगुणी हीन है।

शंका : मिथ्यात्व की उत्कृष्ट उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है ?

समाधान : “सव्वदव्व विसय सद्वहण गुण पडि बंधित्तादो।”

अर्थ : सर्व द्रव्य, विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

(ज.ध.पु.11)

मिच्छत्तपच्चयो खलु बन्धो अवसाम यस्स बोधव्वो।

उवसंते सासणे तेण परं होदि भयणिज्जो।। (धवलः)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है, अन्य स्थान भी भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि 40 कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिवाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) 70 कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति प्रमाण दर्शनमोहनीय को कैसे बंध कर सकता है। यदि केवल कषाय को ही स्थिति-बंध का कारण मानेंगे तो दर्शनमोहनीय का स्थितिबंध मात्र कषाय के द्वारा होने पर 70 कोड़ा कोड़ी सागर का और मिथ्यात्व में 16 प्रकृतियों का जो बंध होता है वह नहीं हो सकता है। अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनंतसंसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माय, लोभ कषाय आत्मनः, सम्यक्त्व

परिणामं कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्त-मिथ्यात्वं, अनंतभव संस्कार कालं वा अनुबन्धन्ति सुघटयन्तीत्यनन्तानुबन्धिन इति॥ (गो. सार. टीका गाथा 283)

अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती है क्योंकि अनंतसंसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत कहते हैं। इस अनंतभव के संस्कार काल को बाँधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते हैं। एक क्षण के लिये भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है। अतः-

न सम्यक्त्वं समं किञ्चित् त्रैकाल्यं त्रिजगत्यपि।

श्रयोऽश्रेयञ्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनुभूताम्॥ (34)॥ (र.श्रा.)

In the three periods of time and three worlds there is nothing more auspicious than ritgh Faith fot the living beings, not anything more inquacious than a false conviction.

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर जीवों के लिये अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।

अनन्तबार दुःख प्राप्ति के कारण

गाथा- संसारभ्रमणगमणं कुणत आराहिदो ण जिणधम्मो।

तेणविणा वरं दुक्खं पत्तोसि अणंतवाराइं॥ (3) कल्याणा.

पद्य- संसार भ्रमण करते हुए नहीं आराधना की जिनधर्म।

इसके बिना महान् दुःख प्राप्त किये तूने अनन्तबार॥

समीक्षा-

अनन्त संसार में किया रे! तूने अनन्त जन्म व मरण।

अनन्त संयोग व वियोग किया किया हर प्रकार के काम।।

किन्तु आत्मास्वभावमय जैनधर्म की नहीं कि तूने आराधना।

जिससे आत्मविशुद्धि बिन पाया है अनन्त दुःख यातना।।

अभी जो एक काम नहीं किया वह करो स्व-आत्मकल्याण।

स्व-आत्मकल्याण करना ही है परम उत्कृष्टतम काम।।

नन्दौड़, 24.10.2018 रात्रि 10:41 (शरदपूर्णिमा)

अनन्तबार मरण

संसारे णिवसंता अणंतमरणाइ पाओसि तुमं।

केवलिणा विण तेसिं संखापज्जत्ति णो हवदि।। (4) (कल्याण आ.)

पद्यभावानुवाद :- (चाल :- आत्मशक्ति)

हे ! जीव तुमने प्राप्त किया अनन्त मरण संसार में रहते।

केवली के बिना उसकी संख्या न प्राप्त होती अन्य से।।

समीक्षा-अनादि काल से यह संसार है अनन्त काल हो गया अभी तक।

अतएव अनन्त बार जन्म हुये अनन्त पंचपरिवर्तन में।।

अनन्त जन्म होने से अनन्त बार भी हुए हैं मरण भी।

इसकी संख्या केवल जानते हैं सर्वज्ञ भगवान् ही।।

सन्दर्भ-

मृत्यु की आत्मकथा

(मृत्यु की विभिन्न अवस्था तथा अमृतावस्था)

चाल :- (शायद मेरी शादी...)

चाल:- (1. जय जिनवाणी महिमा न्यारी...2.जन हनुमान ज्ञान गुण...)

मैं हूँ मृत्यु सबसे निराली, सबसे निराली मेरी शान (जान)।

संसारी का अन्तिम सत्य, परलोक गमने या मोक्ष प्रयाण।।

जब जन्म का प्रारंभ होता, तत्काल मेरा होता जनम।

प्रति समय मेरा होता जनम, जिसे कहते हैं आविचीमरण...(1) मैं हूँ...

समस्त आयुर्कर्म नाश पर, तब होता है तद्भवमरण।

तद्भवमरण भी दो प्रकार है, सकाल मरण या अकाल मरण।।...(2) मैं हूँ...

देव-नारकी भोगभूमिज व चरम-उत्तम शरीर धारी।

भुज्यमान आयुर्कर्म नाश से, समय पे हो सो सकाल मरण।

विषादि कारण समय पहले, जो हो सो है अकाल मरण।।...(5) मैं हूँ...

हर समय एक निषेक क्षय से, जो मरण हो सो सकाल मरण।

एक समय में विषादि कारण, सर्वायु नशे सो अकाल मरण।।...(6) मैं हूँ...

मरणान्तर कर्मानुसार भावी गति का होता है जनम।
 जनम के साथ मरण प्रारंभ, जिसे कहते हैं संसार भ्रमण।।...(7) मैं हूँ...
 मेरे वश में समस्त संसारी, भयाकुल रहे सुर असुर।
 स्व-कर्मानुसार मुझे बुलाते, मेरा इसमें क्या है कसूर।।...(8) मैं हूँ...
 जैसे बोयेंगे वैसा पायेंगे, मेरा शासन है कर्मानुसार।
 रोने, धोने, गाली देने से मेरे दिल में न कुछ होता संचार।।...(9) मैं हूँ...
 टोना टोटका बलिदान से भी, मुझमें न होता दया संचार।
 निर्भीक संयमी वीतरागी से मुझमें होता है भय संचार।।...(10) मैं हूँ...
 मेरे भय से अस्तित्व में आये, अस्त्र अग्नि व अंग रक्षक।
 ढाल दुर्गादि शिस्त्राण व कवच सैनिक यान वाहन (वाहक) ।।...(11)
 पूजा पाठादि यंत्र मंत्रादि, दान धर्म व यज्ञ विधान।
 औषध, रसायन, प्राणायाम, योगासन, यम नियम, व ध्यान विधान...(12)
 भोगभूमि में यह सब नहीं थे, मेरे भय से थे वे अनजान।
 असि, मसि, कृषि, वाणिज्य शिल्पादि, मेरे भय से भी उपज जान।।...(13) मैं हूँ...
 मेरे भय से या जन्म लोभ से, अप्रभावी जो आध्यात्म वीर।
 स्व-आत्मा में ही निवास जिनका, उनको न कर सकूँ प्रहार।।...(14) मैं हूँ...
 उनके अन्तिम मरण से वे हो जाते हैं अजरामर।
 जिसे कहते हैं अमृतावस्था, जन्म-मरण से परे संसार।।...(15) मैं हूँ...
 अक्षय अव्यय ज्ञानानन्दमय, अनन्त वीर्य का होता भण्डार।
 “कनकनन्दी” द्वारा बखान किया, वहाँ न होता मेरा संचार...।।(16) मैं हूँ...

निगोद में एक अन्तर्मुहूर्त में जन्म-मरण

तिणिणसया छत्तीसा छावट्टिसहस्सवार मरणाइं।

अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयमज्झम्मि।। (5) (कल्याण आ.)

पद्य - छयासठ सहस्र तिनशत छत्तीस बार मरण को।

अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त किया तुमने निगोद मध्य में।।

समीक्षा - कितनी बार अन्तर्मुहूर्त में जन्म है अनेक बार मरण।
एक श्वास में अठारह जन्म तो अठारह बार ही मरण।

साधारण जीवों का स्वरूप

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवन्ति सामण्णा।

ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहुमात्ति विण्णोया।। (191) गो.जी.

गाथार्थ-साधारण नाम कर्मोदय से निगोद शरीर वाला साधारण वनस्पतिकायिक जीव होता है। ऐसे जीव बादर व सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

By the operation of the common, (Sadharana body making karma) the Nigoda bodies become gross souled they should again be known to be two kinds gross of fine.

Commentary : Nigoda is thus explained in the Sanskrit Tika नि =नियतां, गो=भूमिं क्षेत्रं, निवासमनन्तानन्त जीवानां ददातीति निगोदम्। That which is always the abode of infinite souls is called 'Nigoda.'

विशेषार्थ-स्थावर नामकर्म के उत्तरोत्तर भेद स्वरूप साधारण नामकर्म के उदय से जीव साधारण-वनस्पति होता है। उस जीव का निगोद शरीर अर्थात् साधारण शरीर होता है।

शंका- साधारण शरीर कौनसा होता है?

समाधान- जिन अनंत जीवों का भिन्न-भिन्न शरीर न होकर, समान रूप से एक शरीर पाया जाता है, वे साधारण शरीर जीव हैं।

शंका- भिन्न-भिन्न जीवों से पृथक्-पृथक् बँधे हुए पुद्गल विपाकी होने से आहार-वर्गणाओं के स्कंधों को शरीर के आकार रूप से परिणामन कराने में कारण रूप और भिन्न-भिन्न जीवों की भिन्न-भिन्न फल देने वाले औदारिक नोकर्म स्कंधों के द्वारा अनेक जीवों के एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ?

समाधान- नहीं क्योंकि जो एकदेश में अवस्थित हैं और परस्पर संबद्ध जीवों के साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहाँ पर स्थित सपूर्ण जीव संबंधी एक शरीर को उत्पन्न करते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता क्योंकि साधारण रूप कारण से उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण होता है। क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

शंका- निगोद किसे कहते हैं ?

समाधान- 'नि' नियतामनन्तजीवानामेकामेव, 'गो' भूमिं, क्षेत्रं, निवासं 'दं' ददातीति निगोदम् अर्थात् जो एक सीमित स्थान में अनन्तानन्त जीवों को स्थान देता है, वह निगोद शरीर है।

अनन्त साधारण जीवों का आहार-श्वासोच्छ्वास

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।। (192)

गाथार्थ-साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास-निःश्वास का ग्रहण यह साधारण जीवों का साधारण लक्षण कहा गया है।

The common difference of these common (group) souls is said to be common food and common respiration.

विशेषार्थ- इस सूत्र गाथा द्वारा शरीरी और शरीरी दोनों का ही लक्षण कहा गया है, क्योंकि एक के लक्षण का ज्ञान होने पर दूसरे के लक्षण का भी ज्ञान हो जाता है। शरीर के योग्य पुद्गल स्कंधों का ग्रहण करना आहार कहलाता है। वह साधारण अर्थात् सामान्य हाता है।

शंका- एक जीव के द्वारा ग्रहण किया गया आहार उस काल में वहाँ अनन्त जीवों का कैसे हो सकता है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि उस आहार से उत्पन्न हुई शक्ति का बाद में उत्पन्न हुए जीवों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही ग्रहण हो जाता है।

शंका- यदि ऐसा है तो 'आहार साधारण है' इसके स्थान में 'आहारजनित शक्ति साधारण है' ऐसा कहना चाहिए ?

समाधान- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य में कारण का उपचार करने से आहारजनित शक्ति को भी आहार संज्ञा सिद्ध होती है।

'आण' शब्द का अर्थ उच्छ्वास है और 'अपाण' शब्द का अर्थ निःश्वास है। उन आनपान का ग्रहण अर्थात् उपादान सब जीवों के साधारण अर्थात् सामान्य है।

शंका- किन जीवों का साधारण है ?

समाधान- साधारण जीवों के साधारण है। गाथासूत्र में 'साहारणजीवाणं' शब्द के द्वारा ऐसा कहा गया है।

शंका- साधारण जीव कौन है ?

समाधान- एक शरीर में निवास करने वाले जीव साधारण हैं। अन्य शरीरों में निवास करने वाले जीवों के उनसे भिन्न शरीर में निवास करने वाले जीवों के साथ साधारणता नहीं है, क्योंकि उनमें एक शरीर के आवास से उत्पन्न हुए प्रत्यासत्ति का अभाव है। इसका अभिप्राय यह है सबसे जघन्य पर्याप्तिकाल के द्वारा यदि पहले उत्पन्न हुए निगोद जीव शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आहारपर्याप्ति और उच्छ्वास-निःश्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होते हैं तो उसी शरीर में उनके साथ उत्पन्न हुए मंदयोग वाले निगोद जीव भी उसी काल द्वारा इन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं, अन्यथा आहार ग्रहण आदि का साधारणपना नहीं बन सकता। यदि दीर्घकाल के द्वारा पहले उत्पन्न हुए जीव चारों पर्याप्तियों को प्राप्त करते हैं तो उसी शरीर में पीछे से उत्पन्न हुए जीव उसी काल के द्वारा उन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं। यह कथन का तात्पर्य है।

शंका- शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति ये सबके साधारण हैं, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान- नहीं क्योंकि गाथासूत्र में 'आहार' और 'आनापान' पद का ग्रहण देशाभार्षक है, इसलिए उनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

साहारणाणि जेसिं आहारूस्सासं-काय-आऊण्णि।

ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं।। (126)

जिन अनंतानंत जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण होती है वे साधारणकायिक जीव हैं। एक समय में एक साथ उत्पन्न होने वाले अनंतानंत सब साधारण जीवों की आयु समान होती है, अर्थात् हीनाधिक नहीं होती।

एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।

एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स।। (123)

शंका- शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति ये सबके साधारण हैं, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान- नहीं, क्योंकि गाथासूत्र में 'आहार' और 'आनापान' पद का ग्रहण देशाभार्षक है, इसलिए उनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

साहारणाणि जेसिं आहाररूस्सास-काय-आऊण्णि।

ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पाणाणं।। (126)

जिन अनंतानंत जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण होती है वे साधारणकायिक जीव हैं। एक समय में एक साथ उत्पन्न होने वाले अनंतानंत सब साधारण जीवों की आयु समान होती है, अर्थात् हीनाधिक नहीं होती।

एयस्स अणुगग्रहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।

एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स।। (123)

एक जीव का जो अनुग्रहण अर्थात् उपकार है वह बहुत साधारण जीवों का है और इसका भी है। तथा बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है वह मिलकर इस विवक्षित जीव का भी है।

एक निगोद जीव का अनुग्रहण अर्थात् पर्याप्तियों को उत्पन्न करने के लिए जो पुद्गल-परमाणुओं का ग्रहण है या निष्पन्न हुए शरीर के जो परमाणु पुद्गलों का ग्रहण है, वह उस शरीर में उस काल में रहने वाले और नहीं रहने वाले बहुत साधारण जीवों के होता है। क्योंकि उस आहार से उत्पन्न हुई शक्ति वहाँ के सब जीवों में युगपत् उपलब्ध होती है। अथवा उन परमाणुओं से निष्पन्न हुए शरीर के अवयवों का फल सब जीवों में उपलब्ध होता है।

शंका-यदि एक जीव में योग से आये हुए हुए परमाणु-पुद्गल उस शरीर में रहने वाले अन्य जीवों के ही होते हैं तो योग वाले उस जीव का वह अनुग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि उसका संबंध अन्य जीवों के साथ पाया जाता है।

समाधान-इस एक योग वाले जीव का भी वह अनुग्रहण होता है, क्योंकि उसका फल इस जीव में भी उपलब्ध होता है।

शंका-एक जीव के द्वारा दिये गये पुद्गलों का फल अन्य जीव कैसे भोगते हैं ?

समाधान-यह कोईह दोष नहीं है, क्योंकि एक के द्वारा भी दिये गये धन-धन्यादिक को अविभक्त धन वाले भाई लड़की, पिता-पुत्र और नाती तक के जीव भोगते हुए देखे जाते हैं।

शंका- उसी शरीर में निवास करने वाले जीवों के योग से आये हुए परमाणु पुद्गल एक विवक्षित जीव के होते हैं या नहीं होते ?

समाधान- बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है वह मिलकर एक का अर्थात् विवक्षित निगोद जीव का भी होता है, क्योंकि एक शरीर में निवास करने वाले अनंत जीवों के योग से आये हुए परमाणु पुद्गल-कलाप से उत्पन्न हुई शक्ति इस जीव में पाई जाती है।

शंका- यदि ऐसा है तो उन बहुत जीवों का वह अनुग्रहण अर्थात् उपकार नहीं होता है, क्योंकि उसका फल अन्यत्र ही एक जीव में उपलब्ध होता है ?

समाधान- 'एक' शब्द अंतर्गर्भित वीप्सा रूप अर्थ को लिये हुए है, इसलिए यह फल हुआ कि एक-एक जीव का भी वह अनुग्रहण है, क्योंकि उन पुद्गलों से अन्य जीवों में शक्ति से उत्पन्न होने के काल में ही अपने में भी उसकी उत्पत्ति होती है।

समगं वक्त्रं ताणं समगं तेसिं शरीरणिष्पत्ती।

समगं च अणुग्रहणं समगं उस्सासणिस्साणो॥ (124)

एक शरीर में उत्पन्न होने वालों के उनके शरीर की निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उच्छ्वास-निःश्वास होता है।

एक शरीर में जो पहले उत्पन्न हुए अनंत जीव हैं और जो बाद में उत्पन्न हुए अनंत जीव हैं, वे सब एक साथ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं।

शंका- भिन्न काल में उत्पन्न हुए जीवों का एकसाथपना कैसे बन सकता है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि एक शरीर के संबंध से उन जीवों के भी एकसाथपना होने में कोई विरोध नहीं आता।

शंका- एक शरीर में बाद में उत्पन्न हुए जीव हैं, ऐसी अवस्था में उनकी प्रथम समय में ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि प्रथम समय में उत्पन्न हुए जीवों के अनुग्रहण का फल बाद में उत्पन्न हुए जीवों में भी उपलब्ध होता है, इसलिए एक शरीर में उत्पन्न होने वाले सब जीवों की प्रथम समय में ही उत्पत्ति इस न्याय के अनुसार बन जाती है। इस प्रकार दोनों प्रकार से एक साथ उत्पन्न हुए जीवों के उनके शरीर की निष्पत्ति समगं अर्थात् अक्रम से ही होती है तथा एक साथ अनुग्रहण होता है,

क्योंकि उनका अनुग्रहण समान है। जिस कारण से सब जीवों के परमाणु पुद्गलों का ग्रहण समगं अर्थात् अक्रम से होता है, इसलिए आहार, शरीर, इन्द्रियों की निष्पत्ति और उच्छ्वास-निःश्वास की निष्पत्ति समगं अर्थात् अक्रम से होती है। अन्यथा अनुग्रह के साधारण होने में विरोध आता है। एक शरीर में उत्पन्न हुए अनंत जीवों की चार पर्याप्तियाँ अपने-अपने स्थान में एक साथ समाप्त होती है, क्योंकि अनुग्रहण साधारण रूप है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

अनंत साधारण जीवों का जन्म-मरण एक साथ

जत्थेक्कमरई जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।

वक्कमइ जत्थ एक्को बक्कमणं तत्थणंताणं।। (193)

गाथार्थ-जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ अनंत जीवों का मरण होता है और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनंत जीवों की उत्पत्ति होती है।

in the (common body) when one soul deis, there is the death of infinite souls (with it) (When) when one is born there is the birth of infinite souls there.

Commentary : A Nigoda body continues to exist while every instant infinite souls in it die and new ones take birth The maximum period for the existence of a Nigoda body is declared to be innumerable crore multiplies by crore Sagaras.

विशेषार्थ-जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ नियम से अनंत जीवों का मरण होता है।

शंका- इस स्थल पर अवधारण कहाँ से होता है ?

समाधान-इस गाथासूत्र में आये हुए 'दु' शब्द का अवधारण रूप अर्थ के साथ संबंध है।

संख्यात, असंख्यात या एक जीव नहीं मरते हैं, किन्तु निश्चय से एक शरीर में निगोदराशि के अनंत जीव ही मरते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तथा जिस निगोद शरीर में एक जीव बक्कमदि अर्थात् उत्पन्न होता है उस शरीर में नियम से अनंत निगोद जीवों की बक्कमणं अर्थात् उत्पत्ति होती है। एक, संख्यात और असंख्यात जीव एक निगोद शरीर में एक समय में नहीं उत्पन्न होते हैं, किन्तु अनंत

जीव ही उत्पन्न होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। वे एक बंधनबद्ध होकर ही उत्पन्न होते हैं, अन्यथा प्रत्येक शरीर वर्गणा और बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणा के अनंत होने का प्रसंग आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसी वे पाई नहीं जाती। कहा भी है-

बादरसुहुमणिगोदा बद्धा पुट्टा य एयमेएणा।

ते हु अणता जीवा मूलयथूहल्लयादीहि।। (126)

बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव ये परस्पर बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं। तथा वे अनंत जीव हैं जो मूली, थूअर और आर्द्रक आदि के निमित्त से होते हैं।

एक शरीर में स्थित बादर निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य बादर निगोद जीवों के साथ तथा एक शरीर में स्थित सूक्ष्म निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य सूक्ष्म निगोद जीवों के साथ बद्ध अर्थात् समवेत होकर रहते हैं। वह समवाय देश समवाय और सर्वसमवाय के भेद से दो प्रकार है। वे देशसमवाय से बद्ध होकर नहीं रहते, किन्तु परस्पर अब अवयवों से स्पृष्ट होकर ही वे रहते हैं; अबद्ध और अस्पृष्ट होकर वे नहीं रहते।

शंका- इस प्रकार अवस्थित होकर कितने जीव रहते हैं ?

समाधान- इस प्रकार अवस्थित होकर वे संख्यात या असंख्यात नहीं होते किन्तु वे जीव अनंत होते हैं।

शंका- वे किस कारण से होते हैं ?

समाधान-मूली, थूअर और आर्द्रक आदि कारणों से होते हैं। यहाँ पर 'आदि' शब्द से वनस्पतियों के अन्य भेद भी ग्रहण करने चाहिए। इसके द्वारा बादर निगोद की योनि कही गई है, सूक्ष्म निगोद की नहीं, क्योंकि जल-थल और आकाश में सर्वत्र उनकी योनि देखी जाती है। तात्पर्य यह है कि मूली, थूअर और आर्द्रक आदि वनस्पतियों के शरीर बादर निगोद की योनि होते हैं।

इसलिए मूली, थूअर और आर्द्रक आदि तथा मनुष्य आदि के शरीरों में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं। वहाँ एक-एक निगोद शरीर में अनंतानंत बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव प्रथम समय में उत्पन्न होते हैं। वहीं पर द्वितीय समय में असंख्यातगुणे हीन जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार

आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल व्यतीत होने तक असंख्यातगुणे हीन श्रेणीरूप से निरंतर जीव उत्पन्न होते हैं। पुनः एक, दो और तीन समय से लेकर उत्कृष्ट रूप से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल व्यतीत होने तक अंतर देकर पुनः एक, दो और तीन समय से लेकर उत्कृष्ट रूप से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक जीव निरंतर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सांतर-निरंतर क्रम से तब तक जीव उत्पन्न होते हैं, जब तक उत्पत्ति संभव है। इस प्रकार इस क्रम से उत्पन्न हुए बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव एक शरीर में बद्ध स्पृष्ट होकर रहते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

जीवराशि आय रहित और व्यय सहित है; क्योंकि उसमें मोक्ष जाने वाले जीव उपलब्ध होते हैं। किन्तु संसारी जीव का अभाव प्राप्त नहीं होता। इसकी सिद्धि के लिए आगे की गाथा कही जाती है।

स्कंध, अण्डर, आवास, पुलवि व निगोद शरीरों का स्वरूप व संख्या

खंधा असंखलोगा अंडर-आवास-पुलविदेहा वि।

हेट्टिल्लजोणिगाओ असंख लोणेण गुणिदकमा।। (194)

जम्बूदीवं भरहो कोसल-सामेद-तग्घराइं वा।

खंधंडर आवासा पुलविशरीराणि दिट्ठता।। (195)

गाथार्थ-जंबूदीप, जंबूद्वीप में, भरतक्षेत्र, भरतक्षेत्र में कोशल देश, कोशल देश में साकेतनगरी और साकेतनगरी में घर होते हैं, उसी प्रकार स्कंध, स्कंध में अण्डर, अण्डर में आवास, आवास में पुलवि और पुलवि में निगोद शरीर ये उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रम से स्थित हैं।

The bodies (of group souled vegetables, (Vadara Nigoda) are innumerable time the Spatial units of the universe, (and each skandha contains as many) Avass;(each Avass containass many) Pulavis (and each) Pulavi(Contains as many Nigoda) bodies, Deha Each next-coming nucleus abode.(yonika) is innumerable universe times (Lokpramana) the preceding one in due order.

Jambu Dwipa, Bharata, Koshala, Saketa, houses these are illustration of Skandha, Andara Avasa, Pulavi and Dehas.

Commentary : A Continent contains many countries, a country many provinces, a province many town, and a town many houses. Similarly Skandha contains many Andaras, an Andara comprises many Avasas an Avasa Consists of many Pulavis, and Pulavi of many Dehas.

विशेषार्थ- स्कंध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच हैं। उनमें से जो बादर निगोद का आश्रयभूत है, बहुत वक्खारों से युक्त है तथा वलंजंत-वाणिय-कच्छउड समान है ऐसे मूली, थूअर और लता आदि संज्ञा को धारण करने वाला स्कंध कहलाता है। वे स्कंध असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, क्योंकि बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव असंख्यात लोक प्रमाण पाये जाते हैं। जो उन स्कंधों के अवयव है और जो वलंजुअकच्छउड के पूर्वापर भाग के समान हैं, उन्हें अण्डर कहते हैं। जो अण्डर के भीतर स्थित है तथा कच्छउडअण्डर के भीतर स्थित वक्खार के समान है उन्हें आवास कहते हैं। एक-एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर होते हैं। तथा एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास होते हैं। जो आवास के भीतर स्थित है और जो कच्छउड-अण्डर-वक्खार के भीतर स्थित पिशवियों के समान हैं, उन्हें पुलवि कहते हैं। एक-एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण (पुलवियाँ) होती है। तथा एक-एक आवास की पृथक्-पृथक् एक-एक पुलवि में असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर होते हैं, जो औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलों के उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउड अण्डर वक्खार पुलवि के भीतर स्थित द्रव्यों के समान पृथक्-पृथक् अनंतानंत निगोद जीवों से आपूर्ण होते हैं। अथवा जंबूद्वीप, भरत, जनपद, ग्राम और पुर के समान स्कंध, अण्डर, आवास, पुलवि और शरीर होते हैं।

एक निगोद शरीर में द्रव्य की अपेक्षा जीवों का प्रमाण

एगणिगोद शरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।

सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीद कालेण।। (196)

गाथार्थ- एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत काल के द्वारा सिद्ध हुए जीवों से भी अनंतगुणे हैं।

Form the substance point of view (the number of souls, in one Nigoda body) seen (by the Omniscient) are infinite times the

number of all liberated souls of and (the number of instants of) all past time.

विशेषार्थ- संसारी जीवों की व्युच्छिति कभी नहीं होती। उसका एक हेतु इस गाथा में कहा गया है। एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा अनंत जीव हैं।

शंका-वे कितने हैं ?

समाधान-अतीत काल में जो सिद्ध हुए हैं, उनसे अनंतगुणे एक निगोद शरीर में होते हैं।

शंका-वह कौनसी युक्ति है जिससे एक निगोद शरीर में अनंत जीव उपलब्ध होते हैं?

समाधान-सब जीव राशि का अनंत होना यही युक्ति है।

आयरहित जिन संख्याओं का व्यय होने पर सत्त्व का विच्छेद होता है वे संख्याएँ संख्यात और असंख्यात संज्ञा वाली होती हैं। आय से रहित जिन संख्याओं का संख्यात और असंख्यात रूप से व्यय होने पर भी विच्छेद नहीं होता है, उनकी अनंत संज्ञा है और सब जीव राशि अनंत है, इसलिए यह विच्छेद को नहीं प्राप्त होती, अन्यथा उनके अनंत होने में विरोध आता है।

शंका-अर्धपुद्गल परिवर्तन के साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल अनंत होते हुए भी उसका विच्छेद होता है ?

समाधान-यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनंत संज्ञा वाले केवलज्ञान का ही विषय होने से उसकी (उपचार से) अनंत रूप से प्रसिद्धि है। मेय में मान की संज्ञा असिद्ध है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रस्थ से मापे गये यवों में प्रस्थ संज्ञा की उपलब्धि होती है।

शंका-सब अतीत काल के द्वारा जो सिद्ध हुए हैं, उनसे एक निगोद शरीर के जीव अनंतगुणे हैं, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान-युक्ति से ही जाना जाता है। यथा-असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीरों में यदि सब जीव राशि उपलब्ध होती है तो एक निगोद शरीर में कितने जीव प्राप्त होंगे। इस प्रकार फल राशि से गुणित इच्छा राशि में प्रमाण राशि का भाग देने पर एक निगोद शरीर में जीवों का प्रमाण सब जीव राशि के असंख्यातवें भाग

प्रमाण होता है। परन्तु सिद्ध जीव यदि अतीत काल के प्रत्येक समय में यदि असंख्यात लोक प्रमाण सिद्ध होवे तो भी अतीत काल से असंख्यातगुणे ही होंगे। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि सिद्ध जीव अतीत काल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं।

शंका- सब जीव राशि अतीत काल से अनंतगुणी है वह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान- षोडशपदिक अल्पबहुत्व से जाना जाता है।

शंका- षोडशपदिक अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

समाधान- वर्तमान काल सबसे स्तोक है। अभव्य जीवों का प्रमाण उससे अनंतगुणा है। जघन्य युक्तानंत यहाँ पर गुणाकार रूप से अभीष्ट है। अभव्य राशि से सिद्धकाल अनंतगुण है। छह महीने के अष्टम भाग में एक मिला देने पर जो समय संख्या प्राप्त हो उससे भक्त अतीत काल का अनंतवाँ भाग यहाँ पर गुणाकार है। सिद्धकाल से सिद्ध संख्यातगुणे हैं। यहाँ पर दस पृथक्त्व गुणाकार है। सिद्ध जीवों से असिद्ध काल असंख्यातगुणा है। यहाँ पर संख्यात आवलिकाएँ गुणाकार है। असिद्ध काल से अतीत काल विशेष अधिक है। सिद्ध काल का जितना प्रमाण है उतना विशेष अधिक है। अतीत काल से भव्य मिथ्यादृष्टि अनंतगुणे हैं। भव्य मिथ्यादृष्टि का अनंतवाँ भाग गुणाकार है। भव्य मिथ्यादृष्टियों से भव्य जीव विशेष अधिक है। सासादन गुणस्थान से अयोगकेवली गुणस्थान तक जीवों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं। भव्य जीवों से सामान्य मिथ्यादृष्टि विशेष अधिक है। अभव्य राशि में से सासादन आदि तेरह गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रमाण को कम कर देने पर जो राशि अवशिष्ट रहे, उतने विशेष अधिक हैं। सामान्य मिथ्यादृष्टियों से संसारी जीव विशेष अधिक है। सासादन आदि तेरह गुणस्थानवर्ती जीवों का जितना-जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक है। संसारी जीवों से संपूर्ण जीव विशेष अधिक है। सिद्ध जीवों का जितना प्रमाण है उतने अधिक है। संपूर्ण जीव राशि से पुद्गल राशि अनंतगुणी है। यहाँ पर संपूर्ण जीव राशि से अनंतगुणा गुणाकार है। पुद्गल से अनागत काल अनंतगुणा है। यहाँ पर सर्व पुद्गल द्रव्य से अनंतगुणा गुणाकार है। अनागत काल से संपूर्ण काल विशेष अधिक है। वर्तमान और अतीत काल मात्र विशेष अधिक है। संपूर्ण काल से अलोकाकाश अनंतगुणा है। संपूर्ण

काल से अनंतगुणा गुणाकार है। अलोकाकाश से संपूर्ण आकाश विशेष अधिक है। लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण विशेष अधिक है। इस प्रकार इस अल्प बहुत्व से यह प्रतीत हो जाता है कि अतीत काल से मिथ्यादृष्टि जीव अनंतगुणे हैं। इसलिए सिद्ध हुआ कि सिद्धों से एक निगोद शरीर के जीव अनंतगुणे हैं। अतएव सभी अतीत काल के द्वारा एक निगोद शरीर के जीव भी सिद्ध नहीं होते हैं। उन निगोदों में जो जीव स्थित है वे दो प्रकार के हैं-चतुर्गति और नित्यनिगोद। जो देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः निगोद में प्रवेश करते रहते हैं वे चतुर्गति निगोद जीव हैं। अतीत काल में त्रसपने को प्राप्त हुए जीव यदि बहुत अधिक होते हैं तो अतीत काल से असंख्यातगुणे ही होते हैं। अंतर्मुहूर्त काल के द्वारा यदि प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव त्रसों में उत्पन्न होते हैं तो अतीत काल में कितने प्राप्त होंगे ? इस प्रकार फलराशि से गुणित इच्छाराशि में प्रमाणराशि का भाग देने पर अतीत काल से असंख्यातगुणी त्रस राशि होती है। इससे जाना जाता है कि अतीत काल में त्रस भाव को नहीं प्राप्त हुए जीवों का अस्तित्व है और जीवों के सिद्ध होने पर भी संसारी जीवों का विच्छेद नहीं होता।

अतीत काल में त्रसभाव को नहीं प्राप्त हुए जीवों का अर्थात् नित्यनिगोद जीवों का अस्तित्व है और संसारी जीवों का विच्छेद नहीं होता, यह एक गाथा द्वारा कहा जाता है-

नित्यनिगोद का लक्षण

अत्थि अणंता-जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।

भावकलंक-सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति।। (197)

गार्थाथ-जिन्होंने त्रसभाव को नहीं प्राप्त किया है, ऐसे अनंत जीव हैं, क्योंकि वे भावकलंक प्रचुर है इसलिए निगोदवास को नहीं त्यागते।

There are infinite souls which have never (so far) attained the condition of mobiles. Being thickly beset with impure thought activities, they do not leave the residence in Nigoda.

Commentary : Although three are such souls who on account of their immense impure thought activity, would never leave their stay in Nigoda, still the general rule that 608 souls leave Nigoda in 6 month 8 instants and other 608 human souls attain liberation must

be kept in mind.

विशेषार्थ :- जिन्होंने अतीत काल में कदाचित् भी त्रस परिणाम नहीं प्राप्त किया है ऐसे अनंतजीव नियम से हैं। अन्यथा संसार में भव्य जीवों का अभाव प्राप्त होता है। उनका अभाव है नहीं, क्योंकि उनका (भव्य जीवों का) अभाव होने पर अभव्य जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है। और वह भी है नहीं, क्योंकि उनका (भव्य और अभव्य जीवों का) अभाव होने पर संसारी जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है (क्योंकि संसारी जीव भव्य और अभव्य दो ही प्रकार के हैं) और संसारी जीवों का अभाव भी नहीं है क्योंकि संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों के भी अभाव का प्रसंग आता है।

शंका-संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों का अभाव कैसे संभव है ?

समाधान-संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी जीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा नहीं बन सकती।

इसलिए सिद्ध होता है कि अतीत काल में त्रसभाव को नहीं प्राप्त हुए अनंत जीव है। यहाँ पर उपर्युक्त गाथा इस प्रकार है-

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया।

भंगुप्पायधुक्ता सप्पडिवक्खा हवइ एक्का।। (18)

सत्ता सब पदार्थों में स्थित है, विश्वरूप है, अनंत पर्याय वाली है, व्यय-उत्पाद और ध्रुवत्व से युक्त है, सप्रतिपक्ष है और एक है।

वे त्रस परिणाम को क्यों नहीं प्राप्त हुए हैं ? इसके समाधान में सूत्रगाथा के उत्तरार्ध में कहा गया है 'भावकलंकसुपउरा' अर्थात् भावकलंक (संक्लेश); उसकी यहाँ अत्यंत प्रचुरता है। एकेन्द्रिय जाति में उत्पत्ति का हेतु 'भावकलंक' यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उसकी प्रचुरता होने से यहाँ के जीवों ने निगोदवास को नहीं त्यागा है अर्थात् नहीं छोड़ा है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार नित्यनिगोद जीवों का लक्षण भी कहा गया है।

जीवों की पूर्णता एवं अपूर्णता

जह पुण्णापुण्णाइं, गिहघडवत्थादियाइं दव्वाइं।

तह पुण्णिदरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा।। (118)

गाथार्थ-जिस प्रकार गृह घट और वस्त्र आदि अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं। पूर्णजीव पर्याप्तक और अपूर्ण जीव अपर्याप्तक कहलाते हैं।

As there are complete and incomplete houses, pots, cloth, and such things, similarly (mundane) should (in their capacities) when complete or otherwise (i.e. incomplete) should be understood to be developable (pariyapta) or otherwise (non-developable Apariyapta)

विशेषार्थ- सम्पूर्णता के हेतु को पर्याप्ति कहते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। इन शक्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। इस पर्याप्ति और अपर्याप्ति के भेद से जीव भी दो प्रकार के हो जाते हैं। पर्याप्त जीव और अपर्याप्त जीव। पर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों की अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने रूप अवस्था विशेष प्रगट हो गई है, उन्हें पर्याप्त जीव कहते हैं। अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों की शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरने रूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्त जीव कहते हैं। सभी जीव शरीर पर्याप्ति के निष्पन्न होने पर पर्याप्त कहे जाते हैं। जिन जीवों की पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु पर्याप्त नामकर्म का उदय है वे जीव भी पर्याप्त कहलाते हैं, क्योंकि भविष्य में उनकी पर्याप्ति नियम से पूर्ण होगी। होने वाले कार्य में यह कार्य हो गया इस प्रकार उपचार कर लेने से इनकी 'पर्याप्त' संज्ञा करने में कोई विरोध नहीं आता। अथवा पर्याप्त नाम कर्मोदय से पर्याप्त संज्ञा दी गई।

पर्याप्तियों के भेद तथा उनके स्वामी

आहारसरीरिंदिय-पज्जत्ती आणपाणभासमणो।

चत्तारि पंच छप्पि य, एड्दंदिय-वियलसण्णीणं।। (119)

गाथार्थ- आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। एकेन्द्रियजीवों के इनमें से पहली चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलचतुष्क के पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी जीवों के छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

विकलेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तों के क्षुद्रभव

वियलिन्दिये असीदी सट्टी चालीसमेव जाणेहिं।

पंचेन्द्रिय चउवीसं खुद्भवंतोमुहुत्तस्स॥ (6) (कल्याण आ.)

पद्य- विलेन्द्रियों के क्रमशः अस्सी-साठ-चालीस ही ज्ञेय।

पंचेन्द्रिय चउबीस क्षुद्र भव है अन्तर्मुहूर्त मध्य में॥

समीक्षा-दो इन्द्रियों के अस्सी त्रीन्द्रिय के साठ व चौ इन्द्रियों के चालीस।

पञ्चेन्द्रियों के चउबीस क्षुद्रभव अन्तर्मुहूर्त मध्य में॥

आर्यखण्ड में, स्लेच्छखण्ड में, भोगभूमि में और कुभोगभूमि में मनुष्य होते हैं। ये चारों ही प्रकार के मनुष्य पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। भावार्थ-आर्यखण्ड, स्लेच्छखण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमि की अपेक्षा मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। तथा ये चारों ही प्रकार के मनुष्य निवृत्यपर्याप्त भी होते हैं और पर्याप्त भी होते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है- आर्यखण्ड 170 हैं-पाँच भरत संबंधी 5, पाँच ऐरावत संबंधी 5, और पाँच विदेह संबंधी 160 क्योंकि एक-एक महाविदेह में 32-32 उपविदेह होते हैं। तथा आठ सौ पचास (850) स्लेच्छखण्ड हैं; क्योंकि प्रत्येक भरत, प्रत्येक ऐरावत और प्रत्येक उपविदेह क्षेत्र के छः-छः खण्ड होते हैं। जिनमें से एक आर्यखण्ड होता है और शेष 5 स्लेच्छखण्ड होते हैं। अतः एक सौ सत्तर आर्यखण्डों से पाँच गुने स्लेच्छखण्ड होते हैं। इससे $170 \times 5 = 850$ आठ सौ पचास स्लेच्छखण्ड हैं। और तीस भोगभूमियाँ हैं- जिसमें 5 हैमवत और पाँच (5) हैरण्यवत् ये दस जघन्य भोगभूमियाँ हैं। 5 हरिवर्ष और 5 रम्यकवर्ष ये दस मध्यम भोगभूमियाँ हैं। और पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ये दस उत्कृष्ट भोगभूमियाँ हैं। इस तरह कुल तीस भोगभूमियाँ हैं। तथा लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र में 96 अंतर्द्वीप हैं जिनमें से 24 अंतर्द्वीप लवण समुद्र के जंबुद्वीप संबंधी तट के करीब में हैं और 24 अंतर्द्वीप धातकी खण्ड संबंधी तट के निकट हैं। इस तरह 48 अंतर्द्वीप तो लवण समुद्र में हैं और इसी 48 अंतर्द्वीप कालोदधि समुद्र में हैं, जिनमें से चौबीस-अभ्यंतर तट के करीब हैं और 24 बाह्य तट के करीब हैं। इन 96 अंतर्द्वीप में कुभोगभूमि हैं। अतः 96 कुभोगभूमियाँ हैं। इन 170 आर्यखण्ड में 850 स्लेच्छखण्डों में, 30 भोगभूमियों में

और 96 कभोगभूमियों में रहने वाले मनुष्य निवृत्यपर्याप्तक औरूह पर्याप्तक के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस तरह मनुष्यों के आठ भेद होते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तक मानव, नारकी देव

संमुच्छ्रिया मणुस्सा अज्जव-खंडेसु होंति णियमेणा।

ते पुण लद्धि-अपुण्णा णारय-देवा वि ते दुविहाण (133) का.प्रे.

अर्थ-सम्मूर्छन मनुष्य नियम से आर्यखण्डों में ही होते हैं। और वे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। तथा नारकी और देव निवृत्यपर्याप्तक और पर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

भावार्थ-एक सौ सत्तर आर्यखण्डों में ही सम्मूर्छन मनुष्य नियम से होते हैं, आर्यखण्ड के सिवा अन्य भोगभूमि आदि में नहीं होते। तथा वे सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। वे सम्मूर्छन मनुष्य कहाँ उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भगवती आराधना में देते हुए बतलाया है कि वीर्य में, नाक के सिंघाणकों में, कफ में, दाँत के मैल में, कान के मैल में और शरीर के अत्यंत गंदे प्रदेशों में तुरन्त ही सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं। अस्तु, इस प्रकार मनुष्य की अपेक्षा जीव समास के तथा नारकी भी पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त की अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं। और भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देव भी पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त की अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं। इस तरह तिर्यचों के पिचासी, मनुष्यों के नौ और नारकी तथा देवों के चार ये सब मिलकर जीवसमास के 98 अठानवें भेद होते हैं। जिनके द्वारा अथवा जिनमें जीवों का संक्षेप से संग्रह किया जाता है उन्हें जीवसमास कहते हैं सो इन 98 जीवसमासों में सब जीवों (संसारी का समावेश हो जाता है)।

पर्याप्ति के भेद एवं लक्षण

आहार सरीरिंदिय-णिस्सासुस्सासं भास-मणसाणं।

परिणइ-वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ।। (137) का.प्रे.

अर्थ-आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के व्यापारों में परिणमन करने की जो शक्तियाँ हैं वे छः ही हैं।

भावार्थ-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के व्यापारों में

अर्थात् प्रवृत्तियों में परिणमन करने की जो शक्तियाँ हैं उन्हीं को पर्याप्ति कहते हैं। वे छः ही हैं। पाँच नहीं है। उनका स्वरूप इस प्रकार है। पर्याप्ति नामकर्म के उदय से विशिष्ट आत्मा के, औदारिक शरीर के उदय के प्रथम समय से लेकर इन तीनों शरीरों और छः पर्याप्तियों रूप होने के योग्य पुद्गल स्कंधों को, खल भाग और रस भाग रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं। 1॥ तथा जिन स्कंधों को खल रूप परिणमाया हो उनको अस्थि आदि कठोर अवयव रूप और जिनको रस रूप परिणमाया हो उसको रूधिर जादि द्रव अवयव रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं। 2॥ ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा के जाति नामकर्म के उदय के अनुसार योग्य देश में स्थित रूप आदि विषयों को ग्रहण करने की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। 3॥ उच्छ्वासनिःश्वास नामकर्म का उदय होने पर आहार वर्गणा रूप में ग्रहण किये गये पुद्गल स्कंधों को श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को उच्छ्वासनिःश्वास पर्याप्ति कहते हैं। 4॥ स्वर नामकर्म का उदय होने से भाषा वर्गणा रूप से ग्रहण किये गये पुद्गल स्कंधों को सत्य, असत्य, उभय और अनुभय भाषा रूप से परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं। 5॥ मनोवर्गणा रूप से ग्रहण किये गये पुद्गल स्कंधों को अंगोपांग नामकर्म के उदय की सहायता से द्रव्यमन रूप से परिणमाने की, तथा उस द्रव्यमन की सहायता से और नोइन्द्रियावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने से गुण दोष का विचार व स्मरण आदि व्यापार रूप भावमन की शक्ति की पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं। 6॥ पर्याप्ति का आरंभ कैसे होता है और उसके पूरे होने में कितना समय लगता है ? इन बातों को गोम्मटसार में इस प्रकार बतलाया है- पर्याप्तियों का आरंभ तो एक साथ होता है किन्तु उनकी समाप्ति क्रम से होती है। तथा प्रत्येक पर्याप्ति के पूर्ण होने में अंतर्मुहूर्त काल लगता है और वह अंतर्मुहूर्त उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होता है। किन्तु सामान्य से एक अंतर्मुहूर्त काल में सब पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं। आशय यह है कि शरीर नामकर्म का उदय होते ही जीव के अपने योग्य समस्त पर्याप्तियों का आरंभ एक साथ हो जाता है और समाप्ति पहले आहारपर्याप्ति की होती है, फिर शरीरपर्याप्ति की होती है, फिर इन्द्रियपर्याप्ति की होती है इस तरह क्रम से समाप्ति होती है और सब पर्याप्तियाँ एक अंतर्मुहूर्त में

निष्पन्न हो जाती हैं।

तस्सवे कारणाणं पुग्गलं-खंधाण जा हु णिप्पती।

सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं।। (135) कार्ति. प्रे.

अर्थ- उस शक्ति के कारण जो पुद्गल स्कंध हैं उन पुद्गल स्कंधों की निष्पत्ति को ही जिनेन्द्र देव ने पर्याप्ति कहा है। उस पर्याप्ति के छः भेद हैं।

भावार्थ- ऊपर जो जीव की छः शक्तियाँ हैं उन शक्तियों के हेतुभूत जिन पुद्गल स्कंधों को आहार आदि वर्गणा रूप से जीव ग्रहण करता है उन पुद्गल स्कंधों का शरीर आदि रूप से परिणत हो जाना ही पर्याप्ति है। आशय यह है कि पहली गाथा में शक्ति रूप पर्याप्ति को बतलाया है और इस गाथा में उन शक्तियों का कार्य बतलाया है। जैसे, आहार वर्गणा के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल स्कंधों को खल भाग और रस भाग रूप करने की जीव की शक्ति की पूर्णता का नाम आहारपर्याप्ति है। वह पर्याप्ति शक्ति रूप है। और इस शक्ति के द्वारा पुद्गल स्कंधों को खल भाग और रस भाग रूप कर देना यह कार्य रूप पर्याप्ति है। अथवा यह कहना चाहिये कि यह उस शक्ति का कार्य है। इसी तरह छहों पर्याप्तियों में समझ लेना चाहिये।

निर्वृत्यपर्याप्त काल एवं पर्याप्त काल

पज्जत्तिं गिण्हंतो मणु-पज्जत्तिं ण जाव समणोदि।

ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण-पुण्णो भण्णदे पुण्णो।। (139) का.प्रे.

अर्थ-जीव पर्याप्ति को ग्रहण करते हुए जब तक मनःपर्याप्ति को समाप्त नहीं कर लेता तब तक निर्वृत्यपर्याप्त कहा जाता है। और जब मनःपर्याप्ति को पूर्ण कर लेता है तब पर्याप्त कहा जाता है।

भावार्थ-पर्याप्ति को ग्रहण करता हुआ जीव जब तक मनःपर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर लेता तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक कहा जाता है। और जब मनःपर्याप्ति को पूर्ण कर लेता है तब पूर्ण पर्याप्तक कहा जाता है। किन्तु नेमिचंद्र आदि कुछ आचार्य पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त के काल का विभाग इस प्रकार बतलाते हैं- 'पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से निष्ठित होता है। जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक यह निर्वृत्यपर्याप्त कहा जाता है। आशय यह है कि निर्वृत्यपर्याप्तक के भी पर्याप्त नामकर्म का ही उदय

होता है। अतः पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर एकेन्द्रिय जीव अपनी चार पर्याप्तियों को पूर्ण करने की शक्ति से युक्त होकर उनको पूरा करने में लग जाता है, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपनी पाँच पर्याप्तियों को पूर्ण करने की शक्ति से युक्त होकर उन पाँचों को पूरा करने में लग जाते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपनी छः पर्याप्तियों को पूरा करने की शक्ति से युक्त होकर उन छहों को पूरा करने में लग जाते हैं। और जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, अर्थात् शरीर पर्याप्ति के अंतर्मुहूर्त काल में एक समय कम काल तक वे जीव निवृत्यपर्याप्त कहे जाते हैं। क्योंकि निवृत्ति अर्थात् शरीर की निष्पत्ति से जो अपर्याप्त यानि अपूर्ण होते हैं उन्हें निवृत्यपर्याप्त कहते हैं ऐसी निवृत्यपर्याप्त शब्द की व्युत्पत्ति है।

सारांश यह है कि यहाँ ग्रंथकार ने सैनी पंचेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से कथन किया है; क्योंकि मनःपर्याप्ति उसी के होती है। किन्तु अन्य ग्रंथों में 'जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक जीव निवृत्यपर्याप्त होता है' ऐसा कथन सब जीवों की अपेक्षा से किया है।

लब्ध्यपर्याप्त का स्वरूप

उस्सासट्टारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि।

एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु।। (137) का.प्रे.

अर्थ- जो जीव श्वास के अठारहवें भाग में मर जाता है और एक भी पर्याप्ति को समाप्त नहीं कर पाता, उसे लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं।

भावार्थ-वह जीव लब्ध्यपर्याप्तक है जो एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता और एक श्वास के अट्टारह भागों में से एक भाग में ही मर जाता है। गोम्मटसार में भी कहा है-अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर जीव अपनी-अपनी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता और अंतर्मुहूर्त में मर जाता है। उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। अर्थात् एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर वे जीव अपनी-अपनी चार, पाँच या छः पर्याप्तियों में से एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर पाते। तथा श्वास के अट्टारहवें भाग प्रमाण अंतर्मुहूर्त काल में ही मर जाते हैं। उन जीवों को

लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। क्योंकि लब्धि अर्थात् अपनी-अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण करने की योग्यता जो अपर्याप्त अर्थात् अपूर्ण हैं वे लब्ध्यपर्याप्त हैं-ऐसी लब्ध्यपर्याप्त शब्द की व्युत्पत्ति है। एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में निरंतर जन्ममरण का काल गोम्मतसार में तीन गाथाओं के द्वारा इस प्रकार कहा है- एक अंतर्मुहूर्त काल में क्षुद्र अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त जीव 66336 बार मरता है और 66336 बार ही जन्म लेता है। (1) उन छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्र भवों में से 66132 बार तो लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रियों में जन्म लेता है। जिसका खुलासा इस प्रकार है-कोई एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भव के प्रथम समय से लेकर उच्छ्वास के अट्टारहवें भाग प्रमाण अपनी आयु पूरी करके पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में ही उत्पन्न हुआ। और उच्छ्वास के अट्टारहवें भाग काल तक जीकर मर गया और पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुआ। इस तरह यदि वह निरंतर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त में ही बार-बार जन्म लेता है तो 66132 बार से अधिक जन्म नहीं ले सकता। इसी तरह दोइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों में 80 बार, तेइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों में 60 बार, चौइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों में 40 बार और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों में 24 बार, उसमें भी मनुष्य लब्ध्य पर्याप्तक में आठ 8 बार, असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में 8 बार, और संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में आठ 8 बार इस तरह मिलकर पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में चौबीस बार निरंतर जन्म लेता है। इससे अधिक जन्म नहीं ले सकता। एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के निरंतर क्षुद्र भवों की संख्या जो 66132 बतलाई है उसका विभाग स्वामी की अपेक्षा से इस प्रकार है-पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय और साधारण वनस्पतिकाय ये पाँचों बादर और सूक्ष्म के भेद से 10 दस होते हैं। इनमें प्रत्येक वनस्पति को मिलाने से ग्यारह होते हैं। इन ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से एक-एक भेद में 6012 निरंतर क्षुद्र भव होते हैं। अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त जीव जो एकेन्द्रिय पर्याय में 66132 भव धारण करता है उन भवों में 6012 भव पृथ्वीकाय में धारण करता है, 6012 भव जलकाय में धारण करता है, 6012 भव तेजकाय में धारण करता है। इस तरह एकेन्द्रिय के ग्यारहों भेदों में 6012, 6012 बार जनम लेता और मरता है। इस प्रकार एक अंतर्मुहूर्त काल में लब्ध्यपर्याप्तक जीव 66336 बार जन्म लेता है, और उतनी ही बार मरता है।

गाथा 137 की संदृष्टि का खुलासा इस प्रकार है-

(1) पृथ्वीकायिक सूक्ष्म के भव 6012+(2) पृथ्वीकायिक बादर के भव 6012+(3) जलकायिक सूक्ष्म के भव 6012+(4) जलकायिक बादर के भव 6012+(5) तेजकायिक सूक्ष्म के भव 6012+(6) तेजकायिक बादर के भव 6012+(7) वायुकायिक सूक्ष्म के भव 6012+(8) वायुकायिक बादर के भव 6012+(9) साधारणकायिक सूक्ष्म के भव 6012+(10) साधारणकायिक बादर के भव 6012+(11) प्रत्येक वनस्पतिकायिक के भव 6012=66132 + दोइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 80+तेइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक 60+ चौइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 40+ पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 24=66336॥ ये 66336 भव एक अंतर्मुहूर्त में होते हैं। (1) अतः एक भव का काल एक उच्छ्वास का अठारहवाँ भाग है तो 66336 भव का काल कितने उच्छ्वास होगा ? ऐसा त्रैशिक करने पर 66336 में 1/18 का भाग देने से लब्ध 3685 1/3 होता है सो इतने उच्छ्वास में 66336 भवलब्ध्यपर्याप्तक जीव धारण करता है। एक अंतर्मुहूर्त में 3773 उच्छ्वास होते हैं। अतः 3685 1/3 उच्छ्वास एक-एक अंतर्मुहूर्त में हुआ-यदि 1/18 उच्छ्वास में 1 भव धारण करता है तो 3685 1/3 उच्छ्वास में कितने भव धारण करेगा ऐसा त्रैशिक करने पर 3685 1/3 में 18 का गुणा करने से 66336 भव होते हैं। (3)-यदि छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव का काल 3685 1/3 उच्छ्वास है तो एक भव का काल कितना है ऐसा त्रैशिक करने पर 66336 से 3685 1/3 उच्छ्वास में भाग देने से एक भव का काल 1/18 उच्छ्वास आता है। (4) यदि 3685 1/3 उच्छ्वास में 66336 भव धारण करता है तो 1/18 उच्छ्वास में कितने भव धारण करेगा ? ऐसा त्रैशिक करने पर उत्तर एक भव आता है।

पर्याप्त एवं लब्ध्यपर्याप्त जीवों की पर्याप्तियाँ

लद्धियपुण्णे पुण्णं पज्जत्ती एयक्ख-वियल-सण्णीणं।

चदु-पण-छक्कं कमसो पज्जत्तीए वियाणेह॥ (138) का.प्रे.

अर्थ- लब्ध्यपर्याप्त जीव तो अपर्याप्तक होता है अतः3 उसके पर्याप्ति नहीं है। एकेन्द्रिय, विकेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के क्रम से चार, पाँच और छः पर्याप्तियाँ जानो।

भावार्थ-लब्ध्यपर्याप्तक जीव के किसी पर्याप्ति की पूर्ति नहीं होती; क्योंकि वह अपर्याप्तक है। अतः लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के पर्याप्ति का कथन इतने से ही पूर्ण हो जाता है। पर्याप्तक जीवों में एकेन्द्रिय के आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वासपर्याप्ति ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास और भाषा मन ये छः पर्याप्तियाँ होती हैं।

बादर एवं सूक्ष्म जीव

बादर सुहुमुदयेण य बादर सुहुमा हवंति तदेहा।

घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं।। (183)

गाथार्थ- बादर व सूक्ष्म नाम कर्मोदय से उन पृथ्वीकायिक आदि जीवों का शरीर बादर व सूक्ष्म होता है घात लक्षण वाला शरीर बादर (स्थूल) होता है, और अघात लक्षण वाला शरीर सूक्ष्म होता है।

(Their bodies are gross or fine through the operation of gross and fine-body-making Karmas.) Obstructive,(ghata)body is gross, while non-obstructive(aghata) body is fine.

Commentary : Ghata sharira, an obstructive body is a gross body which obstructs and is obstructed by other objects. A body which neither obstruct nor is obstructed by other objects is aghata sharira non-obstructive or a fine body. A fine body can pass through any kind of matter.

Gross bodies are called destructible or obstructive because they alone can destroy each other. Fine bodies are in destructible or non-obstructive because nothing can kill them and they can kill nothing. They die a natural death at the exhaustion of their age karma. They pervade throughout the whole universe.

विशेषार्थ-स्थायर जीव दो प्रकार के हैं-बादर व सूक्ष्म। जिनके जीवविपाकी बादर नामकर्म का उदय है, बादर जीव हैं। जिनके सूक्ष्म जीवविपाकी नामकर्म का उदय है, वे सूक्ष्म जीव हैं। बादर जीवों का शरीर भी बादर होता है और सूक्ष्म जीवों का शरीर भी सूक्ष्म होता है।

शंका-बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची है और स्थूलता का स्वरूपनियत

नहीं है, अतः यह ज्ञात नहीं होता कि कौन-कौन जीव स्थूल है। जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं, वे स्थूल हैं, यदि ऐसा कहा जाए तो भी नहीं बनता, क्योंकि ऐसा मानने पर जो स्थूल जीव चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने के योग्य नहीं है, उनके सूक्ष्मपन की प्राप्ति हो जाएगी। जिनका चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता उनको बादर मान लेने पर सूक्ष्म और बादर में कोई भेद नहीं रह जाएगा।

समाधान- नहीं, क्योंकि यह आशंका आगम के स्वरूप की अनभिज्ञता की द्योतक है। वह बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु बादर नामकर्म का वाचक है। इसलिए बादर नामकर्म के उदय के संबंध से जीव भी बादर हो जाता है।

शंका- शरीर की स्थूलता को उत्पन्न करने वाले कर्म को बादर और सूक्ष्मता को उत्पन्न करने वाले कर्म को सूक्ष्म कहते हैं। तथापि जो चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है, वह सूक्ष्म शरीर है और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह बादर शरीर है। अतः सूक्ष्म और बादर कर्म के उदय वाले सूक्ष्म और बादर शरीर से युक्त जीवों को सूक्ष्म और बादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ जो चक्षु से गाह्य हैं, वे बादर हैं और जो चक्षु से अग्राह्य हैं, वे सूक्ष्म हैं। यदि यह लक्षण न माना जाए तो सूक्ष्म और बादर में कोई भेद नहीं रह जाता।

समाधान- ऐसा नहीं है, क्योंकि स्थूल तो हो और चक्षु से ग्रहण करने योग्य न हो, इस कथन में कोई विरोध नहीं है।

शंका- सूक्ष्म शरीर से असंख्यातगुणी अधिक अवगाहना वाले शरीर को बादर कहते हैं और उस शरीर से युक्त जीवों को उपचार से बादर कहते हैं। अथवा बादर शरीर से असंख्यागुणी हीन अवगाहना वाले शरीर को सूक्ष्म कहते हैं। उस सूक्ष्म शरीर से युक्त जीव को उपचार से सूक्ष्म कहते हैं।

समाधान- यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सबसे जघन्य बादर शरीर से सूक्ष्म नामकर्म के द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीर की अवगाहना असंख्यातगुणी होने से उपर्युक्त कथन में अनेकांत दोष आता है। इसलिए जिन जीवों के बादर नामकर्म का उदय पाया जाता है वे बादर हैं और जिनके सूक्ष्म नामकर्म का उदय पाया जाता है, वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका-सूक्ष्म नामकर्म के उदय और बादर नामकर्म के उदय में क्या भेद हैं?

समाधान-बादर नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त-पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को धारण करता है और सूक्ष्म नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त-पदार्थों के द्वारा आघात नहीं होने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है यही इन दोनों में भेद है।

शंका- सूक्ष्म जीवों का शरीर सूक्ष्म होने से ही अन्य मूर्त द्रव्यों के द्वारा आघात को प्राप्त नहीं होता है, अतः मूर्त द्रव्यों के साथ प्रतिघात का नहीं होना सूक्ष्म नामकर्म के उदय से नहीं मानना चाहिए ?

समाधान-नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात को नहीं प्राप्त होने से सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त होने वाले सूक्ष्म शरीर से असंख्यागुणे हीन अवगाहना वाले और बादर नामकर्म के उदय से बादर संज्ञा को प्राप्त होने वाले बादर शरीर की सूक्ष्मता के प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त-पदार्थों से प्रतिघात नहीं होगा, ऐसी आपत्ति आएगी।

शंका-आ जाने दो ?

समाधान-नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय में कोई विशेषता नहीं रह जाएगी।

शंका- सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्म शरीर को उत्पन्न करने वाला है, इसलिए इन दोनों के उदय में भेद है ?

समाधान-नहीं, क्योंकि सूक्ष्म शरीर से भी असंख्यागुणी हीन अवगाहना वाले और बादर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए बादर शरीर की उपलब्धि होती है।

इस उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त-पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता है, ऐसे शरीर का निर्माण करने वाला सूक्ष्म नामकर्म है और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त-पदार्थों से प्रतिघात को प्राप्त होने वाले शरीर को निर्माण करने वाला बादर नामकर्म है।

पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकार के हैं बादर और सूक्ष्म अर्थात् बादर पृथ्वीकायिक और सूक्ष्म पृथ्वीकायिक। जलकायिक जीव दो प्रकार के हैं बादर जलकायिक और सूक्ष्म जलकायिक। अग्निकायिक जीव दो प्रकार के हैं। बादर अग्निकायिक और सूक्ष्म अग्निकायिक। वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं बादर वायुकायिक और सूक्ष्म वायुकायिक।

चारों स्थावरों के शरीर की अवगाहना और आश्रय

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स बिंदमाणं तु।

आधारे थूला ओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा।। (184)

गाथार्थ- हे भव्यों! बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के चारों स्थावर जीवों की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। स्थूल अर्थात् बादर जीव आधार की अपेक्षा रखता है किन्तु सूक्ष्म जीव व्यवधान के बिना सर्वत्र भरे हुए हैं।

(Know) thou(that) their bodies (are equal to) an innumerable part of a cubic figure. Gross bodies need support but fine bodies need no support and exist everywhere (in the universe) with nothing intervening between them.

Commentary : The physical size of such souls is so small that a grain of earth, a drop of water, a tiny flame, or a breath of wind, contains numberless embodied souls.

From the smallest underloppable fine air bodied being up to the largest developable gross earth bodied being there are 42 stages of different sizes body. For their various degrees. See table Gathas 97 to 101.

The host souls, Nigoda vegetables which derive support from the host-individual-souled vegetables are all gross-bodied and not fine-bodied, which need no support.

विशेषार्थ- आठ यव से द्रव्य अंगुल निष्पन्न होता है, उसको तीन बार परस्पर गुणित करने से घनांगुल हो जाता है। उस द्रव्य घनांगुल से जितने आकाश के प्रदेश हों, उन प्रदेशों के असंख्यात खण्ड करने पर उनमें से एक खण्ड, अंगुल का असंख्यातवाँ भाग होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक बादर व सूक्ष्म जीवों के शरीर की उतनी अवगाहना होती है अर्थात् घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाशप्रदेशों को उक्त जीवों का शरीर रोककर ठहरता है।

शंका- घनांगुल प्रमाण आकाशप्रदेशों का भागहार क्या है ?

समाधान- पल्य का असंख्यातवाँ भाग।

शंका- यह जघन्य अवगाहना का प्रमाण है या उत्कृष्ट अवगाहना का ?

समाधान-सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त जीव की जघन्य शरीर अवगाहना से लेकर बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट शरीर अवगाहना से लेकर बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट शरीर अवगाहना पर्यन्त जितनी भी शरीर अवगाहना है अर्थात् बादर व सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की सर्व शरीर अवगाहनाओं का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है।

शंका-सब शरीरों की अवगाहना भिन्न-भिन्न होती है, उन सबका प्रमाण एक कैसे हो सकता है ?

समाधान-अंगुल के असंख्यातवें भाग के असंख्यात भेद हैं, क्योंकि असंख्यात संख्या भी असंख्यात प्रकार की होती है। सामान्य दृष्टि से वे सब अंगुल के असंख्यातवें भाग हैं तथापि विशेष दृष्टि से उनमें परस्पर हीनाधिकता है।

शंका-विशेषरूप हीनाधिकता है या गुणाकार रूप हीनाधिकता है ?

समाधान-विशेष रूप हीन-अधिकता भी है और गुणाकार रूप हीन-अधिकता भी है। यह पूर्व में शरीर अवगाहना के कथन से स्पष्ट है।

शंका-अंगुल के असंख्यातवें भाग में गुणाकार वृद्धि होने पर भी अंगुल का असंख्यातवाँ भाग ही बना रहता है यह कैसे संभव है ?

समाधान-अंगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्यातगुणी वृद्धि होने पर पूर्व की अपेक्षा प्रमाण में वृद्धि होती है, तथापि असंख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध होता है, उसका प्रमाण भी अंगुल का असंख्यातवाँ भाग ही होता है। जैसे 4 संख्या 100 संख्या का संख्यातवाँ भाग है। चार को संख्यात (5) से गुणा करने पर भी जो संख्या (4X5=20) प्राप्त होती है, वह भी 100 संख्या का संख्यातवाँ भाग है।

जो बादर शरीर है वे अन्य के आधार से रहते हैं जैसे बादर जीव वातवलय के, आठ पृथ्वियों के तथा विमान पटलों के आश्रय से रहते हैं, जिससे वे नीचे न गिर जावें। और जो सूक्ष्म शरीर है वे जल, स्थल आदि में अर्थात् लोकाकाश में सर्वत्र पाये जाते हैं, क्योंकि वे व्याघात से रहित हैं।

बादर जीव लोक के एकदेश में रहते हैं परन्तु लोक का एकप्रदेश भी सूक्ष्म जीवों से रहित नहीं है।

शंका-यदि सूक्ष्म जीवों का शरीर व्याघात से रहित है तो वे लोकाकाश के बाहर क्यों नहीं पाए जाते ?

समाधान-जहाँ तब धर्मास्तिकाय है वहाँ तक ही जीव-पुद्गलों का गमन पाया जाता है। गमन में बाह्य सहकारी कारण धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश के बाहर जीव-पुद्गलों का गमन संभव नहीं है।

वनस्पति स्थावर काय

उदये तु वणष्फदिकम्मस्स य जीवा वणष्फदि होंति।

पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेय।। (185)

गाथार्थ-वनस्पति कर्मोदय से जीव वनस्पति होता है। वह वनस्पति प्रत्येक और सामान्य (साधारण) के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की होती है। प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति।

By the operation of the vegetable body-making Karma. souls become vegetable bodied. (They are individual) (Pratyeka) (i.e. one body one soul) or common (Samanya or Sadharana i.e. one body many souls). Individuals (are) host (Pratisthita with common Sadharan, parasites or the other(i.e. non-host Apratisthita without common (Sadharana)(parasites)

विशेषार्थ-स्थावर नामकर्म के उत्तर भेद पाँच हैं। पृथ्वी, अप्(जल), तेज (अग्नि), वायु और वनस्पति। इन पाँचों में से वनस्पति स्थावर नाम कर्मोदय से जीव वनस्पतिकायिक होता है। जिनके प्रत्येक शरीर नाम कर्मोदय से प्रत्येक शरीर होता है वे प्रत्येक वनस्पति हैं। जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है वे प्रत्येक शरीर जीव हैं जैसे खैर आदि वनस्पति। एक जीव के एक शरीर होता है। जिस एक शरीर में अन्य अनंत वनस्पतिकायिक निवास करते हैं उसे प्रतिष्ठित कहते हैं।

शंका-प्रत्येक शरीर का इस प्रकार लक्षण करने पर पृथ्वीकायिक आदि पाँचों स्थावरों के शरीरों की भी प्रत्येक शरीर संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

समाधान- यह आशंका आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि पृथ्वीकाय आदि को प्रत्येक शरीर मानना इष्ट ही है।

शंका-तो फिर पृथ्वीकाय आदि के साथ भी प्रत्येक विशेषण क्यों नहीं लगाया ?

समाधान- नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वनस्पतियों में प्रत्येक वनस्पति से निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पाई जाती है, उस प्रकार पृथ्वी आदि में प्रत्येक शरीर से भिन्न अर्थात् साधारण शरीर ऐसा कोई भेद नहीं पाया जाता, इसलिए पृथ्वी आदि में वह विशेषण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शंका-प्रत्येक वनस्पति में बादर और सूक्ष्म ये दो विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिए प्रत्येक वनस्पति को अनुभयपना प्राप्त हो जाता है। परन्तु बादर और सूक्ष्म इन भेदों को छोड़कर अनुभयरूप कोई तीसरा विकल्प पाया नहीं जाता है, इसलिए अनुभयरूप विकल्प के अभाव में प्रत्येक शरीर वनस्पतियों का भी अभाव प्राप्त हो जाएगा।

समाधान- ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति का बादर रूप से अस्तित्व पाया जाता है, इसलिए उसका अभाव नहीं हो सकता।

शंका- प्रत्येक वनस्पति को बादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति का दूसरे रूप से अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए बादर रूप से उसके अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

शंका- प्रत्येक वनस्पति में यद्यपि सूक्ष्मता-विशिष्ट जीव की सत्ता संभव है, क्योंकि सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप से उसकी सिद्धि हो जाती है। इसलिए यह सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप अनैकांतिक है।

समाधान- नहीं, क्योंकि बादर यह लक्षण उत्सर्ग रूप (व्यापक) होने से संपूर्ण प्राणियों में पाया जाता है। इसलिए प्रत्येक वनस्पति जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि जिस प्रकार साधारण शरीर में उत्सर्ग विधि की बाधक अपवाद विधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरों में बादर भेद के अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक वनस्पति में अपवाद विधि नहीं पाई जाती। उसमें सूक्ष्म भेद का सर्वथा अभाव है।

शंका-प्रत्येक वनस्पति में बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान-नहीं, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति और त्रसों में बादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते, इसलिए सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता, क्योंकि आगम के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सूक्ष्मत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्ष आदि से अप्रसिद्ध सूक्ष्म को बादर की तरह उत्सर्ग मानने में विरोध आता है।

बादर निगोद से प्रतिष्ठित वनस्पति, सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

शंका-जो बादर निगोद से प्रतिष्ठित है ऐसी कौनसी वनस्पतियाँ हैं ?

समाधान-थूहर, अदरक और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं।

बीज आदि की अपेक्षा वनस्पति के

भेद तथा सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित

मूलगगपोरबीजा खंदा तह खंदबीजरूहा।

समुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य।। (186)

गाथार्थ- मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज, स्कंधबीज, बीजरूह और सम्मूर्च्छिम ये सब वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक के भेद से दोनों प्रकार की कही गई हैं।

जीवों को दुःख प्राप्ति के कारण

अण्णोण्णं खज्जंता जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।

णहु तेसिं पज्जन्ति कहपावइ धम्ममदिसुण्णो।। (7)(कल्याण आ.)

पद्य- परस्पर में क्रोधित हो जीव पाते हैं दारुण दुःख।

पर्याप्ति भी न पाते वे कैसे पायेंगे धर्म वे मतिशून्य।।

जीव एकाकी दुःख सहन करते

मायापिया कुडुंबो सुजणजण कोवि णायदि सत्थे।

एगागी भमदि सदा णहि वीओ अत्थि संसारे।। (8) (कल्याणा.)

पद्य- माता-पिता-कुटुम्बी स्वजन कोई भी न आते साथ।

एकाकी भ्रमता सदा नहीं द्वितीय होता है संसार में।।

समीक्षा- स्वयं ही जीव जो कर्म करता उसका स्वयं ही भोक्ता होता।

स्व-उपार्जित कर्मफल को अन्य कोई माता-पितादि न भोगते।।

भले निगोद में एक शरीर में रहते हैं अनन्तानन्त जीव।
एक समान आहारादि होते तथापि दुःखादि स्वयं ही भोगते।।
ऐसा ही हर गति के जीव स्व-स्व कर्मार्जित फल भोगते।
जैसा जो विष पीते वे ही पीड़ा से ले मृत्यु को पाते।।

नन्दौड़ दि. 20.10.2018 रात्रि 12:55

सन्दर्भ-

एकत्व अनुप्रेक्षा

बार बार होने वाले जन्म, जरा, मरणों के महादुःखों के अनुभव के लिये सहायता की अपेक्षा न रखना एकता और अनेकत्व ये दोनों ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से 4 प्रकार के हैं (चारित्र)

द्रव्य एकत्व जीवादिक पदार्थ में से किसी एक पदार्थ के विषय को लेकर अभेद बुद्धि रखना द्रव्य एकत्व है।

क्षेत्रएकत्व परमाणु के रहने योग्य प्रदेश के क्षेत्र एकत्व है।

कालएकत्व अभेद रूप समय को कालएकत्व कहते हैं।

भावएकत्व मोक्ष मार्ग को भाव एकत्व कहते हैं।

अनेकत्व जिस प्रकार अभेद विषय को एकत्व कहते हैं उसी प्रकार भेद विषय को अनेकत्व कहते हैं। संसार में न तो कोई भी पदार्थ एक है और न अनेक ही है किन्तु सामान्य की अपेक्षा से एक है और विशेष की अपेक्षा से अनेक है। जिस जीव ने बाह्य अभ्यंतर उपाधियों का त्याग कर दिया है तथा सम्यग्ज्ञान से एकत्व का निश्चय कर लिया है उसके एक यथाख्यात चारित्र की वृत्ति धारण करने से मोक्षमार्ग के भाव प्रगट होते हैं इसीलिए उसके वह एकत्व कहलाता है। उस एकत्व की प्राप्ति के लिए “इस संसार में मैं अकेला हूँ” “स्व” और “पर” मेरा कोई नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। स्वजन और परजन कोई मनुष्य भी मेरी व्याधियाँ-बुढ़ापा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता। बन्धु, मित्र आदि शमशान से आगे नहीं जा सकते। एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा “इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तवन करने से अपने कुटुम्बी लोगों से प्रेम नहीं

बढ़ता और अन्य लोगों में द्वेष नहीं बढ़ता। इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव होने से निःसंगता बढ़ती है और निःसंगता बढ़ने से मोक्ष प्राप्त होता है।

सयणस्स परिणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो।

वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ समं एदि।। (700) मूलाचार 2

भतीजा, चाचा आदि स्वजन हैं। दास, दासी, मित्र आदि परिजन हैं। इनके मध्य में भी यह जीव असहाय है। अकेला ही यह जीव व्याधि से पीड़ित होता है, अकेला ही दुःखी होता है, रोता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अन्य कोई भी जन इसके साथ परलोक नहीं जाते।

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दहिसंसारे।

एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं।। (701)

यह जीव अकेला ही शुभ अशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है। अकेला ही जन्म और मरण करता है। इस तरह एकत्वभावना का चिन्तवन करो। यह एकत्व भावना हुई।

महाव्यसनसंकीर्णं दुःखज्वलनदीपिते।

एकाव्येव भ्रमत्यात्मा दर्गं भवमरूस्थले।।(84) ज्ञाना.

भयानक विपत्तियों से व्याप्त और दुःखरूप अग्नि से सन्तप्त इस दुर्गम संसार रूपी मरूस्थल (रेगिस्तान) में यह जीव अकेला ही परिभ्रमण किया करता है।

स्वयं स्वकर्मनिवृतं फल भोक्तुंशुभाशुमभ्।

शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा।। (85)

यह जीव स्वयं किये हुए कर्म का जो शुभ और अशुभ फल निर्मित हुआ है, उसको भोगने के लिए सब योनियों में सब प्रकार से अकेला रहकर असहाय होकर अन्य-अन्य शरीर को ग्रहण किया करता है। अभिप्राय यह है कि प्राणि अपने और कौटुम्बिक जन आदि के निमित्त से जो भी भला बुरा कार्य करता है उससे संचित हुए पुण्य और पाप के फल को एक वही भोगता है, इसमें उसका अन्य कोई भी सहायक नहीं होता है।

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम्।

निर्विशत्ययमेवैकः स्वर्गं श्रीरञ्जिताशय।। (86)

प्राणी, पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से स्वर्ग की लक्ष्मी से मन में अनुरंजित होकर संकल्प के पश्चात् उत्पन्न हुए दिव्य स्वर्गीय सुखरूप अमृत को अकेला ही भोगता है।

संयोग विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा।

सुख दुःखविधौ चास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः॥ (87)

संयोग और वियोग में जन्म और मरण में तथा सुख और दुःख के विधान में इस जीव का दूसरा कोई भी मित्र नहीं है, सहभागी भी नहीं होता है।

वित्तपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम्।

यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते भ्रातृभूमिशु॥ (88)

यह प्राणी धन, पुत्र और स्त्री आदि के निमित्त से जो कर्म करता है उसके दुःख सुख रूप को यह अकेला ही नरकादि पृथिवियों में भोगता है।

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम्।

न तु सोढुं स्वकर्मोत्थां निर्दयां व्यसनावलीम्॥ (89)

स्त्री और पुत्र आदि जो भी इस प्राणी के सहायक होते हैं वे केवल उसके द्वारा उपार्जित धन के भोगने में ही सहायक होते हैं। परन्तु उस धन के संचय में उसने जिस कर्म को उपार्जित किया है उससे उत्पन्न हुए क्रूर दुःखों के समूह के भोगने में उनमें से कोई भी सहायक नहीं होता है।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचन।

भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः॥ (90)

ज्ञानादि रूप नेत्र से रहित होने के कारण अपने निज स्वरूप से अनभिज्ञ यह प्राणी कर्म से ठगा जाकर अकेला ही इस संसार में परिभ्रमण करता है।

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थः स्थिरेतरैः।

तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षः शिवीभवेत्॥ (91)

यह जीव मोहवर्ष होकर जब तक स्थिर और अस्थिर (विनश्चर) पदार्थों के साथ अपनी एकता मानता है ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार की ममत्व बुद्धि रखकर उसको आत्मा से भिन्न नहीं समझता है तब तक वह अपने आपको उनसे स्वयं को बाँधता है।

सब ही बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न समझकर उनमें अनुरक्त नहीं होता है, बन्धन से मुक्त होकर शाश्वतिक सुख का भोक्ता होता है।

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः।

तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते॥(92)

जब मैं विपरीत बुद्धि को छोड़कर बाह्य पर पदार्थों में आत्मबुद्धि न करके एकाकीपन को (अद्वैतभाव को) प्राप्त हो जाता हूँ। उसी समय मेरे संसार का संबन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि जब तक शरीरादि बाह्य पदार्थों को अपना मानकर उनमें मुग्ध रहता है तब तक वह कर्मबन्धन में बद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करता है और इसके विपरीत जब तक शरीरादि को आत्मा से भिन्न मानकर उनकी और से विरक्त होता हुआ आत्मस्वरूप में मग्न होता है, तब वह नवीन कर्मबन्ध से रहित होकर पूर्वसंचित कर्म की निर्जरा करता हुआ मुक्त हो जाता है।

एक स्वर्गो भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृंगः।

एक श्वाभ्रं पिवति कललं छिद्यमानः कृपाणैः॥

एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बधात्यविद्वान्।

एकःसर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति॥ (93)

एक विद्वान् (विवेकी) स्वर्गवासी देव होकर देवांगनाओं के मुखरूप कमल का भ्रमर बन जाता है। उनके साथ दिव्य भोगों को भोगता है, इसके विपरीत एक प्राणी तलवारों से छेदा जाकर नरक के कीचड़ को पीता है-नरक में नारकी होकर (महान्) दुःख को भोगता है, एक अज्ञानी प्राणी क्रोधरूप अग्नि से सन्तप्त होकर कर्म को बांधता है, तथा इसके विपरीत एक जीव समस्त आवरण से (ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से) रहित होकर ज्ञानरूप राज्य का उपभोग करता है-मुक्त होकर अनन्तज्ञानादि से संयुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसा आचरण करता है तदनुसार वह अकेला ही या तो कर्मबन्ध में बँधकर नरकादि गतियों में परिभ्रमण करता या फिर उक्तकर्म बन्ध से रहित होकर निराकुल सुख को भोगता है।

दो में है बंधन विवाह, दो में ही संसार।

एकत्व में सब नशे पाये सच्चिदानंद सार॥ (कनकनदी)

1. उस काम का करना अच्छा नहीं जिसे करके पीछे पछताना पड़े और जिसके फल को रोते हुए भोगना पड़े। (धम्मपद)
2. सादा जीवन और उच्च विचार ही मनुष्य को महानता की ओर ले जाते हैं। (मा.गांधी)
3. जिस प्रकार मैले दर्पण में मुख दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार राग भाव से रंगे हुए हृदय में वीतराग शांत प्रभु का दर्शन नहीं होता, यह सुनिश्चित है। (मुनि गणेश वर्णी-भारवि)

आदहिंदं कादव्वं यदि चेत् पर हिंदं कादव्वं,
आदहिंदं परहिदादं आदहिंदं सुट्टु कादव्वं॥

उत्तमा स्वात्म चिंतास्यान्मोह चिन्ता च मध्यमा,
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिंताऽधमाधमा॥

अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम स्वयं स्व-उपकार करते हुए परोपकार करो। इसके बिना अन्य समस्त प्रपञ्च, ढोंग-पाखण्ड, संक्लेश त्याग करो।

स्वकृत कर्म ही शुभाशुभ

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा-फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं-स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥ (30)

What ever karmas you have performed prefiously, you experience their fruits, whehther good or evil. If what you expericence is caused by another, them the karmas you have performed will clearly be of no effect.

भावार्थ- स्वयं के द्वारा पूर्व में उपार्जित शुभाशुभ कर्म के फल स्वरूप सुख दुःख को जीव अनुभव करता है। यदि अन्य के द्वारा दिये गये कर्म तथा कर्मफल स्वरूप सुख-दुःख को जीव भोगता है तो स्वयं के द्वारा उपार्जित कर्म निरर्थक हो जाएगा।

प्राप्त शिक्षाएँ - “कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि, फलहुँ तस चाखा” के नियमानुसार प्रत्येक जीव स्व-स्व उपार्जित शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार सुख दुःख स्वरूप फल को भोगता है। जैसा कि जो पानी को पीता है

उसकी प्यास बुझती है न कि दूसरों की प्यास बुझती है; जो भोजन करता है उसकी भूख शान्त होती है, दूसरों की नहीं, जो विष पीता है उसकी मृत्यु होती है अन्य की नहीं वैसा ही जो शुभ-अशुभ परिणाम करता है उसके अनुसार उसके आत्म प्रदेश में जो कर्म परमाणु पुण्य-पाप रूप में बन्धते हैं वे ही कर्म योग्य द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार जन्म-मरण, गति, आयु, शरीर, परिवार, भाव, व्यवहार, सहयोगी, साधन आदि की उपलब्धि होती है, सुख-दुख, हानि-लाभ आदि मिलते हैं। जैसा कि द्रव्य-क्षेत्र-कालादि के निमित्त को प्राप्त करके नीम, बबूल, आम, नारियल गेहूँ, धान, चना आदि के बीज से जो वृक्ष बनेंगे उस बीज के अनुसार ही फल-बीज उत्पन्न करेंगे, अन्य बीज के अनुसार नहीं, वैसा ही कर्मानुसार ही जीवों को सुख-दुःखादि मिलता है भले बाह्य निमित्त सहयोगी बनता है न कि प्रमुख कारण।

स्व-कर्म फल चिन्तन से साम्यभाव

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो-न-कोपि कस्यापि ददाति किञ्चन।

विचारयन्नेवमनन्य मानसः- परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।। (31)

Leaving aside the self-gathered karmas as the dweller in the body, no one gives anything to anyone. Think of this with a concentrated mind and give up the idea that their if another who gives.

भावार्थ- अपने द्वारा उपार्जित कर्म को छोड़कर कोई भी किसी भी जीव को कुछ देने में असमर्थ है। नहीं देता है ऐसा विचार कर दूसरा देता है ऐसी बुद्धि को छोड़कर एकाग्रमना हो।

प्राप्त शिक्षाएँ -जब सुनिश्चित हो जाता है कि स्वयं के सुख दुःख के प्रमुख-मूलकारण स्व-उपार्जित कर्म ही है तब उस सुख-दुःख के लिए दूसरों को कारण मानकर उसके प्रति राग-द्वेषात्मक भाव से आकर्षण-विकर्षण नहीं होगा अपितु भाव स्वयं में ही केन्द्रित/स्थिर होगा। कर्म के फल स्वरूप सांसारिक दुःखों से निवृत्ति के लिए कर्मास्रव एवं बन्ध से भी दूर होकर पूर्वार्जित कर्म को नष्ट करने का प्रयत्न होगा। अतएव कर्म सिद्धान्त का परिज्ञान/चिन्तन/अनुसंधान नितान्त आवश्यक है।

लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता, साँप आदि में शूरता-क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं हैं, क्योंकि कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर नर नरकादि गति में विभिन्न दुःखों को भोगता है।

संसार अवस्था में विशेषतः परिणत अवस्था पर्यन्त कर्म की शक्ति जीव से अधिक प्रचण्ड रहती है। यह प्रचण्ड शक्ति केवल सामान्य जीव को कष्ट नहीं देती है किन्तु लोक के विशिष्ट चरम शरीर क्षायिक सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर भगवान् को भी परिणत अवस्था में वैचित्र्य पूर्ण कष्ट देती है। इस प्रचण्ड शक्ति का वर्णन आलंकारिक छटा से गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में करते हैं -

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलित करः कियर इव।

स्वयं सृष्टा-सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।

क्षुधित्वा षणमासान् व किल पुरुरप्याट जगती-

महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः॥ (119)॥

जिस आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाला था, अर्थात् जिसने कर्म भूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधनों से अपरिचित प्रजा के लिये आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी (चक्रवती) था, वह इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थंकर जैसा महापुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमा, यह आश्चर्य की बात है। ठीक है- इस संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है।

वेष्टनोद्वेष्टेन यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।

आवृति परिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः॥ (178)॥

मथनी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सों के बंधने और खुलने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उक्त

रस्सी के खींचने और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसार रूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

दैव (भाग्य) से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि सुख-दुःख, ज्ञान, अज्ञान, कार्य की सफलता, निष्फलता अंगीकार की जाय तो प्रश्न यह उठता है कि भाग्य कैसे बना ? क्यों बना ?

‘स्वयं कृतं कर्मयदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।’

“What ever karmas you have performed perckiously you experience their fruits, whether good or evil.”

यह जीव पूर्व में जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसके फलस्वरूप वह पुरुषार्थ का परिपाकरूप शुभ-अशुभ रूप भाग्य का उपभोग करता है। अर्थात् भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य का भाग्य रूप से परिणमन करता है, जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज की तरह। जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे।

“As we sow we Reap”

पुरुषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव है।

साधारणौ सकल जन्तुषु वृद्धिनाशौ,

जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कर्मयोगात्।

धीमान्स यः सुगति साधनवृद्धि नाश।

स्तद्व्यत्यया द्विगत धीर परोऽभ्यधायि।। (148)।।(आत्मानुशासन)

पूर्व जन्म में संचित किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से जो आयु, शरीर एवं धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि और उनका नाश होता है वे दोनों समस्त प्राणियों में ही समान रूप से पाये जाते हैं। परन्तु जो सुगति अर्थात् मोक्ष को सिद्ध करने वाले वृद्धि एवं नाश को अपनाता है वह बुद्धिमान तथा दूसरा इनकी विपरीतता से दुर्गति के साधन-भूत वृद्धि नाश को अपनाने से निर्बुद्धि (मूर्ख) कहा जाता है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

नाम स्थापना द्रव्य भाव के अवलम्बन के भेद से अन्यत्व 4 प्रकार का होता है। (चरित्रसार) नाम-आत्मा है, जीव है यह नाम भेद है। स्थापना-काष्ठ,

पाषाण आदि से बनायी गयी प्रतिमा स्थापना भेद है। द्रव्य-यह जीव द्रव्य है, अजीव द्रव्य है आदि द्रव्य भेद है। भाव-एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव आदि भाव भेद है। लक्षण-यद्यपि जीव कर्मों का बंध होने से दोनों एक ही रहे हैं तथापि लक्षण भेद से दोनों भिन्न हैं।

जीव ज्ञानोपयोगी और दर्शनोपयोग रूप है तथा पुद्गल अर्थात् कर्म, वर्ण, गंध, रस स्पर्श वाला है। इन लक्षण से दोनों में भेद हुआ।

प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्म परमाणु योगों के निमित्त से आते हैं तथा जीव के प्रदेशों में (दूध पानी के समान) परस्पर एक-दूसरे के प्रदेशों में मिलकर ही एक हो जाते हैं। कषायों के निमित्त से उनमें ठहरने की शक्ति हो जाती है, इसीलिए वे वहीं ठहर भी जाते हैं। इसी प्रकार प्रतिसमय में अनन्तानन्त कर्म पुद्गल जीव को छोड़कर अलग भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह बंध के प्रति भेद सिद्ध होता है। जो कर्म पुद्गल भी बंधन गुण से जीव में दूध पानी के समान एक बन्ध रूप हो जाता है और फिर प्रतिक्षण में निजीर्ण होते जाते हैं। यह जीव स्वयं कर्मों के निमित्त से उनके योग्य शरीर बनाता है परन्तु वह उस शरीर में रहकर जिस प्रकार नख, रोम और दाँतों की हड्डियों में नहीं रहता उसी प्रकार रुधिर, वसा, शुक्ररस, श्लेष्मा पित्त मूत्र, पुरीष (विष्टा) और मस्तिष्क आदि के प्रदेशों में भी नहीं रहता। इस प्रकार यह जीव कर्मों के द्वारा बने हुए शरीर से बिल्कुल भिन्न रहता है। तथा किसी कुशल पुरुष के प्रयोग करने पर (मोक्ष के लिये उद्यम करने पर) शरीर से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जो आत्मा से कभी भिन्न हो नहीं सकते ऐसे ज्ञान आदि अनन्त गुणों के साथ-साथ मोक्ष स्थान में जाकर प्राप्त होता है। उस मोक्ष स्थान के प्राप्त होने के लिये “यह शरीर इन्द्रियमय है मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञान व जड़ स्वरूप है, परन्तु मैं ज्ञान स्वरूप हूँ! यह शरीर अनित्य है मैं नित्य हूँ। शरीर का आदि-अन्त दोनों है। परन्तु मेरा न आदि है और न अन्त है। शरीर में परिभ्रमण करते हुए मेरे बहुत से शरीर व्यतीत हो गये किन्तु मैं ज्यों का त्यों वही बना हुआ हूँ और उन शरीरों से सर्वथा भिन्न हूँ। हे! अंग (हे जीव) यह मेरा आत्मा शरीर से भी भिन्न है फिर धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रहों की तो बात ही क्या है, अर्थात् उनसे तो भिन्न है ही। इस प्रकार मन में चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार मन को समाधान करने वाले इस जीव के शरीर आदि में जो स्पृहा थी उसकी इच्छा

नहीं होती और उन पदार्थों की इच्छा न होने से यह जीव अपने कल्याण में लग जाता है।

अन्य सर्वदा अन्य रहे ताते दुःख साधना।

अप्पासदा रहे ताते सुख खजाना॥(कनकनन्दी)

आयुक्षय होने पर कोई भी आयु देने में असमर्थ

आउक्खएवि पत्ते ण समत्थो कोवि आउदाणेय।

देवेदो ण णरेदो मणिओसह मंतजालाई॥ (09) (कल्याणा)

पद्य- आयु के क्षय होने पर कोई भी आयु देने में असमर्थ।

देवेन्द्र न नरेन्द्र मणि औषध मंत्र समूह आदि भी॥

सन्दर्भ

मरण/(जन्म) व अमृत की आत्मकथा

(चाल: जिया बेकरार है....आत्मशक्ति....)

-आचार्य कनकनन्दी

मरण मेरा नाम है, मारना मेरा काम है।

मेरा साम्राज्य संसारी जीवों में चले अविराम है॥ (स्थायी)

मेरा अस्तित्व अनादि काल से रहेगा अनन्त तक भी।

जो कर्म से मुक्त हो गये, वे ही मुक्त मुझसे भी।

आयुक्षय से होता मेरा जन्म कर्मक्षय से मेरा मरण।

जो कर्म को क्षय करे वे क्षय करे जन्म-मरण॥ (1)

आयु के अनेक भेद-प्रभेद हैं बद्ध्यमान-भुज्यमान भी।

मनुष्य-नारकी-देव तिर्यच भेद में चार भेद भी॥

भुज्यमान मनुष्य आदि की आयुक्षय होता तद्भव मरण है।

हर समय में जो आयुक्षय होता उस का नाम आवीचिमरण है॥ (2)

ऐसे ही मेरे अनेक भेद, अवधि-आदिअन्तमरण है।

बाल-पंडित-आसणमरण, व बालपंडित मरण है॥

ससल्लमरण-बलायमरण-वसट्टु विष्णाणस मरण है।

गिद्धपुट्टुमरण-भक्तप्रत्याख्यान व प्रायोगमनमरण है॥ (3)

इंगिनीमरण-केवलीमरण तथा अन्य पाँच प्रकार भी।

पंडित-पंडित-पंडित मरण-बालपंडित बाल-बाल मरण भी॥

अभव्य जीवों को न मोक्ष होता, वे न मुझसे कभी बच पाते।

उनका मरण सदा बालबालमरण तथाहि मिथ्यादृष्टि के॥ (4)

अविरत सम्यग्दृष्टि के बालमरण पंडित मरण साधु के।

समाधि सहित होता यह मरण, परम्परा से कारण मोक्ष के॥

पंडित पंडित मरण होता क्षीणकषाय एवं अयोग केवली के ।

इस मरण से मिले मोक्ष यहाँ न होते जन्म-जरा मरण है॥ (5)

अकालमरण न देव-नारकी के, तथाहि चरमोत्तम देही के।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले, भोग भूमिज मानव तिर्यच के॥

अन्य जीवों के अकाल मरण संभव है विष वेदना, रक्त क्षय(दुर्घटना) से

अस्त्र प्रहार व भय, संक्लेश, आहार-उश्वास निरोध से॥ (6)

विषाक्त जीवों के काटने से या विषभक्षण करने से।

विषाक्त भोजन व तम्बाखू आदि सेवन व प्रदूषण से॥

मुझे परास्त करने हेतु कर्मक्षय ही सर्वोत्तम है।

अन्य उपायों से मेरा मरण होना नहीं कभी भी संभव है॥ (7)

मुझे मारने का उपाय है आत्मविश्वास ज्ञान-चारित्र्य।

समता-शान्ति आत्मविशुद्धि अतएव 'कनक' इस में सन्नद्ध॥ (8)

मरण के 17 भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।

तत्थ वि य पुण इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि॥ (25) भ.आ.

जिनागम में तीर्थकरों ने मरण सतरह कहे हैं। उन सतरह प्रकार के मरणों में से भी यहाँ (संगहेण) संक्षेप से पाँच मरणों को कहूँगा।

मरण अनेक प्रकार के हैं ऐसा अन्य शास्त्रों में कहा है। उनमें से यहाँ इन मरणों को कहना है यह बतलाने के लिए यह गाथा सूत्र आया है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन शब्दों का अर्थ एक है। वह मरण जीवन पूर्वक होता है। जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति यह सब एकार्थक हैं। स्थितिपूर्वक विनाश

होता है। जिसकी स्थिति नहीं है उसका विनाश नहीं है जैसे बाँझ का पुत्र नहीं होता तो उसका विनाश भी नहीं होता है। क्षणिकवादी बौद्धों ने जिस वस्तु को कहा है उस की स्थिति नहीं है अर्थात् वह वस्तु ही नहीं है। जीवन जन्म पूर्वक होता है। जो उत्पन्न नहीं हुआ उनकी स्थिति नहीं है इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूप को लिए हुए है। इस प्रक्रिया के अनुसार उत्पन्न हुई पर्याय के विनाश का नाम मरण है। देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना, मनुष्यपना, इन पर्याय का विनाश यहाँ मरण शब्द से लिया है। अथवा प्राण छोड़ने का नाम मरण है। कहा भी है मृद् धातु' प्राणत्याग के अर्थ में है। इसी तरह प्राण ग्रहण को जन्म कहते हैं। प्राणों का धारण करना जीवन है। प्राणों के दो भेद हैं-द्रव्यप्राण, भावप्राण। इन्द्रियाँ पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गल द्रव्यप्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भाव प्राण हैं। इन भाव प्राणों की अपेक्षा सिद्धों में जीवन होता है। उन प्राणों में आयु प्राण के दो भेद हैं-अद्भ्यायु और भवायु। भव धारण को भवायु कहते हैं। भव शरीर को कहते हैं। आयु कर्म के उदय से आत्मा भव धारण करता है। अतः आयु कर्म भवधारण रूप है उसे ही भवायु कहते हैं। कहा भी है-शरीर को भव कहते हैं। वह भव आयु कर्म के द्वारा धारण किया जाता है। इसलिये भव धारण में कारण आयु कर्म को भवायु कहते हैं।

इस प्रकार आयु के वश से ही जन्म लेता है और आयु के उदय से ही जीवित रहता है। पूर्व आयु का विनाश और आगे की अन्य आयु का उदय होने पर मरण होता है।

कहा है- आयु के वश से जीव जन्म लेता है। आयु के उदय में जीवित रहता है। अन्य आयु का उदय होने पर अथवा पूर्व आयु का नाश होने पर मरता है।

अद्भ्या शब्द से काल कहा जाता है और आयु शब्द से द्रव्य की स्थिति। अतः द्रव्य कर स्थितिकाल को अद्भ्यायु कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्यों की अद्भ्यायु अनादि निधन है। और पर्यायार्थिक की अपेक्षा चार प्रकार की है अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिसान्त और सादि सान्त। चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, आदि सामान्य की अपेक्षा द्रव्य की स्थिति अनादि अनिधन है। अर्थात् जीवादि द्रव्य का अपना-अपना स्वभाव सदा से ही है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टि से अनादि अनन्त हैं। केवलज्ञान आदि की अद्भ्यायु सादि

अनिधन है क्योंकि वह प्रकट होकर नष्ट नहीं होता। भव्यत्व की अद्भ्यायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योंकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्ति होने पर नष्ट हो जाता है। कोप आदि सादि सनिधन है।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के आश्रय से स्थिति चार प्रकार की होती है। इस अद्भ्यायु के द्वारा भव धारण रूप आयु का कथन होता है। जिन कर्मों की आयु संज्ञा होती है वे कर्म पुद्गलद्रव्य होने से आयु स्थिति द्रव्यस्थिति से अत्यन्त भिन्न नहीं है। अथवा जो आयु संज्ञावाले पुद्गल उदय में आ रहे हैं उनके गल जाने को मरण कहते हैं। वे मरण जिन वचन में तीर्थकरों ने सतरह कहे हैं।

शंका-तीर्थकरों ने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचन के कहने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान-इसमें कोई दोष नहीं है। यहाँ जिन शब्द से गणधर कहे गये हैं। 'च' शब्द के बिना भी समुच्चय रूप अर्थ का ज्ञान होता है। अतः ऐसा सम्बंध लेना और जिन वचन में सतरह मरण कहे हैं। इससे यह बोध होता है कि तीर्थकरों और गणधरों ने मरण के भेद कहे हैं। अतः उन दोनों के वचनों से सिद्ध होने से प्रमाण है उस में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए वे हैं।

(1) आवीचिमरण (2) तद्भवमरण (3) अवधिमरण (4) आदि अन्तमरण (5) बालमरण (6) पंडित मरण (7) आसण्णमरण (8) बालपंडितमरण (9) ससल्लमरण (10) बलायमरण (11) वसट्टमरण (12) विष्णाणसमरण (13) गिद्धपुट्टमरण, (14) भक्तप्रत्याख्यान मरण (15) प्रायोपगमनमरण (16) इंगिनीमरण (17) केवली मरण।

1) आवीचिमरण-वीचि शब्द तरंग को कहता है। किन्तु यहाँ वीचि के समान ऐसा अर्थ करने से वीचिका अर्थ-आयु का उदय है। जैसे समुद्र आदि में तरंगें निरन्तर उठा करती हैं उसी प्रकार क्रम से आयु-नामक कर्म प्रतिसमय उदय में आता है। इसलिए उसके उदय को आवीचि शब्द से कहा है। आयु के अनुभवन को जीवन कहते हैं। वह प्रतिसमय होता है। उसका भंग मरण है। अतः जीवन की तरह मरण भी आवीचि है क्योंकि आयु का उदय प्रतिसमय होता है। अतः प्रत्येक अनन्तर समय में मरण भी होता है। उसी प्रति समय होने वाले मरण को आवीचिमरण कहते हैं। वह भव्य जीवों के अनादिसान्त है।

शंङ्का-सिद्धों के ही मरण का अन्त होता है, दूसरों के नहीं। किन्तु सिद्ध भव्य नहीं हैं। जिनके भविष्य में सिद्धपर्याय होने वाली है उन्हें भव्य कहते हैं। सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्त कर चुके हैं तब कैसे कहते हैं कि भव्यजीवों का मरण अनादिसान्त है ?

समाधान-ऐसा कहा है कि भव्यों का आवीचिमरण अनादि और सान्त है। अतः जो द्रव्य भव्यत्वपर्याय को प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्यों के अनादिसान्त मरण कहा है ऐसा निश्चित है। अभव्यजीवों के सामान्य अपेक्षा से आयु का उदय बराबर रहता है अतः उनका आवीचिमरण अनादिनिधन है। किन्तु भव की अपेक्षा और क्षेत्रादि की अपेक्षा सादि है। चार आयुकर्मों में से यद्यपि एक जीव के दो ही आयुकर्मों की सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है और दूसरी जिसे परभव के लिए बाँधा है)। तथापि उदय एक ही आयु का होता है। दो प्रकृतियाँ सत्ता में एक साथ रह सकती हैं। वहीं कहते हैं-तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु सब आयुओं के साथ सत्ता में रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायु के साथ सत्ता में नहीं रहती; क्योंकि देव मरकर देव या नारकी नहीं हो सकता और न नारकी मरकर नारकी या देव होता है।

शंङ्का-आयुकर्मों की यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयु कर्मों का एकसाथ उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान-आयुकर्म की जिस प्रकृति की स्थिति अनुभव में आ रही है और जिस आयु की स्थिति का उदय हो रहा है उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होती है उसमें ऊपर दूसरी आयु के निषेक रहते हैं। अतः जब तक पहली आयु की स्थिति समाप्त नहीं होती तब तक दूसरी उदय में आ नहीं सकती। इसलिए एक साथ आयु की दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता। तथा एक जीव के एक साथ दो भव या दो गति सम्भव नहीं हैं। और भव तथा गति को लेकर उसके अनुसार आयु का उदय होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिए दो भी आयु का उदय एक जीव के नहीं होता। इस प्रकार एक आयु कर्म की एक ही प्रकृति एक जीव के उदय में है अतः एक-एक आयु कर्म के गलनरूप ही मरण होता है। यह प्रकृति मरण काल भेद से एक भी जीव के चार प्रकार का होता है। वह आवीचिक मरण ही है। इस प्रकार प्रकृति आवीचिक मरण का व्याख्यान किया।

2) **दूसरा स्थिति आवीचिमरण-** भव धारण में कारण रूप से परिणत हुए पुद्गलों के स्नेहवश आत्मा के प्रदेशों में ठहरने की स्थिति कहते हैं। आत्मा का कषाय परिणाम पुद्गलों की स्निग्धता का सहकारी होता है। परिणाम कारण तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही है। यह स्थिति एक समय से लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते कुछ तेतीस सागरों के जितने समय है उतने भेद वाली होती है। यह उत्कृष्टस्थिति है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। तरंगों के समान क्रम से अवस्थित उस स्थिति के विनाश से आत्मा स्थिति आवीचिमरण होता है। भवान्तर प्राप्ति पूर्वक उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भव का विनाश तद्भवमरण है वह तो इस प्रकार जीवन अनन्तवार प्राप्त किया है। अतः तद्भवमरण दुर्लभ नहीं है।

अनुभव आवीचिमरण कहते हैं- कर्मपुद्गलों के रस को अनुभव कहते हैं। वह अनुभव परमाणुओं में छह प्रकार की वृद्धि हानि रूप से तरंगों की तरह क्रम से अवस्थित है। उसका विनाश अनुभव आवीचिमरण है। आयु संज्ञा वाले पुद्गलों के प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक आदि वृद्धि के क्रम से तरंगों की तरह अवस्थित है उनके गलने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं।

3) **अवधिमरण-**जो वर्तमान में जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते हैं। उसके दो भेद हैं देशावधिमरण और सर्वावधिमरण। वर्तमान में जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशों को लेकर उदय में आ रही है वैसी ही प्रकृति आदि को लिए हुए यदि पुनः आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्य में उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते हैं। और वर्तमान में जैसा आयु का उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है। इसका अभिप्राय यह है एक देश से अथवा सर्व देश से मर्यादा को लिए हुए सादृश्य से विशिष्ट मरण को अवधिमरण कहते हैं।

4) **आद्यन्तमरण-**वर्तमान से यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। वहाँ से वर्तमान का प्राथमिक मरण कहा जाता है। उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरण में होता है उसे आद्यन्त मरण कहते हैं। वर्तमान में जिस प्रकार के प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरण को प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेश से उस प्रकार को प्राप्त नहीं होता तो वह आद्यन्तमरण है।

5) **बालमरण**-बाल के मरण को बालमरण कहते हैं। वह बाल पाँच प्रकार का है अव्यक्त बाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल। अव्यक्त छोटे बच्चे को कहते हैं। जो धर्म, अर्थ और काम को नहीं जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करने में समर्थ है वह अव्यक्तबाल है। जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारों को नहीं जानता अथवा इन विषयों में शिशु समान है वह व्यवहारबाल है। अर्थ और तत्त्व के श्रद्धान से रहित सब मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल है। वस्तु को यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाले ज्ञान से जो हीन हैं वे ज्ञानबाल हैं। जो चारित्रपालन किये बिना जीते हैं वे चारित्रबाल है। इन बालों के मरणों को बालमरण कहते हैं। अतीतकाल में ये बालमरण अनन्त हो चुके हैं, अनन्त जीव इस मरण को प्राप्त होते हैं। यहाँ इनमें से दर्शनबाल का ग्रहण किया है, अन्य बालों का नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इतर बालपना रहते हुए भी दर्शन पंडितपना रहता है इसलिए उसके पंडितमरण ही स्वीकार किया है।

संक्षेप से दर्शनबाल का मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक। आग से, धूँ से, शस्त्र से, विष से, जल से, पर्वत से गिरने से, श्वास के रुकने से, अतिशीत या अतिगर्मी पडने से, रस्सी से, भूख से, प्यास से, जीभ उखाड़ने से, और प्रकृति विरुद्ध आहार के सेवन से बाल पुरुष मरण को प्राप्त होते हैं यह इच्छापूर्वक मरण (आत्म-हत्या) है अर्थात् ऐसे उपाय स्वयं करके वे मरते हैं।

किसी निमित्त वश जीवन को त्यागने की इच्छा होने पर भी अन्तरंग में जीने की इच्छा रहते हुए काल या अकाल में अध्यवसान आदि से जो मरण है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है। जो दुर्गति में जाने वाले हैं, विषयों में अति आसक्त हैं, अज्ञान पटल से आच्छादित हैं, ऋद्धि, रस और सुख के लालची हैं वे इन बाल मरणों से मरण करते हैं। ये बालमरण बहुत तीव्र कर्मों के आस्रव के द्वार हैं, जन्म, जरा, मरण के दुःखों को लाने वाले हैं।

6) **पण्डित मरण**-इसके चार भेद हैं, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञान पण्डित और चारित्र पण्डित। जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण हैं वह व्यवहार पण्डित है। अथवा जो अनेक शास्त्रों का ज्ञाता है सेवा आदि बौद्धिक गुणों से युक्त है वह व्यवहारपण्डित है। क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा

औपशमिक सम्यग्दर्शन से जो युक्त है वह दर्शनपण्डित है। जो मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान रूप से परिणत है वह ज्ञान पंडित है। जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र में से किसी एक चारित्र का पालक है वह चारित्रपण्डित है। यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितों का अधिकार है। व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टि का मरण दर्शनपण्डित मरण है। वह दर्शनपण्डित मरण नरक में भवनवासी देवों में, वैमानिक देवों में, ज्योतिष्क देवों में, व्यन्तर देवों में और द्वीप समुद्रों में होता है। ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हीं में होता है। किन्तु केवलज्ञान और मनः पर्यायज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोक में ही होता है।

जैनधर्म प्राप्त कर सभी जीवों को क्षमाकर

संपंडि जिणवरधम्मो लद्धोसि तुमं विसुद्धजोएणा।

खामसु जीवा सव्वे पत्तेसमये पयत्तेणा।। (10) (कल्याण.)

पद्य- सम्प्रति जैनधर्म तुमने प्राप्त किया विशुद्ध योग से।

क्षमा करो तुम सभी जीवों को प्रत्येक समय में प्रयत्न से।।

समीक्षा- मन-वचन व काय शुद्धि से प्राप्त होता है जिन-धर्म।

जिनधर्म है निजधर्म जो स्व-शुद्धात्मामय आत्मधर्म।।

आत्मधर्म में न होते राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध व ईर्ष्या-घृणा।

कोई न अपना कोई न पराया कोई न शत्रु-मित्र सब समात्मा।।

अतएव सभी जीव प्रति होते हैं मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ भाव।

स्व-पर विश्वकल्याण की भावना यह ही आत्मधर्म या क्षमाभाव।।

समस्त अनुकूल प्रतिकूलताओं में साम्यभाव

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।

निराकृताशेष ममत्वबुद्धेः, समं मनोमेऽस्तु सदापि नाथ।। (3) भा. द्वा.

O lord! ma my mind, after a complete destruction of all sense of attachment, be always at equilibrium, in pleasure and pain, among friends and foes, in gain and loss, at home and forest.

भावार्थ- हे प्रभु! मेरा मन समस्त ममत्व बुद्धि (मोहसक्ति) से रहित होकर दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोग, भवन-वन में सदा समता में रहे।

प्राप्त शिक्षाएँ - अनुकूलता-प्रतिकूलता, आकर्षण-विकर्षण, शत्रुता मित्रता आदि में अप्रभावित होकर सन्तुलित-तटस्थ रहने से मन में भाव में तनाव-क्षोभ-चञ्चलता-अस्थिरता आदि दुःखकारक तत्त्व उत्पन्न नहीं होते हैं, पापकर्म का आस्रव-बन्ध नहीं होता। इससे व्यक्ति शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक, दुःख, रोग, समस्या से मुक्त हो जाता है। इसके साथ-साथ व्यापक साम्यभाव से व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, वैश्विक समस्या संघर्ष-युद्ध आदि समाप्त हो जायेंगे। ऐसा ही भाव-व्यवहार दैनिक चर्या, भोजन, जीवन चर्या, गृह, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व में, प्रकृति आदि में सन्तुलन होना स्वास्थ्य, सुख-शान्ति, विकास, व्यवस्था आदि के कारण है

एकेन्द्रियादि जीवों के प्रति कृत दोषों के परिशोधन

एकेन्द्रियाद्या यदि देव! देहिनः, प्रमादतः सञ्चरता इतस्ततः।

क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिताः, तदस्तु मिथ्या दुःसुष्ठितं तदा॥ (5)॥

O lord! if I have, by carelessly moving hither and thither, destroyed, cut as under brought in (Incompatible) connection, or otherwise injured any organism possessed of one or more senses, may wrong action of mine be annuled.

भावार्थ- हे देव! यदि प्रमाद से इधर-उधर सञ्चरण करते हुए मेरे द्वारा एकेन्द्रियादि जीव नष्ट हुए हों, अलग किये गये हों, मिलाये गये हों, पीडित किये गये हों, तो वह दुष्कृत मिथ्या/व्यर्थ/दूर हो।

प्राप्त शिक्षाएँ- प्रत्येक जीव जीना चाहता है, सुखी होना चाहता है, क्योंकि जीव का मूल स्वभाव शाश्वतिक एवं सुखमय है। इसलिए किसी भी जीव को किसी भी प्रकार के कष्ट नहीं देना चाहिए। जानबूझकर (संकल्प, इच्छापूर्वक, लक्ष्य) किसी भी जीव को कष्ट देना सदा-सर्वदा-सर्वथा अपराध/पाप/ हानिकारक होने से अविधेय है, वर्जनीय है, किन्तु प्रमादवशतः भी किसी भी जीव को कष्ट पहुँचने पर पश्चाताप करना चाहिए, प्रायश्चित्त लेना चाहिए और ऐसे कुकृत्य से निवृत्त होना चाहिए। यह ही यथार्थ से अहिंसा, सहअस्तित्व, पर्यावरण सुरक्षा, जीओ और जीने दो, उदार पुरुषाणां वसुधैव स्वकुटुम्बकम्, विश्वमैत्री, विश्व बन्धुत्व, आत्मवत् सर्वभूतेषु, परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्, वैश्विक संविधान-कानून है।

चारित्र सम्बन्धी दोषों के परिशोधन-

विमुक्तिमार्ग प्रतिकूल वर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।

चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो॥ (6)

Moving away from the path of salvation, if I, over-powered by passions and senses, have, owing to perversity omitted observe the rules of purity of conduct, may such errors of mine O master! be set at naught.

भावार्थ- हे प्रभु! मोक्षमार्ग से विपरीत प्रवृत्ति करने वाला, दुर्बुद्धि वाला मेरे द्वारा कषाय एवं इन्द्रियों के वश होकर चारित्र की शुद्धि में जो कुछ लोप किया गया है, वह सब मेरा दुष्कृत व्यर्थ/नष्ट होवे।

प्राप्त शिक्षाएँ- मोक्षमार्ग (स्वतन्त्रता, मुक्ति, परिनिर्वाण) कषाय से रहित, इन्द्रियासक्ति से परे पवित्र चारित्र वाला है। इसलिए जो मोक्षपथ के पथिक हैं उसे विषय-कषाय, दुष्चारित्र, दुर्बुद्धि से परे होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त केवल बाह्य धार्मिक क्रिया-काण्ड, वेश-भूषा, परम्परा, रीति-रिवाज, पर्व, त्यौहार, तीर्थयात्रा, पूजा-पाठ, जप-तप, भजन, कीर्तन, भाषण, कथा-वाचन आदि से मुक्ति मिलना सम्भव नहीं है। यदि निष्कषाय, इन्द्रिय संयम, सद्बुद्धि के लिए या इनसे युक्त होकर धार्मिक क्रिया-काण्ड किया जाता है तो वह सब मोक्षमार्ग के लिए साधक है अन्यथा बाधक/व्यर्थ/अनुपयोगी है।

भाव विशुद्धि उत्कृष्ट तप से भी श्रेष्ठ

अङ्गवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्टपि।

कुव्वंति बहिह्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी॥ (259)

परिणामों की विशुद्धि को छोड़कर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदि में ही लगी होती है। उनके अशुभ कर्म के आस्रव से रहित शुद्धि नहीं होती। अर्थात् दोषों से मिली हुई शुद्धि होती है।

अविगट्ट पि तवं जो करेइ सुविसुद्धमुक्कलेस्साओ।

अङ्गवसाणविसुद्धी सो पावदि केवलं सुद्धि॥ (260)

जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्या से युक्त और विशुद्ध परिणाम वाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धि को पाता है। यह गाथा का अर्थ है।

अङ्गवसाणविसुद्धि कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति।

अङ्गवसाणविसुद्धो कसायसल्लेहणा भणिदा॥ (261)

जिसका चित्त कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्ध नहीं होते। इसलिये परिणाम विशुद्ध को कषाय सल्लेखना कहा है।

विशेषार्थः- जिस मुनि का चित्त क्रोधाग्नि के द्वारा कलुषित है उस मुनि के परिणाम विशुद्ध नहीं हैं। अतः उसके कषाय सल्लेखना नहीं है। कषाय के कृश करने को कषाय सल्लेखना कहते हैं। और कषाय के कृश हुए बिना परिणाम विशुद्ध नहीं होते। अतः परिणाम विशुद्धि के साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साधन भाव सम्बन्ध है।

कोधं खमाए माणं च मह्वेणाज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जिणह खु चत्तारि वि कषाय॥ (262)

जो शुभ परिणामों के प्रवाह में बहता है वही चार कषायों की सल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारों कषायों को कृश करने का उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकार के परिणाम हैं, यह कहते हैं -

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को सन्तोष से, इस प्रकार चारों कषायों को जीतो।

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं।

जो ताण कसायाणं उत्पत्ति चेव वज्जेइ॥ (263)

उन कषायों की उत्पत्ति को ही रोक देता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ के वश में नहीं होता।

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि।

तं वत्थुमल्लिण्णो जत्थोवसमो कसायाणं॥ (264)

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषाय रूपी आग उत्पन्न होती है। और उस वस्तु को अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से कषायों का उपशमन हो।

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्जवेदव्वो।

रागद्दोसुप्पत्ती विज्जादि ह परिहरंतस्स॥ (265)

यदि थोड़ी भी कषाय रूपी आग उठती हो तो उसे बुझा दे। जो कषाय को

दूर करता है उसके राग-द्वेष की उत्पत्ति शान्त हो जाती है। नीच जन की संगति की तरह कषाय हृदय को जलाती है। अशुभ आंगोपांग नामकर्म के उदय से जो मुख विरूप होता है जैसे धूल पड़ने से आँख लाल हो जाती है वैसे ही क्रोध से मनुष्य काँपने लगता है। जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोध में मनुष्य जो चाहे बोल देता। जैसे जिस पर भूत का प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है। कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टि को मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शन रूपी वन को उजाड़ देती है। चारित्ररूपी सरोवर को सुखा देती है। तपरूपी पत्रों को जला देती है। अशुभकर्म रूपी बेल की जड़ जमा देती है। शुभकर्म फल को रसहीन कर देती है। अच्छे मन को मलिन करती है। हृदय को कठोर बनाती है। प्राणियों का घात करती है। वाणी को असत्य की ओर ले जाती है। महान् गुणों का भी निरादर करती है। यशरूपी धन को नष्ट करती है। दूसरों को दोष लगाती है। महापुरुषों के भी गुणों को ढाँकती है, मित्रता की जड़ खोदती है। किये हुए भी उपकार को भुलाती है। महान् नरक के गढे में गिराती है। दुःखों के भँवर में फँसाती है। इस प्रकार कषाय अनर्थ करती है। ऐसी भावना से कषाय को शान्त करना चाहिए।

जावन्ति केडु संग्गा उदीरया होंति रागदोसाणं।

ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो। (266)

जितने भी परिग्रह रागद्वेष को उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है।

पडियोदणासहणासहणवायुखुभिदयडिबयणइंणाइद्धो।

चंडो हु कसायग्गी सहसा संयज्जलेज्जहि।। (267)

इस प्रकार कषाय रूपी अग्नि का उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है, तथा इस प्रकार से उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओं से कहते हैं-

शिष्य की अयोग्य प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुरु के द्वारा शिक्षा दिये जाने पर शिष्य ने जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरु को सहन नहीं हुए। बही हुई वायु। उस वायु से गुरु के मन में आग भड़क उठी। उसके पश्चात् गुरु ने शिष्य को पुनः समझाया तो शिष्य ने पुनः प्रतिकूल वचन कहे। उसने गुरु की क्रोधाग्नि में ईंधन का

काम किया तो आग भड़क उठी। अथवा गुरु ने शिष्य को शिक्षा दी। शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ। शिष्य की क्रोध रूपी वायु से क्षुब्ध होकर गुरु ने पुनः उसे शिक्षा दी। उस शिक्षा ने शिष्य की क्रोधाग्नि को भड़काने में ईंधन का काम किया। ऐसे भयानक कषायाग्नि सहसा भड़कती है।

**जलदो हु कसायग्गी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि।
सम्पत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा।। (268)**

जलती हुई कषाय रूप आग समस्त चारित्र नामक सार को जला देती है। सम्यक्त्व को भी नष्ट करके अनन्त संसार के परिभ्रमण में लगा देती है।

**तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव।
इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि।। (269)**

इसलिए पाप रूप कषायाग्नि को उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए। उसको बुझाने का जल है - मैं भगवान् जिनेन्द्रदेव की शिक्षा की इच्छा करता हूँ। मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मैं नमस्कार करता हूँ।

**जह चेव णोकसाया सल्लिहियव्वा परेणुवसमेण।
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ।। (270)**

इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभाव के द्वारा नोकषाय, संज्ञा, गौरव और अशुभ लेश्याओं को घटाना चाहिए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंकदेव इन्हें नोकषाय कहते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की चाह का नाम संज्ञा है। ऋद्धि की तीव्र अभिलाषा, रस और सुख की चाह को गारव कहते हैं।

क्षमा दान-क्षमा माँगना से परे

(चाल : तुम दिल की....)

- आचार्य कनकनन्दी

क्षमा दान-क्षमा माँगना से परे, मैं परम समता में रहूँ।
राग-द्वेष-मोह-वैर-विरोध परे, आध्यात्मिक भाव में रहूँ।
मेरा स्वरूप तो सच्चिदानंदमय, अमूर्तिक शुद्ध-बुद्ध।
तन तन अक्ष राग द्वेषादि परे, मोह क्षोभ से रहित।। (1)

मेरा न कोई शत्रु व मित्र, अपना-पराया संबंध।
मेरा ही मुझसे सदा संबंध, मैं हूँ, मेरा कर्ता-धर्ता॥
क्षमा दान तब करूँगा जब मैं, अन्य से रखूँ अक्षमा भाव।
तब तक मैं तो स्वभाव से च्युत, रहा यह है मेरा अधर्म भाव॥ (2)

क्षमा माँगना तो तब मैं करूँगा, जब मानूँ मैं अन्य को शत्रु।
शत्रु मानना ही मेरा आत्म पतन है, तब मैं ही बन जाऊँगा मेरा शत्रु॥
दोनों अवस्था में न स्वधर्मी रहा, जिससे मैं न रहा सुधर्मी।
अन्य के कारण विधर्मी हो गया, जिससे मैं हो गया कुधर्मी॥ (3)

अन्य से प्रभावित होकर यदि मैं, अक्षमाभावी रहा उसका बना दास।
अन्य से परिचालित होने पर बना, मैं गुलाम व परतंत्र॥
तथापि आगम-शुभ परंपरा से, क्षमा दान व क्षमा माँगता हूँ।
तथापि स्व-पर के कारण से, अक्षमा भाव न धरता हूँ॥ (4)
नवकोटि से परम साम्य हेतु, सतत मैं प्रयत्नरत हूँ।
अभिन्न षट्कारक मैं ही बनूँ, 'कनक' भावना भाता हूँ॥ (5)

विश्व की सर्वोच्चताएँ

(चाल : सायोनारा...., गजानन....(मराठी)...., जिस देश में गांधी... भातुकली....)

एक ही सत्य है परम सत्य....जो जीव-अजीव में व्याप्त...
उत्पाद व्यय युक्त ध्रौव्य सहित...जो अनादि अनिधन शाश्वत...(1)...

एक ही धर्म है परमो धर्म...जो वस्तु स्वभावमय स्वधर्म...
उसके अंतर्गत जीवों का स्वधर्म...सच्चिदानंदमय आत्मधर्म...(2)...

एक ही नीति है समता नीति...जो भेद-भाव पक्षपात शून्य...
स्वाधीन समता समान अधिकार...शांति समन्वय व सौम्य...(3)...

एक ही विधान है परम संविधान...जो अन्त्योदय-सर्वोदय युक्त...
मालिक-मजदूर शासक-शासित शून्य...सर्वजीव सह अस्तित्व युक्त...(4)...

एक ही लक्ष्य है परम लक्ष्य...जो शुद्ध-बुद्ध-आनंदमय...

आधि-व्याधि-उपाधि रहित...जो अनंत अव्याबाध सुखमय...(5)...

एक ही शासन है आत्मानुशासन...जो भय-लोभ से शून्य...

आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र युक्त...साम-दाम-दण्ड-भेद से शून्य...(6)...

एक ही ज्ञान है परम ज्ञान जो...स्व शुद्धात्म-अनुभवपूर्ण ज्ञान...

इसी ज्ञान में पूर्ण विश्व भी...ज्ञात होता जो अनंत सम्यक् ज्ञान...(7)...

एक ही उपलब्धि परम उपलब्धि...जो स्व-शुद्धात्मा की उपलब्धि...

इसी हेतु पूर्वोक्त सर्वोच्चता चाहिए...‘कनक’ का लक्ष्य स्व-उपलब्धि...(8)

स्व-जाति परम वैरी होते भी हैं जीव

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

स्व-जाति परम वैरी होते भी हैं जीव, साथ में रहकर भी करते विरोध-भाव।

स्व-जाति भक्षक भी होते कोबरा सम, गुण-गुणी में भी करते ईर्ष्या-विषम।।

ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-मात्सर्य के कारण, सत्ता-संपत्ति-वर्चस्व के कारण।

ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि के हेतु, काम भोग व उपभोग के हेतु।।

भोजन पानी व निवास के हेतु, परस्पर-वैरत्व करते जीवन हेतु।

परस्पर के बिना न कोई काम भी होता, परस्पर को कष्ट देना पाप ही होता।

सिंह आदि मांसाहारी भी लड़ते वर्चस्व हेतु, भोजन निवास व भोगादि हेतु।

शाकाहारी पशु भी इसी हेतु ही लड़ते, बुद्धिजीवी मानव तो अधिक लड़ते।।

पशुओं की इच्छाएँ तो सीमित होती, मानवों की इच्छाएँ तो असीम होती।

इस हेतु पशु से भी मानव अधिक लड़ते, सुख-शांति के लिए भी अधिक लड़ते।।

समगुणी या विषमगुणी धनी-धनी, एक धर्मावलंबी व अन्य धर्मावलंबी।

सम अधिकारी या विषम अधिकारी, वैरत्व करते हैं परस्पर पदाधिकारी।।

इसी से सुख-शांति-सहयोग घटते, धन-जन-साधन-सम्मान घटते।

परस्पर सहयोग सह अस्तित्व विधेय, इसी हेतु ‘कनकनन्दी’ रचा ये काव्य।।

सन्दर्भ-

‘कवि कविर्न सहते’ यत् लोक मध्ये प्रसिद्धम् एतत् सत्यम् यतः

न संहति इक्कयिक्कं न विणा चिट्ठंति इक्कमिक्केण।

रासहवसह तुरंगा जूयारा पंडिया डिंभ॥ (112)॥

शिष्टाय दुष्टो विरताय कामी निसर्गतो जागरकाय चौरः।

धर्मार्थिने कुप्यति पापवृत्तिः शूराय भीरुः कवये कविश्च॥ (113)॥

सूपकारं कविं वैद्य विप्रो विप्रं नटो नटम्।

राजा राजानमालोक्य श्ववद् घुरघुरायते॥ (114)॥

प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे।

जनाय जाग्रते चौरौ रजन्यां संचरन्निव॥ (115)॥

कवि कवि को सहन नहीं करता है, यह जो लोक में प्रसिद्धि है वह सत्य है। क्योंकि-

गधा, बैल, घोड़ा, जुआरी, पंडित और बालक में एक-एक को सहन नहीं करते और एक, एक के बिना रहते भी नहीं है॥ 112॥

दुष्ट मनुष्य शिष्ट मनुष्य से, कामी व्रती से, चोर स्वभावतः जागने वाले से, पापी धर्मात्मा से, भीरु शूरी से और कवि, कवि से क्रोध करता है॥ 113॥

रसोइया रसोइया को, वैद्य वैद्य को, ब्राह्मण ब्राह्मण को, नट नट को और राजा राजा को देखकर कुत्ते के समान घुरघुराता है॥ 114॥

कामी मनुष्य ब्रह्मचारी से, उस प्रकार अत्यधिक कोप करता है जिस प्रकार की रात्रि में घूमने वाला चोर जगाने वाले मनुष्य से कोप करता है॥ 115॥

झूठे धार्मिक व सच्चे धार्मिक

(चाल: बड़ा नटखट है रे...)

हाय रे! संकीर्ण धार्मिक वाले, राग द्वेष मोह युक्त वाले।

संकीर्ण स्वार्थी व अज्ञानी वाले, धन जन ख्याति चाहने वाले...होऽऽऽ...(स्थायी)...

उदार सहिष्णुता रहित वाले, सत्य समता रहित वाले।

ईर्ष्या-द्वेष घृणा सहित वाले, अहंकार ममकार सहित वाले॥

भेद-भाव पक्ष-पात-सहित वाले, शुचिता शांति रहित वाले।

हठाग्रह दुराग्रह से रहित वाले, सरल-सहजता रहित वाले होऽऽऽ। हाय रे...(1)...

अन्य के सुगुण से भी जलने वाले, पर विघ्न संतोषी ईर्ष्यालु वाले।

क्रूरता कठोरता निर्दयता वाले, परनिंदा अपमान सहित वाले।।

रूढ़ि परम्परा को ही धर्म मानने वाले, इसी से ही स्वर्ग मोक्ष चाहने वाले।

हिताहित विवेक रहित वाले, दान दया सेवा रहित वाले होऽऽऽ हाय रे...(2)

कार्यकारण परिणाम रहित, अंधविश्वास सह कामना युक्त।

सत्ता संपत्ति व प्रसिद्धि चाह, इसी हेतु धार्मिक क्रिया युक्त।।

स्व-मत भिन्न अन्य सभी को, पापी व अधर्मी मानने वाले।

उन्हें कष्ट देना भी चाहते तुम, तुम्हें मारकर धार्मिक बनते होऽऽऽ। हाय रे...(3)

धर्म तो सत्य समता व पवित्रता, दान दया सेवा व सहिष्णुता।

स्व-पर विश्व कल्याणमय धर्म, आत्म विकास व शांतिमय धर्म।।

इनसे युक्त तुम पालो हे ! धर्म जिससे मिलेगा अनंत शर्म (सुख)।

स्व-पर हित से प्रारंभ धर्म, 'कनक' सेवे आध्यात्म धर्म होऽऽऽ। हाय रे...(4)...

“क्षमा माँगे बिना भी मैं क्षमाभाव धरूँ”

(निर्दोषी के क्षमा माँगने पर मैं देता हूँ...शुभाशीर्वाद)

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

-आचार्य कनकनन्दी

अक्षमाभाव मैं कभी नहीं रखता, क्षमाभाव सहित मैं सदा ही रहता।

मैत्री-प्रमोद-माध्यस्थ करुणासह, उदार पावन भाव सदा रखता।।

कोई क्षमा माँगे या न माँगे क्षमा, क्षमाभाव मैं सदा धारण करूँ।

इसी से मेरा कर्मबंध न होगा, संक्लेश-कलह-रोग से दूर रहूँगा।।(1)

क्षमा माँगने पर यदि मैं क्षमा करूँ, नहीं माँगने पर क्रोध में रहूँ।

इसी से तो मेरा कर्मबंध होता रहेगा, संक्लेश कलह रोग भोगा करूँगा।।

क्षमा माँगने पर ही क्षमा करना, भिखारी को भिक्षा देना समान होता।

दाता तो बिना माँगे दान करता, तथाहि मैं क्षमादान सदा करता।। (2)

दाता तो सदा सर्वदा महान् होता, स्व-पर उपकार सदा करता।

तथाहि मैं स्व-पर उपकारी बनता, स्व-उपकार सह परोपकार करता।।

मोह-क्षोभ विहीन है मेरा स्वभाव, मोह-क्षोभ रहित है आत्म-स्वभाव।
मोह-क्षोभ विहीन है परम-चारित्र, धर्म का निश्चय रूप शुद्ध चारित्र।।(3)

अन्य के कारण यदि मैं संक्लेश करूँ, अन्य के कारण मैं दासता करूँ।
अन्य से परिचालन होता रहूँगा, कर्म बाँधकर मैं दुःख भोगूँगा।
सज्जन सेवाभावी दानदाताओं को, शुभाशीर्वाद शुभकामनाएँ मैं दूँ।
गुरुजन-साधु-साधिवियों को मैं, नमोऽस्तु, प्रतिनमोऽस्तु, आशीर्वाद मैं दूँ।।(4)

इसी हेतु ही मैं सदा क्षमा ही करूँ, माँगू भी क्षमा नवकोटि से।
निश्चय व व्यवहारनय सहित, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सहित।।
आत्मानुशासी स्वावलंबी मैं बना, समता साधक मैं श्रमण बना।
आत्मविशुद्धि द्वारा सिद्ध मैं बनूँ 'कनक' सच्चिदानन्दमय मैं बनूँ।। (5)

सन्दर्भ- खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।

मेत्ति मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि।।

हिन्दी- सभी जीव को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा भी करे।
सभी जीव में मेरी मैत्री भावना, किसी से भी नहीं है वैर भावना।।

सामाजिक लन्द-फन्द क्यों छोड़ रहा हूँ ?

(चाल : सायोनारा....., रघुपति राघव....., शत-शत वंदन.....)

-आचार्य कनकनन्दी

महानतम काम मुझे करना है, आत्मोपलब्धि ही करना है।

क्षुद्रभाव व्यवहार छोड़ना है, समय शक्ति को बचाना है।

सामाजिक लन्द-फन्द छोड़ना है, संक्लेश-अव्यवस्था न करना है।

ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-मोह त्यजना है, समता-शांति ही भजना है।।

भेड़-भेड़िया चाल छोड़ना है, अन्य से अप्रभावी भी रहना है।

अन्य में नहीं उच्च भाव-व्यवहार, उनसे रहना है मुझे सदा निष्काम।।

उदारता-प्रामाणिकता न होती अन्य में, कर्तव्यनिष्ठा भी न होती उनमें।

श्रद्धा-प्रज्ञा महानता नहीं उनमें, (मुझे) समझने की योग्यता नहीं उनमें।।

मेरे भाव-व्यवहार को न समझ पाते, अनुभव कथन को भी न जान पाते।

गहन-सूक्ष्म विचार भी वे न कर पाते, हिताहित विचार से रहित होते।।

आगम-आध्यात्मिक से रहित होते, संकीर्णता रूढ़ि से सहित होते।
 काम चलाऊँ ही सभी चलता सदा, मनमानी काम को ही करते सदा।।
 संकल्पित दृढ़ता से न काम करते, दुलमुल नीति से काम चलाते।
 सुन-समझकर भी काम न करते, गलती से शिक्षा ले न आगे बढ़ते।।
 सत्ता-संपत्ति को ही महत्त्व देते, प्रसिद्धि-प्रशंसा को ही महत्त्व देते।
 आडम्बर भीड़ से वे चालित होते, सच्चा-अच्छा को वे नहीं जानते।।
 इन कारणों से मैं तटस्थ रहूँ, निस्पृह-निराडम्बर मौन में रहूँ।
 शोध-बोध-लेखन में संलग्न रहूँ, अध्ययन-अध्यापन में निमग्न रहूँ।।
 इसी से संतुष्टि-शांति मुझे मिलती, देश-विदेशों में प्रभावना होती।
 समर्थन सहयोग भी बढ़ रहा है, 'कनक' निस्पृहता से बढ़ रहा है।।

स्वभाव से अमरत्व मिलता है वर से नहीं

(चाल: यमुना किनारे....., सायोनारा....)

वर प्राप्त से कोई न होता अमर, वर तो प्राप्त अन्य से उधार।
 उधार तो पुनः लौटाया जाता है, पर-द्रव्य कभी स्वभाव न होता।। (1)

शुद्ध-स्वभाव से तो अमर हूँ, स्वयंभू सनातन-सच्चिदानंद हूँ।
 जन्म-जरा-मृत्यु कर्मजनित है, कर्म तो पुद्गल गलन पूरण है।। (2)

आकाश कभी न गलता-पूरता, नहीं है काला-पीला-नीलादि होता।
 बादल धूली आदि पुद्गल कारण, होते है गलन-पूरण वर्ण।।(3)

आकाश सम मेरा शुद्ध-स्वभाव, स्वयंभू सनातन अनंत मान।
 कृत्रिम वर्षा सम वर का मान, सीमित समय व शक्ति सम्पन्न।। (4)

कामना इच्छा व वर न चाहूँ, भौतिक उपलब्धि कुछ न चाहूँ।
 समता शांति व सत्य मैं चाहूँ, सच्चिदानंदमय स्वभाव चाहूँ।। (5)

भौतिक कारण या वर प्राप्ति से, अमर होना संभव नहीं है।
 अतः मैं स्वशुद्ध स्वभाव चाहूँ, 'कनक' आकिंचन्य निजात्मा चाहूँ।। (6)

(क्षमा पर्व-पर्यूषण पर्व के उपलक्ष्य में)

क्षमा धारो...क्षमा करो...

(चाल : दुनिया में रहना है तो..., हेऽऽऽ रामऽऽऽ 2..., सायोनारा...शत-शत वंदन..., यमुना किनारे...)

क्षमा धारो भाई क्षमा धारो...मन-वचन-काय से क्षमा धारो...

रत्नत्रय युक्त क्षमा धारो...क्रोध-मान-माया-लोभ छोड़ो...(1)

पहले स्वयं को क्षमा करो...मोह-क्षोभ रहित क्षमा धारो...

हर जीव प्रति क्षमा करो...क्षमा-याचना भी सभी से करो...(2)

अन्यथा वाणी से न होती क्षमा...क्षमा-भाव बिन न होती क्षमा...

मित्रों से ही क्षमा न होती क्षमा...क्षमावाणी कार्ड से/(में) न होती क्षमा...(3)

अक्षमा-भाव ही न करो उत्पन्न...स्व-भाव को ही न करो मलिन...

मोह-क्षोभ से भाव होता मलिन...मलिन-भाव से होती क्षमा मलिन...(4)

क्षमा है आत्मा का शुद्ध-भाव...राग-द्वेष-मोह आदि अशुद्ध भाव...

अशुद्ध भाव त्याग से होती क्षमा...अन्य जीव यदि न करे क्षमा...(5)

पारस प्रभु ने तो क्षमा धारा...कमठ दुष्ट ने न क्षमा धारा...

पार्श्व प्रभु पर उपसर्ग किया...पार्श्व को तो मोक्ष मिला...(6)

क्षमा से पाप भी दूर होता...मानसिक-ताप भी दूर होता...

विविध रोग भी दूर होते...तन-मन-आत्मा स्वस्थ होते...(7)

क्षमा है “वीरस्य भूषणम्” अक्षमा से है आत्म पतनम्...

संकलेश-कलह भी नाशनम्...वैर-विरोध भी प्रणाशनम्...(8)

उत्तम क्षमा तो मुनि धारे...आंशिक श्रावक-जन धारे...

संकल्पी हिंसा सम त्याग करे...व्यर्थ-संकलेश-श्रावक न करे...(9)

उत्तम क्षमा का भाव धरे...श्रमण बनने का भाव धरे...

श्रमण बनकर साम्य धरे...साधना से मोक्ष प्राप्त करे...(10)

उत्तम क्षमादि हैं दश धर्म...आत्मिक-शाश्वतिक-विश्व-धर्म...

परस्पर में करते ये सहयोग...सम-उत्पन्न ये आत्म भाव...(11)

सम्यग्दृष्टि में ये होते उत्पन्न...सर्वज्ञ में ये होते संपूर्ण...

आत्मिक वैभव मिले इसी से... 'कनक' चाहे ये नवकोटि से...(12)

क्रोधादि का साम्राज्य चारों गतियों में

देखो! देखो! देखो! सर्वत्र देखो! क्रोध-मान-माया-लोभ को देखो!

ईर्ष्या घृणा तृष्णा काम को देखो! आहार निद्रा भय/(मैथुन) संग्रह को

देखो! ध्रुव

चर्तुगति चौरासी लाख योनि में देखो! निगोद से लेकर मानव में देखो!

भ्रूण से लेकर वृद्ध में भी देखो! बुद्धिहीन से लेकर बुद्धिमान में देखो!!(1)

देवों में लोभ की मुख्यता को देखो! नारकी में क्रोध की मुख्यता देखो!

तिर्यच में मायाचारी की मुख्यता देखो, मनुष्य में अहंकार की मुख्यता

देखो!!(2)

प्राधान्य भले कोई एक होती (है) कषाय, अन्य तीनों भी कषाय होती

अवश्य!

अक्ष संसार से परिवर्तन होती कषाय, एक के परिवर्तन में अन्य हो जाती

कषाय!!(3)

देव में लोभ (व) भोग होते अधिक, क्रोध से नारकी युद्ध करते अधिक!

मायाचारी से करते तिर्यच पाप अधिक...अहंकार से करते पाप विशेष!!(4)

कम बुद्धि वाले भी तिर्यच जीव, भोजन व भोग हेतु बनते(करते) क्रूर

स्वभाव!

अन्य को मारते खाते व करते संभोग, नाचते गाते परिवर्तन करते रूप

रंग!!(5)

तीनों गति के जीव-जो-जो करते पाप, उन सबसे अधिक करता (है)

मनुष्य पाप!

अतएव मनुष्य हर गति में लेते जन्म, निगोद से सप्तम नरक तक जन्म!!(6)
 ऐसे मनुष्य न होते हैं सच्चे/(उच्च) मानव,क्रोधादि को जो जय करे सो
 उच्च मानव।
 ऐसे मानव ही आगे बनते हैं भगवान्, 'कनकनन्दी' का लक्ष्य ऐसा ही
 महान्!!(7)

उत्तम क्षमा की महिमा

(चाल : उड़ चला पंछी....)

क्षमा धर्म महान् है, पापी नहीं धारते।
 क्रोध-मान-माया-लोभ, से संक्लेशित होते।
 राग-द्वेष-मोह से जो, द्रव्य कर्म बंधते।
 द्रव्य क्षेत्र काल भाव से, वे उदय में आते।। (स्थायी)
 ईंधन ऑक्सीजन व, योग्य तापमान से।
 अग्नि उत्पन्न होती हैं तीनों के योग से।।
 (तथाहि) क्रोधादि उत्पन्न होते, अंतरंग-बाह्य से।
 द्रव्यकर्म व परिणाम (व), निमित्त के योग से।। (1)
 निमित्त से दूर रहो, यथा संभव हो।
 निमित्त योग से भी परिणाम साम्य/(शांत) हो।।
 शांत/(साम्य) परिणाम से, कर्म होंगे क्षीण।
 निमित्त न होगी हावी, शांत होगा परिणाम।। (2)
 जिससे नवीन-पाप, बंध न होगा।
 पूर्वार्जित-पाप-कर्म विनाश होगा।।
 तन-मन-आत्मा भी होयेंगे स्वस्थ।
 कलह-विसंवाद भी होयेंगे स्वस्थ।। (3)
 क्रमशः स्वर्ग-मोक्ष की होगी उपलब्धि।
 'कनकनन्दी' का लक्ष्य है आत्मोपलब्धि।। (4)

सत्य वचन

(चाल : दुनिया में रहना है तो)

सत्य बोलो भाई सत्य बोलो...हित-मित व प्रिय बोलो।

क्रोध-मान-माया-लोभ छोड़ो...निर्मल निर्मोही भाव धरो॥ (1)

देखा-सुना बोलना ही न होता सत्य...हित भाव युक्त होता सत्य।

अंधे को अंधा बोलना नहीं सत्य...हिंसा कारक वचन नहीं सत्य॥ (2)

ईर्ष्या-द्वेष-घृणाकर नहीं सत्य...निंदा अपमानकर भी नहीं सत्य।

कलह विसंवादकर भी नहीं सत्य...पर रहस्योद्घाटन भी नहीं सत्य॥ (3)

एकांत-दुराग्रह भी नहीं सत्य...कुतर्क मिथ्यावाद भी नहीं सत्य।

प्रलाप-अपलाप भी नहीं सत्य...क्रूर-कठोर-ठगी भी नहीं सत्य॥ (4)

हितकर कठोर भी होता सत्य...गुरु का अमितकथन (भी) होता सत्य।

सूक्ष्म दूरस्थ कथन (भी) होता सत्य...सर्वज्ञ कथन सदा होता सत्य॥ (5)

देखा हुआ से सुना हुआ श्रेष्ठ सत्य...हितोपदेशी-कथन होता सत्य।

द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ श्रेष्ठ सत्य...परमार्थ सत्य है सर्वथा श्रेष्ठ॥ (6)

आध्यात्मिक सत्य ही परम ग्राह्य...लौकिक सत्य यथायोग्य ग्राह्य।

वचनातीत होता है परम-सत्य...‘कनकनन्दी’ का लक्ष्य परम-सत्य॥ (7)

परम सार्वभौम सत्य सिद्धांत

(सत्य-समता-शांतिपूर्ण ही धर्म-न्याय-शिक्षादि यथार्थ)

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., सायोनारा..., तुम दिल की धड़कन...)

रूढी-परंपरा व स्वार्थ सहित, पालते जो धर्म कट्टरता युक्त।

सत्य-समता व शांति (से) रहित, पालते वे धर्म मक्कार युक्त॥ (1)

ईर्ष्या-द्वेष-घृणा से वे युक्त रहते, कलह-निंदा से वे सहित होते।

हिताहित-विवेक से रहित होते, स्व-पर अहितकारी कार्य करते॥ (2)

इससे विपरीत है यथार्थ धर्म, सत्य-समता व शांतिकर सुधर्म।

ये तीनों रहित सो होता अधर्म, अधर्म से न मिलता शाश्वत शर्म/(सुख)॥(3)

यथार्थ धर्म युक्त जो होता कानून, ऐसा कानून ही हितकर कानून।
 इससे भिन्न होता मिथ्या कानून, संकीर्ण स्वार्थ पूर्ण क्रूर कानून।। (4)
 तथाहि परंपरा राजनीति व शिक्षा, नीति नियम संविधान विवक्षा।
 भाव-व्यवहार व कथन व्यवसाय, खेल कला संगीत विज्ञान विनिमय।।(5)
 सभी में सत्य समता शांति विधेय, अन्यथा वे सभी होते हैं हेय।
 यह है सार्वभौम सत्य सिद्धांत, 'कनकनन्दी' चाहे सत्य सिद्धांत।। (6)

363 प्रकार के मिथ्या सेवन का प्रायश्चित्त

तिणिणसया तेसट्टि मिच्छत्ता दंसणस्स पडिवक्खा।

अण्णाणे सद्वहिया मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (11) (कल्याणा.)

पद्य- दर्शन के प्रतिपक्ष है तीन सौ त्रेसठ मिथ्यात्व।

अज्ञान से यदि श्रद्धान किया वे सब मेरा पाप हो निवृत्त।।

समीक्षा- अनादि काल से हर जीव होते हैं अवश्य ही मिथ्यात्वी।

पंचम काल में भरत क्षेत्र में जन्म से कोई न होते सम्यक्त्वी।।

आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त के बाद पंचलब्धियों को प्राप्त कर बनते सम्यक्त्वी।

वे भी उपशम सम्यक्त्व कषाय उदय से बनते पुनः मिथ्यात्वी।।

पुनःपरिणाम विशुद्धि से बनते हैं उपशम सम्यग्दृष्टि।

अतएव हर समय में प्रयत्नपूर्वक बनकर रहना है सुदृष्टि।।

मोही स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।

मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।। (7)।।

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who last his wits in consequence of eating intoxicating is unable to know them properly!

नशे को पैदा करने वाले कोद्रव-कोदो धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया, है, ऐसा पुरुष घट, पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व

उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब सकते हैं।

समीक्षा-सत्य से विपरीत मान्यता श्रद्धा/प्रतीति विश्वास रूप परिणाम व भावों को मोह/मिथ्यात्व कहते हैं। सत्य को पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतरागी देव करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने दिव्य ध्वनि मूलक उस परम सत्य का प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किया है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्त्व पदार्थों में विश्वास नहीं करता, श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धारूप दृष्टि विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य गोम्मट्टसार में कहते हैं-

मिच्छाङ्गी जीवो उवङ्गुं पवयणं च ण सदहदि।

सदहदि असब्भावं उवङ्गुं वा अणुवङ्गुं:॥ (18)॥

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन, प्रवचन अर्थात् परमागम। प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरूक्तियों से प्रवचन शब्द से आत्म, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं। तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्या रूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

मदि सुदणाण बलेण तु सच्छंदं बोल्लदे जिणुवहिट्ठं।

जो सो होदि कुदिट्ठी ण होदि जिण मग्ग लग्गरो॥ (2)॥ (रयणसार)

जो मतिज्ञान श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुए मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के कारण उद्धत होकर स्वयं के मनमाने ज्ञान के द्वारा अपने मत अर्थात् पक्ष को लेकर स्वच्छन्द होकर कपोल कल्पित मत का प्रतिपादन करते हैं, जिनवाणी को नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जिनधर्म से बाह्य हैं। यदि जिनागम को दिखाने पर यथार्थ वस्तु का श्रद्धान करने लगता है और पूर्व कल्पित मत-पक्ष का त्याग

करता है तब वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है अन्यथा मिथ्यादृष्टि रहता है।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।। (17)।।

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व को ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक, धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता।

दृष्टांत- पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे-दूध रसादि को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता है।

इंदिय विसय सुहादिसु मूढमदी रमदि न लहदि तत्त्वं।

बहुदुःखमिदि ण चिंतदि सो चेव हवदि बहिरप्पा।। (129)।।(रयणसार)

जो मूढमति इन्द्रियजनित सुख में रमण करता हुआ उसको सुख मानता है, बहु दुःखप्रद नहीं मानता है, वह आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व संचित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयमेव विपरीत भाव होता है उसे निसर्ग व अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, जो कुगुरु के उपदेश से विपरीत भाव होते हैं उसे अधिगमज व गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्तु में वस्तुभाव, अधर्म में धर्मभाव, कुगुरु में गुरुभाव कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव को धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानि वृद्धि में अपनी हानि वृद्धि मानकर सुखी दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव से दो प्रकार, एकान्त, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान की अपेक्षा पाँच प्रकार भी होता है। इसमें सांख्य चार्वाक मत मिलाने से 7 प्रकार की मिथ्यात्व होता है। विशेष रूप से क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादी के 67 और वैनयिकवादियों के 32 इस प्रकार मिथ्यावादियों के 363 भेद होते हैं।

सप्त व्यसन सेवन का प्रायश्चित्त

महुमज्जमंसजूआपभिदीवसणाइ सत्तभेयाइं।

णियमो ण कथं च तेसिं मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (12) (कल्याणा.)

पद्य- मधु-मद्य-मांस-जूआ प्रभृति व्यसन के हैं सप्त भेद।
नियम न किया है उनका मिथ्या हो उसका दुष्कृत।।

यूपी: नशे का इंजेक्शन लगाकर वारदात, हाथ-पैर भी बांधे
आईसीयू में नाबालिग से अस्पताल के
5 कर्मचारियों ने किया दुष्कर्म

आरोपियों में से एक कपांडडर, चार सफाई और अन्य कार्य करते हैं

यूपी के बरेली में एक निजी अस्पताल के आईसीयू में भर्ती नाबालिग से सामूहिक दुष्कर्म का मामला सामने आया है। अस्पताल के ही पाँच कर्मचारियों ने पीड़िता को नशे का इंजेक्शन लगाकर यह वारदात की। आरोपियों में से एक कपांडडर है, जबकि चार अन्य अस्पताल सफाई और अन्य कार्य करते हैं। पीड़िता के मुँह पर ऑक्सीजन मास्क लगा था। आरोपियों ने इसकी आँखों पर पट्टी बांधने के बाद हाथ-पैर भी बांध दिए। तीन दिन बाद मास्क हटने पर शुक्रवार को पीड़िता ने अपनी दादी को घटना की जानकारी दी। शनिवार को पुलिस ने केस दर्ज कर जांच शुरू की। मौरा इलाके की निवासी 16 वर्षीय किशोरी को किसी जहरीले कीड़े ने काट लिया था। परिवार ने कई दिन तक आसपास के डॉक्टर से इलाज करवाया। हालत बिगड़ने पर सोमवार को उसे बदायूं सेड स्थित निजी अस्पताल में भर्ती कराया गया। पीड़िता के मुताबिक, आरोपियों ने उसे नशे का इंजेक्शन देकर दुष्कर्म किया। शुक्रवार तक उसके मुँह पर मास्क लगा रहा। पिता जब उसे देखने आते तो वह इशारे में आपबीती बताती, लेकिन वह समझ नहीं सके। शुक्रवार को हालत सुधरने पर उसे वार्ड में शिफ्ट किया गया। तब पीड़िता ने दादी की पूरी बात बताई।

अत्याचार और हिंसा की शिकायतें संवेदनशील तरीके से हो रही हैं दर्ज

हिंसा पीड़िताओं के लिए रहनुमा बन रहे महिला थाने

भारत में महिला पुलिस थाने नई इबारत लिख रहे हैं। इन थानों के चलते महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा में कमी आई है।

इन थानों में पीड़ित महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा की शिकायतों को अब ज्यादा संवेदनशील तरीके से दर्ज किया जा रहा है। यही वजह है कि 2018 में महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा के मामले 22 फीसदी ज्यादा दर्ज किए गए। यह अध्ययन अमरीका के कनेक्टिकट यूनिवर्सिटी के नीशीथ प्रकाश और ब्रिटेन के एसेक्स यूनिवर्सिटी की सोनिया भलोटारा व सोफिया अमारल ने किया है। जून, 2018 में जारी एक अध्ययन के मुताबिक, भारत महिलाओं के लिहाज से दुनिया का सबसे खतरनाक देश माना जाता है।

अभी 8% महिला पुलिसकर्मी: 2015-16 में कुल पुलिसकर्मियों में महिलाओं की भागीदारी 15 फीसदी बढ़ गई, जिससे महिला पुलिसकर्मियों की संख्या 1,23,000 से बढ़कर 1,40,000 हो गई है। अभी 8% महिला पुलिसकर्मी हैं।

पहला महिला थाना कोझिकोड में : देश में पहला महिला थाना केरल के तटवर्ती शहर कोझिकोड में 1973 में खोला गया था। 2013 तक देश में महिला थानों की संख्या 479 हो गई।

शहरों और राज्यों में महिला हिंसा बढ़ी

शहरी स्तर पर विश्लेषण से पता चलता है कि महिलाओं के खिलाफ हिंसा के मामलों में 21.4 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई है। वहीं राज्य स्तर पर भी महिलाओं के खिलाफ हिंसा के ऐसे मामलों में 22.5 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई। शहरी स्तर पर महिला हिंसा के सबसे ज्यादा मामले अपहरण (22.2 फीसदी) और घरेलू हिंसा (21.7) से जुड़े हैं। वहीं, राज्य स्तर पर महिलाओं के अपहरण के मामलों में 10.85 फीसदी बढ़ोत्तरी हुई है।

यूएन में 3 महीने में यौन उत्पीड़न के 64 नए आरोपी सामने आए

संयुक्त राष्ट्र के कार्यालयों, एजेंसियों और साझेदार संगठनों में पिछले तीन महीनों में 64 लोगों पर यौन उत्पीड़न के आरोप सामने आए हैं। इन लोगों पर 77 लोगों के यौन उत्पीड़न का आरोप है। संयुक्त राष्ट्र के प्रवक्ता स्टीफन दुजारिक के मुताबिक ये मामले 1 जुलाई से 30 सितंबर तक रिकॉर्ड किए गए। आरोपियों में छह शांति कार्यकर्ता, फंड, एजेंसी व कार्यक्रम के 33 और साझेदार संगठनों के 25 कर्मचारी हैं। हालांकि, अभी इन मामलों की पूरी तरह जांच नहीं की गई है। पीड़ित लोगों में 42 महिलाएँ 24 लड़कियाँ, दो पुरुष और एक लड़का शामिल है। आठ अन्य पीड़ित लोगों की आयु और लिंग का पता नहीं चला है।

कुछ सप्ताह पहले संयुक्त राष्ट्र में यौन उत्पीड़न के मामले में एक कर्मचारी को बर्खास्त कर दिया गया था। संयुक्त राष्ट्र में हर तीन महीने में यौन उत्पीड़न के मामले अपडेट किए जाते हैं। इसके लिए कमेटी भी बनाई गई है।

सन्दर्भ-

भक्षाभक्ष जाने नहीं मानव बिना विवेक।

सींग, पूँछ बिन बैल है, भगिनी भामिनी एक।।

हिताहित जाने नाहिं, मानव बिना विवेक।

सींग, पूँछ बिन बैल है, भगिनी भामिनी एक।।

जिस मानव को हिताहित एवं भक्ष-अभक्ष का विवेक नहीं है, वह मानव सींग और पूँछ के बिना पशु के समान है क्योंकि जैसे पशु जिस माता से उत्पन्न होता है बड़ा होने के बाद उस माता से ही सम्भोग करता है। उसकी दृष्टि में माता एवं पत्नी में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार अविवेकी मनुष्य भी करणीय-अकरणीय, ग्रहणीय-अग्रहणीय भक्ष-अभक्ष में किसी प्रकार का भेद नहीं रखता है।

मांसभक्षैः सुरापैश्च मुखैः शास्त्र विवर्जितैः।

पशुभिः पुरुषाकारैर्भर्राक्रान्तास्ति मेदिनी।। (चाणक्य)

मांस खाने वाले, मद्यपान करने वाले, मूर्ख पुरुष की सी आकृति वाले वस्तुतः पशुओं के भार से पृथ्वी दबी जाती है।

व्यसन से आसक्त जीव भी सम्पूर्ण मानवीय गुणों को खो देता है। कहा भी है -

व्यसन वश चित्तानां गुणाकोऽपि न तिष्ठति।

न वैदुष्यं, न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

व्यसन में आसक्त चित्त वाले मनुष्य के विद्वता, मनुष्यता अभिजात्य (उच्च कुलीन आचार विचार) सत्य वचन आदि सम्पूर्ण मानवीय गुण नष्ट हो जाते हैं।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः।

चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित्॥ (आ. शासन 35)

नेत्रहीन रूप अन्धे से भी महान् अन्धा वह है जिसके अंतरंग के विवेक रूप चक्षु, विषय वासना से नष्ट हो गए हैं। चक्षु से जो अन्धा है वह भौतिक वस्तुओं को चक्षु से नहीं देख पाता है परन्तु विवेक रूपी चक्षु से वह देख सकता है, किन्तु विषयान्ध कुछ भी नहीं देख सकता है। इसलिए पूर्व जैनाचार्यों के साथ साथ प्रायः प्रत्येक धर्म के प्रबुद्ध मनुष्यों ने सम्पूर्ण पतनों के कारण स्वरूप व्यसनों का त्याग करना अनिवार्य बताया है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अमृतचन्द्र सूरी ने प्राथमिक धर्मात्माओं के लिए अनिवार्य रूप से मद्य मांसादि का त्याग बताया है। यथा-

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुंबर फलानि यत्नेन।

हिंसाव्युपरतकामैमौक्ततव्यानि प्रथममेव॥ (61)

हिंसा को छोड़ने की इच्छा करने वाले पुरुषों को सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक अथवा सावधानी के साथ मदिरा, मांस, मधु पाँच उदुम्बर फल छोड़ देना चाहिये।

वसुनंदी आचार्य भी इस सिद्धांत को स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार उद्घोष करते हैं -

पंचुदुंबर सहियाइं परिहरेई इय जो सत्त विसणाइं।

सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसण सावयो भणिओ॥ (205)

जो सम्यग्दर्शन से विशुद्ध बुद्धि जीव इन पाँच उदुम्बर सहित सातों व्यसनों का परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है।

अष्टावनिष्ठ दुस्तर दुरितायतनान्यमुनि परिवर्ज्यं।

जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥ (74)

आठ अनिष्ट कठिनता से छूटने वाले और पापों की खान स्वरूप फलों को छोड़कर ही शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष जिन धर्म के उपदेश ग्रहण करने के पात्र होते हैं।

उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि जब तक मानव विवेकपूर्वक दृढ संकल्प से अभक्ष भक्षण एवं अनैतिक आचरण से दूर नहीं हो जाता है तब तक प्राथमिक श्रेणी का भी धर्मात्मा नहीं बना सकता है। इतना ही नहीं, वह धर्म श्रवण के लिये योग्य पात्र भी नहीं बन सकता है। महाभारत में वेद व्यास ने भी कहा है -

मधु मांस च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिका।

जन्मप्रभृति मद्यं व सर्वे ते मुनयःस्मृताः॥ (70)

जो धर्मात्मा पुरुष जन्म से ही इस जगत् में शहद, मद्य और मांस का सदा के लिए परित्याग कर देते हैं वे सब के सब मुनि माने गये हैं।

सदा यजति सत्राणि सदा दानं प्रयच्छति।

सदा तपस्वी भवति मधु मांस विवर्जनात्॥ (15)

मद्य और मांस का परित्याग करने से मनुष्य सदा यज्ञ करने वाला, सदा दान देने वाला और सदा तप करने वाला होता है।

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।

स वर्जये मांसानित् प्राणिनामिह सर्वशः॥ (48)

जो मनुष्य अपने आप को अत्यन्त उपद्रवरहित बनाये रखना चाहता हो, वह इस जगत् में प्राणियों के मांस का सर्वथा परित्याग कर दे।

कर्मयोगी नारायण श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त रूप से दुःख से निवृत्त होने का उपाय बताते हुए कहा है -

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वभाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (17) गीता

He who is moderate in food moderate in recreation, moderate in necessary action, moderate in steep, moderate in walking, can be able to practise Dhyana (yoga) the destroyer of grief.

जिसका आहार विहार नियमित हैं, कर्मों का आचरण नपा तुला है और सोना जागना परिमित है उसको यह योग दुःख घातक अर्थात् सुखावह होता है। (गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, लेखक बाल गंगाधर तिलक)

सप्त व्यसने के नाम-

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परनारं।

दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।। (59) वसुनन्दि

1 जुआ, 2. शराब, 3. मांस, 4. वेश्या, 5. शिकार, 6. चोरी 7. परस्त्री सेवन, ये सब व्यसन दुर्गति-गमन के कारणभूत पाप हैं।

सत्तण्णं विसणाणं फलेण संसार-सायरे जीवो।(134)

सातों व्यसनों के फल से जीव संसार-सागर में भारी दुःख पाता है।

22 अभक्ष -

ओला घोर बड़ा निशि भोजन, बहुबीजा बैंगन संधान।

बड़ पीपर ऊमर कठुमर, पाकर फल या होय अंजान।।

कंदमूल माटी विष आमिष मधु माखन अरू मदिरापान।

फल अतितुच्छ तुषार चलितरस, ये बाईस अभक्ष बखान।।

ओला, दही बड़ा (कच्चे दूध से जमाये दही का बड़ा) रात्रि भोजन, बहुबीजा बैंगन, अचार (चौबीस घण्टे बाद का) बड़ा, पीपल, ऊमर, कठुमर, पाकर, अंजानफल (जिसको हम पहचानते नहीं ऐसे कोई फल, फूल, पत्ते आदि) कन्दमूल (मूली, गाजर आदि जमीन के भीतर लगने वाले), मिट्टी विष (शंखियां, धतूरा आदि) आमिष-मांस, शहद, मक्खन, मदिरा अतितुच्छ फल (जिसमें बीज नहीं पड़े हो ऐसे बिल्कुल कच्चे छोटे-छोटे फल) तुषार-बर्फ और चलित रस (जिनका स्वाद बिगड़ जाये ऐसे फटे दूध आदि) ये सब अभक्ष हैं।

प्रसिद्ध व्यसनी

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।

पत्तो सहावमाणं जूएण जुहिट्टलो राया।। (125) वसुनन्दी

जुआ खेलने से राजा युधिष्ठिर राज्य से भ्रष्ट हुए, बारह वर्ष तक वनवास में रहे तथा अपमान को प्राप्त हुए।

उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जलत्तिणाऊण।

पिविऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते जादवा तेण।। (126)

उद्यान में क्रीड़ा करते हुए प्यास से पीड़ित होकर यादवों ने पुरानी शराब

को, यह जल है' ऐसा जानकर पिया और उसी से वे नष्ट हो गये।

मंसासणेण मिद्धो वगरक्खो एग चक्कणयरम्मि।

रज्जाओ पब्भट्टो अयसेणे गुओ गयो णरयं॥ (127)

एक चक्र नामक नगर में मांस खाने से गृद्ध बक राक्षस राज्यपद से भ्रष्ट हुआ, अपयश से मरा और नरक में गया।

सव्वत्थ निब्बुणबुद्धि वेसासंगेण चारूदत्तो वि।

खड्दुण धणं पत्तो दुक्खं परदेशगमणं च॥ (128)

सर्व विषयों में निपुणबुद्धि चारूदत्त ने भी वेश्या के संग से धन को खोकर दुःख पाया और देश छोड़ना पड़ा।

होऊण चक्कवट्ठी चउदहरयणहियो वि संपत्तो।

मरिऊण वंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण॥ (129)

चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नों के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलने से मरकर नरक में गया।

णासावहारदोषेण दंडणं पाविउण सिरिभूर्ई।

मरिऊण अट्टुझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे॥ (130)

न्यासापहार अर्थात् धरोहर को अपहरण करने के दोष से दण्ड पाकर श्रीभूति आर्तध्यान से मरकर संसार में दीर्घकाल तक रूलता फिरा।

होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कट्ठी वि।

मरिऊण गओ णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो॥ (131)

विचक्षण, अर्द्धचक्रवर्ती और विद्याधरों का स्वामी होकर भी लंका का स्वामी रावण परस्त्री के हरण से मरकर नरक में गया।

एदे महाणुभावा दोसं एकेक्क-विसण-सेवाओ।

पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वणिज्जये किंसो॥ (132)

ऐसे-ऐसे महानुभाव एक-एक व्यसन के सेवन करने से दुःख को प्राप्त हुए फिर जो सातों ही व्यसनों का सेवन करता है उसके दुःख का क्या वर्णन किया जा सकता है।

साकेते सेवत्तो सत्त वि वसणाइरूद्रत्तो-वि।

मरिऊण गओ विरयं भमियो पुण दीहसंसारे॥ (133)

साकेत नगर में रूद्रदत्त सातों ही व्यसनों को सेवन करके मरकर नरक गया और फिर दीर्घ काल तक संसार में भ्रमता फिरा।

“ सुखी होने के धार्मिक एवं वैज्ञानिक कारण”

(चाल : छोटी-छोटी गैया...., शत-शत वन्दन....)

सुखी होने के कारणों को जानो, स्वयं के अन्दर उसे पहचानो।
प्रमुख कारण आत्मा ही जानो, विकार भाव दुःख ही मानो॥ ध्रु॥
सच्चिदानन्द है आत्मस्वभाव, सत्य-शिव-सुन्दर आनन्द भाव।
राग-द्वेष-मोह दुःख स्वभाव, पापकर्म से दुःख ही सम्भव॥
पावन भाव से सुख उपजे, पुण्यकर्म भी कारण दूजे।
दान दया सेवा परोपकार, ध्यान-अध्ययन श्रेष्ठ विचार॥
विज्ञान में अभी सिद्ध हुआ है, हैप्पी हार्मोस सिद्ध हुए हैं।
डोपामाइन व सेरोटोनिन, ऑक्सीटोसिन व एण्ड्रोफिन॥
कार्टिसोल हार्मोस उत्पन्न होने से, प्रसन्न भाव होता मन में।
डोपामाइन उत्पन्न होना अच्छे काम से, महान् लक्ष्य के प्राप्त होने से॥
सम्मान से होता सेरोटोनिन स्राव, जिससे विश्वास होता उद्भव।
अविश्वास या हीनभावना से, विपरीत प्रभाव होता स्राव में॥
सुरक्षात्मक विश्वास भाव से, ऑक्सीटोसिन का होता स्राव है।
इसी भाव के विपरीत होने से, विपरीत स्राव होता दिमाग में॥
एण्ड्रोफिन स्राव होता हँसी से, प्राकृतिक निश्चलमय हँसी से।
दर्द समय में भी स्राव होता, जिससे दर्द कम हो जाता।
कार्टिसोल प्रेरित करता भाव को, खतरों से आगाह करता मन को।
संकट में यह सहयोगी बनता, उत्साह हेतु भी प्रेरित करता॥
धर्म में वर्णन विस्तार से हुआ, विज्ञान में अभी कुछ शोध हुआ।
‘धर्मसर्वसुखाकरो’ बताया गया, संक्षिप्त में वर्णन ‘कनक’ किया॥

अणुव्रतमहाव्रतादि की विराधना का प्रायश्चित्त

अणुवयमहव्वया जे जमणियमासीलसहगुरुदिण्णा।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (13) (कल्याण.)

पद्य- गुरु प्रदत्त जो अणुव्रत महाव्रत यम-नियम सप्त शील भेद।
जो-जो विराधना की मैंने वे सभी मिथ्या हो मेरे दुष्कृत।।

दोष परिशोधन के उपाय -

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनो वचः काय कषाय निर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं, भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम्।।
(7)भा.द्वा.

I destroy sin, from which all ills in the cosmos processed, whether committed through mind, or word, or body, or passion by self analysis self censure, and repentance just as a doctor completely removes all effects of poison by the force of incantaion.

भावार्थ- यथा मान्त्रिक वैद्य मन्त्र के गुणों के द्वारा सम्पूर्ण विष को दूर कर देता है तथा मैं मन वचन-काय तथा कषाय से निर्मित पाप जो कि संसार के दुःख के कारणभूत हैं उसे निन्दा, गर्हा, आलोचना के द्वारा नष्ट करता हूँ।

प्राप्त शिक्षाएँ - जिस प्रकार शरीर में विष प्रवेश करने पर पीड़ा से लेकर मृत्यु तक सम्भव है परन्तु मन्त्र, औषधि आदि के द्वारा उस विष को दूर/नष्ट करके स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं उसी प्रकार मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्रोध-मान-माया-लोभ से उत्पन्न पाप (कर्म) जो संसार के विभिन्न दुःखों के कारण हैं उसे दूर/नष्ट करके सांसारिक दुःखों को भी नष्ट करके अक्षय, अनन्त सुख प्राप्त कर सकते हैं। स्व-दोष को दूर करने के लिए निन्दा(आत्म साक्षी पूर्वक स्वयं-दोष विश्लेषण) गर्हा (गुरु-साक्षी पूर्वक स्व-दोष विश्लेषण), आलोचना करना चाहिए। यह आध्यात्मिक शुद्धिकरण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, सामाजिक-न्यायिक प्रक्रिया से भी सरल-सहज-शुद्ध गुणकारी-चिरस्थायी-सर्वदोषनिवारक तथा शारीरिक-मानसिक-सामाजिक-आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए अभौतिक रामबाण औषधि है।

विविध स्तरों के दोष-

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं, जिनातिचारं सुचरित्र कर्मणः।
व्यधामनाचार मपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये।। (8)
O word-victor I purify myself by perfoeming expurgation for

all foolish deviations from rectitude due to indifference whether it be Atikrama Vyatikrama, Atichara and Anachara.

भावार्थ - हे जिनेन्द्र! मैंने कुबुद्धि से सुचारित्र रूपी क्रिया का प्रमाद के कारण जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, किया हो, उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करता हूँ।

प्राप्त शिक्षाएँ - किसी भी अन्तरङ्ग एवं बहिरंग कारणों के वश से प्रमाद जनित भाव-व्यवहारों से ज्ञात-अज्ञात से भी कुछ न कुछ दोष उत्तम चारित्र में लगना सम्भव है। ऐसी परिस्थिति में उसे दोष को दूर करना प्रत्येक सुखकामी, विकास को चाहने वाले महानुभावों का नैतिक-आध्यात्मिक कर्तव्य है क्योंकि जब तक जीव छद्मस्थ (असर्वज्ञ, अवीतरागी, घाती कर्म से युक्त) रहता है तब तक पूर्व के उपार्जित कर्म के उदय से दोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसलिए आध्यात्मिक प्रगति, मानसिक शान्ति के लिए शारीरिक व मानसिक रोग दूर करने के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा/सम्मान/शुद्धता आदि के लिए प्रतिक्रमण सहज सरल आध्यात्मिक उपाय है।

विविध स्तरों के दोषों के कारण-

क्षतिं मनः शुद्धि विधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शील व्रतेर्विलङ्घनम्।

प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं-वदन्त्यनाचार मिहाति सक्तताम्।। (9)

Atikrama is the defiling of the pure condition of mind, and Vyatikrama is transgression of pure mental action, Atichara, o Lord! is indulgence in sensual desires, and Anachara is defined as excessive attachments(to thme.)

भावार्थ : हे प्रभु! इस लोक में (1) मानसिक शुद्धि की विधि में क्षति होने को अतिक्रम, (2) शीलव्रत (सदाचार) के उल्लङ्घन को व्यतिक्रम, (3) विषयों में प्रवृत्ति करने को अतिचार, (4) विषयों में अत्यन्त आसक्त होने को अनाचार कहते हैं।

प्राप्त शिक्षाएँ- आत्मिक शुद्धि के इच्छुक दोषों के विभिन्न स्तर को जानता है/जानना चाहिए। क्योंकि दोषों के स्तर डिग्री/मात्रा के अनुसार ही उसको दूर करने के उपाय भी तदनुकूल होते हैं। “जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे, “यथा मति तथा गति” के अनुसार दोष या गुण का अंकुर मन-भाव से ही होता है और विकास

क्रम में वृद्धिगत होता है। यदि बीज का अभाव ही हो या अंकुर होने ही नहीं दिया जाए तो आगे का विकास क्रम भी सम्भव नहीं है। इसलिए दोष के विकास क्रम को नहीं चाहने वाले महानुभाव प्रथमतः मानसिक अशुद्धता को ही उत्पन्न नहीं करता है/उत्पन्न होने को ही रोक देता है।

इससे विपरीत पापी/दोषी/अन्यायी/अत्याचारी/दूराचारी/आतंकवादी मन में उत्पन्न अशुद्धता को नहीं रोकता है/रोकना नहीं चाहता है/या जान-बूझकर बढ़ाता है। मन में अशुद्धता का उत्पन्न होना ही (1) अतिक्रम है।

इस दोष के विकासक्रम में सदाचार का उल्लङ्घन करके (2) व्यतिक्रम के स्तर पर पहुँच जाता है। पुनः उस स्तर से बढ़ता हुआ विषयों (क्रोध-मान-माया-लोभ, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि) में प्रवृत्त करता है। इस स्तर को (3) अतिचार कहते हैं।

“अभ्यास से गुणवत्ता में वृद्धि होती है” के नियमानुसार अतिचार में प्रवृत्त करता-करता दोषों की मात्रा को बढ़ाते हुए दोष के चरमस्तर में पहुँच जाता है जिस स्तर को (4) अनाचार कहते हैं। इस अवस्था में विषयों में अत्यन्त आसक्ति होती है। इस विभिन्न स्तरों को समझने के लिए धूम्रपान, मद्यपान, नशीली वस्तुओं के सेवन करने वालों के विभिन्न स्तरों की प्रकृति-प्रवृत्ति उदाहरण के योग्य है।

ज्ञानार्जन (वाचना) सम्बन्धी दोष संशोधन

यदर्थमात्रा पदवाक्यहीनं मया-प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम्।

तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी-सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥(10)

O Goddess Saraswati! pray excuse me if through inattention, I have uttered anything wanting in meaning, spelling word, or sense and grant me the boon of knowledge absolute.

भावार्थ- हे माता सरस्वती देवी! यदि मेरे द्वारा प्रमाद से अर्थ, मात्रा पद, वाक्य से हीन कुछ भी कहा गया हो तो मुझे उस सम्बन्धी क्षमा प्रदान करके केवलज्ञान की उपलब्धि प्रदान करें।

प्राप्त शिक्षाएँ-ज्ञानार्जन के अनेक (8) शुद्धियाँ हैं। यथा (1) काल शुद्धि (2) विनय शुद्धि (3) उपधान शुद्धि (4) बहुमान शुद्धि (5) अनिहव शुद्धि

(6) व्यञ्जन शुद्धि (7) अर्थ शुद्धि (8) उभय शुद्धि। इन शुद्धि से युक्त ज्ञानार्जन आत्मकल्याण के लिए, केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए कारक बनता है। अशुद्धि से सही ज्ञानार्जन नहीं हो पाता है, ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है जिससे ज्ञान विकृत होता है, मन्द होता है। अतः यदि प्रमाद से भी अशुद्धि हो जाती है तो उसे दूर करना चाहिए। यदि शुद्धता से ज्ञानार्जन करते हैं और प्रमाद से विस्मरण भी हो जाता है तो वह ज्ञान का संस्कार पर भव में केवलज्ञान उत्पन्न करने के लिए सहायक बनता है।

इससे शिक्षा मिलती है कि केवल अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है, अपितु क्या अध्ययन करना और कैसे अध्ययन करना अधिक महत्वपूर्ण है। जैसा कि सही फल प्राप्त करने के लिए सही बीज, काल, भूमि, पानी, सूर्य-किरण, वायु, खाद आदि चाहिए वैसा ही ज्ञान रूपी फल प्राप्ति के लिए उपरोक्त 8 शुद्धियाँ भी अनिवार्य हैं।

ज्ञानार्जन के विविध महान् उद्देश्य

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।

चिन्तामणि चिन्तितवस्तुदाने-त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि।। (11)

O Goddess, thou art like the jewel Chintamani is granting all desired objects. May I, by worshipping the obtain wisdom, control, control of mind, purity of thought, realization of my own self and perfect happiness ever-lasting.

भावार्थ –माँ देवी सरस्वती! आप चिन्तित वस्तु को देने में चिन्तामणि के समान आपको वन्दन करने वाले मुझे बोधि, समाधि, परिणाम-विशुद्धि, स्वात्मा की उपलब्धि, मोक्ष सुख की सिद्धि होवे।

प्राप्त शिक्षाएँ– ज्ञानार्जन/स्वाध्याय के प्रमुख उद्देश्य जानकारी के संग्रह, ख्याति, पूजा,लाभ, धनार्जन, परीक्षा में उत्तीर्ण, प्रसिद्धि,अहंवृति, दिखावा, भाषण देना आदि नहीं है अपितु इससे विपरीत सत्य-तथ्य का परिज्ञान, आत्मलीनता रूपी समाधि, भाव की परिशुद्धता, समता, निस्पृहता, निर्लोभता, संतोष, सहिष्णुता, वीतरागता, मोक्ष ही ज्ञानार्जन/स्वाध्याय के यथार्थ फल है।

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥ (49)

अविद्या को दूर करने वाली महान् उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति है। सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसी के विषय में पूछना चाहिए और उसी की वांछा करनी चाहिए और उसे ही अनुभव में लाना चाहिए।

प्रकृष्ट सिद्धि=प्रसिद्धि=सिद्धि स्वात्मोपलब्धिः अर्थात् स्व-आत्मा की पूर्ण उपलब्धि ही प्रसिद्धि/सिद्धि/मोक्ष है। इस परमोत्कर्ष अवस्था/पूर्ण अवस्था में आध्यात्मिक अनन्त गुणों के साथ-साथ ईश्वरत्व/प्रभुत्व आदि गुण शुद्ध रूप में, सहज रूप में, स्वभाव रूप में प्रगट होते हैं और उसका अनुभव शुद्ध जीव करते हैं।

चौरासी लाख योनियों के जीव प्रति कृत अपराध का प्रायश्चित्त

णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।

सुरणरयतिरियचउरो चउदस माणुए सदसहस्सा। (14) (कल्याणा.)

एदे सव्वे जीवा चउरासीलक्खजोणिवसि पत्ता।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्जा॥ (15) (कल्याणा.)

पद्य- नित्य-इतर की सात लाख चार स्थावरों की सात लक्ष्य योनि।

वनस्पति की दश लाख विकलेन्द्रिय की छः लाख योनि॥

देव-नारक तिर्यचों की चार लाख मनुष्य की चौदह लाख योनि।

चौरासी लाख योनियों में प्राप्त समस्त जीवों के प्रति॥

जो-जो मुझसे हुई विराधना वे सब पाप मेरे हो मिथ्या।

कीट-पतंगों की कमी से मच्छर बढ़ेंगे, फल घटेंगे

60% वन्य जीव हो गए हैं कम, पड़ेगा बुरा असर

आम, सेब और संतरा जैसे फलों की पैदावार में आ सकती है कमी

धरती पर तेजी से वन्य जीव खत्म हो रहे हैं। इस कारण इंसानों पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। वर्ल्ड वाइड फंड फॉर नेचर (डब्ल्यूडब्ल्यूएफ) की रिपोर्ट के मुताबिक पिछले 44 सालों में 60 प्रतिशत वन्य जीवों में कमी पाई गई है। हाल

ही में इस रिपोर्ट में आंकड़े सामने आने के बाद पर्यावरणविदों ने चिंता जताई है। उनके मुताबिक आने वाले समय में मच्छरों की तादाद बढ़ सकती है। फल व सब्जियां की पैदावार भी कम होगी। लिविंग प्लैनेट रिपोर्ट 2018 के नाम से जारी रिपोर्ट में 1970 से 2014 से करीब चार हजार से ज्यादा प्रजातियों में शोध किया गया।

इंडियन फॉरेस्ट सर्विस के अधिकारी संजीव चतुर्वेदी का कहना है कि इस रिपोर्ट में कीट-पतंगों के बारे में बात कही गई है। ये सबसे ज्यादा प्रभावित हुए हैं। इससे सबसे ज्यादा परागण (पॉलीनेशन) पर असर पड़ेगा। तितलियों, मधुमक्खियों, कीट पतंगों से परागण में सहूलियत होती है। इनकी कमी से फल-सब्जी के परागण में असर पड़ेगा। चीन में तो हालात ये हो गई है कि लोग खुद पेड़ पर चढ़कर कणों को फेंककर परागण की क्रिया करवाते हैं। यही वजह है आने वाले समय में आम, सेब संतरा जैसे फलों की पैदावार पर असर पड़ेगा। सब्जियों की पैदावार में भी कमी आएगी।

वही बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी के इकोलॉजिस्ट सेंटर मैनेजर सोहेल मदन ने बताया कि ड्रैगन फ्लाई की खासियत ये है कि जहां ये उड़ते हैं वहां मच्छर कम पनपते हैं। एक ड्रैगन फ्लाई दिन में दो सौ से ज्यादा मच्छर खा सकता है। ड्रैगन फ्लाई का बच्चा दिन में ढाई मच्छरों के अंडों को खा जाता है। अब देश में इनकी तादाद 80% कम हो चुकी है। जहां ये रहेंगे वहां मच्छर कम होंगे।

संखावत्तयजोणी, कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य।

तत्थ य संखावत्ते, णियमा दु विवज्जदे गब्भो।। 81-गो.जी.

अर्थ- आकृति योनि के तीन भेद हैं। 1. शंखावर्त, 2 कूर्मोन्नत, 3 वंशपत्र। इनमें से शंखावर्त योनि में गर्भ नियम से वर्जित है।

भावार्थ - जिसके भीतर शंख के समान चक्र पड़े हों उसको शंखावर्त योनि कहते हैं। जो

सुद्ध-खरक-जल-ते-वा; णिच्चदुग्गदिण्णिगोदथूलिदरा।

पदिट्ठिदरपंच पत्तिय, वियलति पुण्णा अपुण्णदुगा।। 1।।

इगिगिगले इगिसीदी, असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणां।

गब्भभवे सम्मुच्छे दुत्तिगतिभोगथलखेचरे दो दो।।2।।

अजसमुच्छिगिगभे मलेच्छभोगतियकुणरछपणतीससये।

सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा, छहिय चारिसयं।।3।।

अर्थात्- शुद्ध पृथिवी, खरपृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इनके बादर सूक्ष्म के भेद से 14 भेद, तृण वल्ली, गुल्म, वृक्ष और मूल इस तरह प्रत्येक वनस्पति के 5 भेदों के सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित के भेद से 10 भेद। विकलेन्द्रियों के द्वीन्द्रियादिक 3 भेद, इस तरह 27 भेदों का पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त गुणा करने पर 81 भेद।

कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यचों में गर्भजों के 12, सम्मूर्छनों के 18, उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग-भूमिजों के 12 इस तरह 42 भेद।

मनुष्यों में आर्यखण्डोद्भव सम्मूर्छन मनुष्य का 1 लब्ध्यपर्याप्तक भंग, तथा कर्मभूमिका गर्भज और म्लेच्छ खण्ड; उत्तम, मध्यम, जघन्य, भोगभूमि एवं कुभोगभूमि के गर्भज मनुष्यों में प्रत्येक का एक 2 भेद।

देवों में भवनवासी 10, व्यन्तर 8, ज्योतिष्क 5, वैमानिक 63 और नारकियों के 49। इस तरह 141 के पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त की अपेक्षा 282 भेद है। इस तरह कुल मिलाकर $81+42+1+282=406$ जीवसमास के भेद होते हैं।

कछुआ की पीठ की तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं। जो बाँस के पत्ते के समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं। ये तीन तरह की आकार योनि हैं। इनमें से पहली शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नहीं रहता।

कुम्मुण्णजयजोणीये, तित्थयरा दुविहचक्कवट्ठी य।

रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणो दु।। 82

अर्थ- कूर्मोन्नत योनि में तीर्थकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री तथा बलभद्र तथा अपि शब्द की सामर्थ्य से अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं। तीसरी वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

जन्म तथा उनकी आधारभूत गुणयोनि के भेद

जम्मं खलु सम्मुच्छण, गब्भुववादा दु होदि तज्जोणी।

सच्चित्तसीदसंडसेदर मिस्सा य पत्तेयं।। 83

अर्थ-जन्म तीन प्रकार का होता है, सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद। तथा

सचित्त, शीत, संवृत, और इनसे उलटी अचित्त, उष्ण, विवृत तथा तीनों को मिश्र, इस तरह तीनों ही जन्मों की आधारभूत नौ गुणयोनि हैं। इनमें से यथासम्भव प्रत्येक योनि को सम्मूर्च्छनादि जन्म के साथ लगा लेना चाहिये।

भावार्थ-सामान्यतया गुणयोनिके ये नौ भेद हैं। सचित्त, अचित्त, मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र। और संवृत, विवृत, मिश्र।

आत्मप्रदेशों से युक्त पुद्गलपिंड को सचित और उनसे रहित पुद्गल को अचित्त कहते हैं। जन्म के आधारभूत स्थान के कुछ पुद्गल सचित्त और कुछ अचित्त हों तो उसको सचित्त, अचित्त मिश्र योनि समझना चाहिये। शीत, उष्ण और उसकी मिश्र का अर्थ स्पष्ट है। संवृतका अर्थ ढका हुआ और विवृत का अर्थ खुला हुआ तथा कुछ ढका हुआ कुछ खुला हुआ हो तो उसकी संवृतं विवृत को मिश्र समझना चाहिये।

किन जीवों के कौनसा जन्म होता है सो बताते हैं।

पोतजरायुजअंडज, जीवाणं गब्भ देवणिरयाणां।

उववाद सेसाणं, सम्मुच्छणयं तु णिद्धिद्व।। 84

अर्थ - पोत आवरण रहित और उत्पन्न होते ही जिनमें चलने फिरने आदि की सामर्थ्य हो, जैसे सिंह, बिल्ली, हिरण आदि। जरायुज जो जेरके साथ उत्पन्न होते हो। अण्डज जो अण्डे से उत्पन्न हों। इन तीन प्रकार के जीवों का गर्भ जन्म ही होता है। देव नारकियों का उपपाद जन्म ही होता है, शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।

भावार्थ- आगम में इन तीन प्रकार के जन्म और उनके स्वामियों के सम्बन्ध में दो तरह से नियम बताया गया है। जीवप्रबोधिनी टीका में 'ऐषां जीवानां (जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव जन्म, चतुर्णिकायदेवानां नारकाणां च...उपपाद एवं जन्म, शोषाणां...सम्मूर्च्छनमेव जन्म।' इस तरह एकतर्फा नियम बताया गया है। किन्तु मन्दप्रबोधिनी में 'तेषामेव गर्भः, तेषां गर्भ एव' इस प्रकार तीनों का दुतर्फा नियम बताया है। सर्वाथसिद्धि में भी दोनों तरफ से ही अवधारण किया गया है। राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और धवला में एकतरफा ही अवधारण बताया गया है।

किस जन्म के साथ कौनसी योनि सम्भव

अववादे अच्चित्तं, गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे।

सच्चित्तं अच्चित्तं, मिस्सं च य होदि जोणी हु॥ 85

अर्थ :- उपापाद जन्म की अचित्त ही योनि होती है। गर्भ जन्म की मिश्र योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्म की सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरह की योनि होती है।

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि।

उववादेयक्खेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु॥ 83॥

अर्थ- उपापाद जन्म में शीत और उष्ण दो प्रकार की योनि होती है। शेष गर्भ और सम्मूर्छन जन्मों में शीत, उष्ण, मिश्र तीनों ही योनि होती है। उपापाद जन्म वालों की तथा एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत ही होती है। और विकलेन्द्रियों की विवृत ही होती है।

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु।

सम्मूच्छणपंचक्खे, वियलं वा विउलजोणी हु॥ 87॥

अर्थ - गर्भज जीवों की योनि नियम से मिश्र-संवृत विवृत की अपेक्षा मिश्रित ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवों की विकलेन्द्रियों की तरह निवृतयोनि ही होती है।

उक्त गुणयोनि की उपसंहारपूर्वक विशेष संख्या

सामणणेण य एवं, णव जोणीओ हवति वित्थारे।

लक्खाणं चदुरसीदी, जोणीओ होंति णियमेण॥ 88

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे।

लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन॥88

अर्थ- पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्य से योनियों के नियम से नव ही भेद होते हैं। विस्तार की अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

योनि सम्बन्धी इस विस्तृत संख्या के सम्भव स्थानों को विशेषता

णिच्चिदरधादुसत्त य, तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।

सुरणिरयतिरियचउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥ 89

अर्थ - नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें से प्रत्येक की सात सात लाख तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पति की दश लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय इनमें से प्रत्येक के दो दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की सब मिलाकर छह लाख, देव, नारकी, तिर्यच पंचेन्द्रिय प्रत्येक की चार चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर 84 लाख योनि होती है।

उववादा सुरणिरया, गब्भजसम्मच्छिमा हु णरतिरिया।

सम्मच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा॥ 90

अर्थ - देवगति और नरकगति में उपपाद जन्म ही होता है। मनुष्य तथा तिर्यचों में यथा सम्भव गर्भ और सम्मूर्छन दोनों ही प्रकार का जन्म होता है; किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

पंचक्खतिरिक्खाओ, गब्भजसम्मच्छिमा तिरिक्खाणां।

भोगभुमा गब्भभवा, नरपुण्णा गब्भजा चेव॥ 91

अर्थ - कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यच गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। तिर्यचों में जो भोग भूमिया तिर्यच हैं वे गर्भज ही होते हैं। और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तकों की कहाँ कहाँ सम्भावना है और कहाँ नहीं

उववादगब्भजेसु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण॥

णरसम्मच्छिमजीवा, लद्धिअपज्जत्तगा चेव॥ 92

अर्थ-उपपाद और गर्भ जन्मवालों में नियम से लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते। और सम्मूर्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं।

भावार्थ- देव नारकी पर्याप्त निवृत्यपर्याप्त ही होते हैं। और चक्रवर्ती के रानी आदि को छोड़कर शेष आर्यखण्ड की स्त्रियों की योनि, काँख, स्तन, मूत्र, मल आदि में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं।

णेरइया खलु संढा, णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मच्छा।

संढा सुरभोगभुमा, पुरिसिच्छीवेदगा चेव॥ 93

अर्थ- नारकियों का द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है। मनुष्य और तिर्यचों के तीनों ही (स्त्री पुरुष नपुंसक) वेद होते हैं, सम्मूर्छन मनुष्य और तिर्यच नपुंसक ही होते हैं। देव और भोगभूमियों के पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है।

भावार्थ- देव, नारकी, भोगभूमियां और सम्मूर्छन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है, वही भाववेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यचों में यह नियम नहीं

है। उनके द्रव्यवेद और भाव वेद में विपरीतता भी पाई जाती है। अंगोपांग नामकर्म के उदय से होने वाले शरीरगत चिन्ह विशेष को द्रव्यवेद और मोहनीय कर्म की प्रकृति के उदय से होने वाले परिणाम विशेषों को भाववेद कहते हैं।

शरीरावगाहना की अपेक्षा जीवसमासों का निरूपण

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।

अंगुलअसंखभागं, जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे।। 94

अर्थ - उत्पन्न होने से तीसरे समय में, सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की जघन्य अवगाहना होती है। और उत्कृष्ट अवगाहना मत्स्य के होती है।

भावार्थ- ऋजुगति के द्वारा उत्पन्न होने वाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति से तीसरे समय में शरीर की जघन्य अवगाहना होती है, और इसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य में होने वाले महामत्स्य की होती है। इसका प्रमाण हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा ढाई सौ योजन मोटा है। जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक एक प्रदेश की वृद्धि के क्रम से मध्यम अवगाहना के अनेक भेद होते हैं। अवगाहना के सम्पूर्ण विकल्प संख्यात घनांगुल प्रमाण असंख्यात होते हैं। ऋजुगति से उत्पन्न होने वाले की ही जघन्य अवगाहना होती है। यह कहने का कारण यह है कि विग्रहगति में उत्पन्न होने वाले के योगों में वृद्धि हुआ करती है और योगों की वृद्धि होने पर अवगाहना में भी वृद्धि हो जाने का प्रसंग आ जाता है।

उत्कृष्ट अवगाहना भी स्वयंभूरमण समुद्र के तटवर्ती मत्स्य में अथवा अन्यत्र पाये जाने वाले जीव में न रहकर स्वयंभूरमण के मध्यवर्ती महामत्स्य में ही सम्भव है।

इन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण

साहियसहस्समेकं, बारं कोसूणमेकमेक्कं च।

जोयणसहस्सदीहं, पम्मे वियले महामच्छे।। 95

अर्थ-पद्म (कमल) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीर की अवगाहना क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीन कोश, एक

योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये।

भावार्थ- एकेन्द्रियों में सबसे उत्कृष्ट कमल की कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियों में शंख की बारह योजन, त्रीन्द्रियों में गैष्मी (चींटी) की तीन कोश, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर की एक योजन, पंचेन्द्रियों में महामत्स्य की एक हजार योजन लम्बी शरीर की अवगाहना का प्रमाण है।

यहाँ पर महामत्स्य की एक हजार योजन की अवगाहना से जो पद्म की कुछ अधिक अवगाहना बतलाई है, और पूर्व में सर्वोत्कृष्ट अवगाहना की बतलाई है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर केवल लम्बाई का वर्णन है, और पूर्व में जो सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बताई थी वह घनक्षेत्रफल की अपेक्षा से थी। इसलिये पद्म की अपेक्षा मत्स्य के शरीर की अवगाहना ही उत्कृष्ट समझनी चाहिये; क्योंकि पद्म की अपेक्षा मत्स्य के शरीर की अवगाहना का क्षेत्रफल अधिक होता है।

पर्याप्तक द्विन्द्रियादिकों की जघन्य, अवगाहना का प्रमाण क्या है? और उनके धारक जीव कौन कौन है ? यह बताते हैं।

वित्तिचपपुण्णजहण्णं, अणुंधरीकुंथुकाणमच्छोसु।

सिच्छयमच्छे विदंगुलसंखं संखगुणिदकमा॥ 96॥

अर्थ- द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में अनुंधरी, कुन्थु, काणमक्षिका सिक्थक-मत्स्य के क्रम से जघन्य अवगाहना होती है। इसमें प्रथम की घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण है। और पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर की अवगाहना क्रम से संख्यातगुणी अधिक अधिक है।

भावार्थ- द्विन्द्रियों में सबसे जघन्य अवगाहना अनुंधरी के पाई जाती है और उसका प्रमाण घनांगुल के संख्यातवें भागमात्र है। उससे संख्यातगुणी त्रीन्द्रियों की जघन्य अवगाहना है, यह कुंथुके पाई जाती है। इससे संख्यातगुणी चौइन्द्रियों में काणमक्षिका की, और इससे भी संख्यात गुणी पंचेन्द्रियों में सिक्थमत्स्य के जघन्य अवगाहना पाई जाती है। यहाँ पर आचार्यों ने द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि न लिखकर “वि, ति, च, प,” ये शब्द जो लिखे हैं वे “नाम का एकदेश भी सम्पूर्ण नाम का बोधक होता है” इस नियम के आश्रय से लाघव के लिए लिखे हैं। यह अवगाहना

घनफलरूप है इनकी लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई का पृथक-पृथक प्रमाण यहां नहीं बताया गया है।

पंचस्थावर व विकलत्रय जीव प्रति कृत अपराध का प्रायश्चित

पुढवीजलगिगवाओ तेओवि वणफ्फदी य वियलतया।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (16)(कल्याणा.)

पद्य- पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति व विकलत्रय जीव प्रति।

जो-जो मुझसे हुई विराधना वे सब पाप मेरे हो मिथ्या।।

इंसानों ने 48 साल में पशु-पक्षियों की 60% आबादी खत्म कर दी

दुनिया भर में पशु-पक्षियों को इंसानों से कितना खतरा है। इसका अंदाजा हाल ही में जारी वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फंड (डब्ल्यूडब्ल्यूएफ) की रिपोर्ट से लगाया जा सकता है। इसके मुताबिक इंसानों ने पिछले महज 48 साल में पशु-पक्षियों की करीब 60 फीसदी आबादी खत्म कर दी है। चार साल पहले तक यह आंकड़ा 52% था। इनमें कई स्तनधारी जीव, पक्षी, मछलियां और रंगने वाले प्राणी शामिल हैं। रिपोर्ट में गंभीर चिंता जताते हुए कहा गया है कि वह धीरे-धीरे मानव सभ्यता के लिए खतरा बनता जा रहा है। रिपोर्ट को दुनिया भर के 59 वैज्ञानिकों ने मिलकर तैयार किया है। इसमें कहा गया है कि यह पता चलता है कि वैश्विक आबादी खाद्य और संसाधनों की विशाल और बढ़ती खपत के बीच अरबों वर्षों के निर्माण के बाद बने जीवन के चक्र या जाल को नष्ट कर रही है, जिस पर मानव समाज अंततः स्वच्छ हवा, पानी और अन्य सभी चीजों पर निर्भर करता है।

डब्ल्यूडब्ल्यूएफ में विज्ञान और संरक्षण के कार्यकारी निदेशक माइक बैरेट ने कहा, 'हम धीरे-धीरे एक बड़ी चट्टान के किनारे की तरफ झुक रहे हैं और जल्द ही गिर पड़ेंगे। पशु-पक्षियों की आबादी में यह गिरावट उत्तरी अमेरिका, दक्षिण

अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप, चीन और ओशिनिया को खाली करने के बराबर है और हमने यही किया है।' जूलॉजिकल सोसायटी ऑफ लंदन लिविंग प्लेनेट इंडेक्स जारी करता है। यह वन्य जीवन में गिरावट देखने के लिए 4,000 से अधिक प्रजातियों का अध्ययन करता है।

कई वैज्ञानिकों का मानना है कि दुनिया में पशु-पक्षियों ने बड़े पैमाने पर विलुप्त होना शुरू कर दिया है, जो कि मानव प्रजातियों के कारण होने वाला पहला बड़ा नुकसान है। हाल ही में किए गए वैज्ञानिक विश्लेषणों से पता चलता है कि सभ्यता की शुरुआत से लेकर अब तक मानव जाति ने दुनियाभर में स्तनधारियों और पौधों की 83 फीसदी से ज्यादा आबादी को नष्ट कर दिया है। अगर इसे अभी से ठीक करना शुरू कर दें, तो, भी इससे पूरी तरह संतुलित होने में 50 लाख से 70 लाख साल तक का वक्त लग जाएगा।

तो लुप्त हो जाएंगी कई प्रजातियां

मछली, सरीसृप, पक्षियों और स्तनधारी जीवों के लिए इंसान अब खतरा साबित हो रहा है। डब्ल्यूडब्ल्यूएफ की 'लिविंग प्लैनेट रिपोर्ट ऑफ द ग्लोबल फंड फॉर नेचर' के मुताबिक वर्ष 1970 से 2014 के बीच कशेरुकी प्राणियों की 60 फीसदी आबादी खत्म हो चुकी है। वर्ष 2010 तक ये आबादी 48 फीसदी बाकी थी। विशेषज्ञों ने 1970 से 2014 के बीच 4005 कशेरुकी प्राणियों की 16704 प्रजातियों की आबादी का विश्लेषण किया। इसके बाद चेतावनी दी है कि अगर इन्हें संरक्षित करने के लिए कारगर कदम नहीं उठाए गए तो जल्द ही ये विलुप्त हो जाएंगी।

संसारि जीव के भेद-स्थावर एवं त्रस

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।

विगतिगचदु पंचक्खा तसजीवा होंति संखादी।। (11)द्र.सं.

The earth water, fire, air and plants are various kinds of Sthavara possessed one sense. The Trasa Jivas, conches, etc are possessed of Two, three, four and five senses.

पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर

जीव हैं और ये सब एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदिक दो, तीन चार और पाँच इंद्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

गाथा नं.11 व 12 में संसारी जीवों का वर्णन है, इस गाथा में त्रस एवं स्थावर जीवों का संक्षिप्त वर्णन है। स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर जीव बनते हैं एवं त्रस नामकर्म के उदय से त्रस जीव बनते हैं। स्थावर जीव के सामान्यतः 5 भेद हैं। यथा 1. पृथ्वीकायिक, 2. जलकायिक, 3.तेज, 4.वायु, 5.वनस्पति ये पाँच प्रकार के स्थावर हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं।

आधुनिक विज्ञान में केवल वनस्पति को जीव सिद्ध किया परंतु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक को जीव सिद्ध करने में असमर्थ हैं, क्योंकि इन जीवों का आकार अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण एवं उसके सूक्ष्म शरीर में होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं के कारण वैज्ञानिक लोग इन्हें जीव सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो पाये हैं। परंतु जैन धर्म केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित होने के कारण इसमें सूक्ष्म परमाणु से लेकर आकाश तक संपूर्ण द्रव्यों का एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध तक के जीवों का वर्णन है। इन पाँच स्थावर के विशेष शोध-बोध के लिए एवं आधुनिक शोध-बोध करने वाले विद्यार्थियों के मार्गदर्शन के लिए इसका विशेष वर्णन यहाँ कर रहा हूँ-

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

पुढ्वी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।

वेति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं।। 110

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ऐसे यह पुद्गल परिणाम बंधवशात् बंध के कारण जीव सहित हैं अवान्तर जातिरूप भेद करने पर वे अनेक होने पर भी सभी पुद्गल परिणाम, स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम वाले जीवों को बहिरंग स्पर्शनेन्द्रिय की रचनाभूत हुए कर्मफल चेतना प्रधानपने के कारण अत्यंत मोह सहित ही स्पर्शोपलब्धि ज्ञान संप्राप्त कराते हैं।

तिस्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।

मणपरिणाम विरहिदा जीवा एहंदिया णेया।। 111

उनमें तीन जीव स्थावर शरीर के संयोग वाले हैं, वायुकायिक और

अग्निकायिक जीव त्रस हैं, वे सब मन परिणाम रहित एकेन्द्रिय जीव जानना।

जीव ने जो स्थावर नामकर्म बांधा है उसके उदय के आधीन होने से यद्यपि अग्नि और वायुकायिक जीवों को व्यवहार नय से चलनापन है तथापि निश्चयनय से स्थावर ही है।

एदे जीवणिकाया पंचविधापुढविकाइयादीया।

मणपरिणाम विरहिदाजीवा एगेंदिया भणिया।। (112)

पृथ्वीकायिक आदि जीव, स्पर्शनेन्द्रिय आवरण क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से मनरहित एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रियों को चैतन्य का अस्तित्व होने संबंधी दृष्टांत का कथन है-

अंडेसु पवडुंता गढ्भत्था माणुसा य मुच्छगया।

जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया।। (113)

अंडे में वृद्धि पाने वाले प्राणी, गर्भ में रहे हुए प्राणी और मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य जैसे बुद्धिपूर्वक व्यापार रहित होते हुए भी जीव है, वैसे ही एकेन्द्रिय भी जीव जानना।

जैसे अंडों के भीतर के तिर्यच व गर्भस्थ पशु या मनुष्य या मूर्च्छागत मानव इच्छापूर्वक व्यवहार करते नहीं दिखते हैं वैसे ही इन एकेन्द्रियों को जानना चाहिए अर्थात् अंडों में जन्मने वाले प्राणियों के शरीर की पुष्टि या वृद्धि को देखकर बाहरी व्यापार करना न दिखने पर भी भीतर चैतन्य है ऐसा जाना जाता है, यही बात गर्भ में आये हुए पशु या मानवों की भी है। गर्भ बढ़ता जाता है इसी से चेतना की सत्ता मालूम होती है। मूर्च्छागत मानव तुरंत मूर्च्छा छोड़ सचेत हो जाता है। इसी तरह एकेन्द्रियों के भीतर भी जानना चाहिए। जब गर्भस्थ शरीर या अंडे या मूर्च्छा प्राप्त प्राणी म्लानित हो जाते हैं अर्थात् बढ़ते नहीं या उनके शरीर की चेष्ट बिगड़ जाती है तब यह अनुमान होता है कि उनमें जीव नहीं रहा। उसी तरह एकेन्द्रिय जीव जब म्लानित या मर्दित हो जाते हैं तब वे जीव रहित अचित्त हो जाते हैं।

पृथ्वीकायिक आदि जीवों का आकार

मसुराम्बुपृषत्सूचितकलापध्वजसन्निभाः

धाराप्ते जो मरूत्काया नानाकारास्तरुस्त्रसाः।। गा. 57 त.सा.

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का आकार क्रम से मसूर, पानी की बूंद, खड़ी सुईयों की समूह तथा ध्वजा के समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीव अनेक आकार के होते हैं।

पृथिवीकायिक जीवों के छत्तीस भेद

मूतिका बालुका चैव शर्करा चोपलःशिला।

लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुःसीसकमेव च॥ (58)

रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलम्।

मनःशिला तथा तुत्थमज्जनं सप्रवालकम्॥ (59)

क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः।

गोमेद रुचकाङ्काश्च स्फटिको लोहितप्रभः। (60)

वैडूर्यं चन्द्रकान्तच्च जलकान्तो रविप्रभः।

गैरिकाश्चचन्दनश्चैव वर्चुरो रुचकस्तथा॥ (61)

मोठो मसारगल्लच्च सर्व एते प्रदर्शिताः।

षट्त्रिंशत्पृथ्वीभेदाभगवभ्दिजिनेश्वरैः॥ (62),

1. मिट्टी, 2. रेत, 3. चूनकंकरी, 4. पत्थर, 5. शिलाएँ, 6. नमक, 7. लोहा, 8. तांबा, 9. रांगा, 10. शीशा, 11. चांदी 12. सोना, 13. हीरा, 14. ,हरताल
15. इंगूर, 16. मैनसिल, 17. तूतिया, 18. सूरमा, 19. मूंगा, 20. क्रिरोलक,
21. भोड़ल-बड़ी-बड़ी मणियों के खंड, 22. गोमेद, 23. रुचकांक, 24. स्फटिक,
25. पद्मराग, 26. वैडूर्य, 27. चन्द्रकांत, 28. जलकांत, 29. सूर्यकांत, 30. गैरिक,
31. चन्दन, 32. वर्चूर, 33. रुचक, 34. मोठ, 35. मसार और 36 गल्ल नामक मणि ये सब पृथिवीकायिक के छत्तीस भेद जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं।

जलकायिक जीवों के भेद-

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके।

शीकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः॥ (63)

ओस, बर्फ के कण-शुद्धोदक-चन्द्रकांतमणि से निकला पानी, मेघ से तत्काल वर्षा हुआ पानी तथा कुहरा आदि जलकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

अग्निकायिक जीवों के भेद-

ज्वालांगारास्तथार्चिश्च मुर्मूरःशुद्ध एव च।

अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः॥ (64)

ज्वालाएँ, अंगार, अर्चि-अग्नि की किरण, मुर्मूर-अग्निकण भस्म के भीतर छिपे हुए अग्नि के छोटे-छोटे कण और शुद्ध अग्नि-सूर्यकांतमणि से उत्पन्न अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

वायुकायिक जीवों के भेद-

महान् घनतनुश्चैव मुञ्जामण्डलिरुत्कलिः।

वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः॥ (65)

वृक्ष वगैरह को उखाड़ देने वाली महान् वायु अर्थात् आंधी, तिरछी बहने वाली वायु और वात-सामान्य वायु ये सब पवनकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के भेद-

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा।

संमुर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः॥ (66)

मूलबीज-मूल से उत्पन्न होने वाले अदरक, हल्दी आदि अग्रबीज, कलम से उत्पन्न होने वाले गुलाब आदि, पर्वबीज पर्व से उत्पन्न होने वाले गन्ना आदि, कन्दबीज-कन्द से उत्पन्न सूरण आदि, स्कन्धबीज-स्कंध से उत्पन्न होने वाले ढाक आदि, बीजरुह-बीज से उत्पन्न होने वाले गेहूँ, चना आदि तथा समुर्च्छिन अपने आप उत्पन्न होने वाली घास आदि वनस्पतिकायिक प्रत्येक तथा साधारण दोनों प्रकार के होते हैं।

एकेन्द्रियादि तिर्यचों की उत्कृष्ट अवगाहना-

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः।

एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मिनी॥ 143

त्रिकोशःकथितःकुम्भी शंखो द्वादशयोजनः।

सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपञ्चेक योजनः॥ 144

एकेन्द्रिय जीव का शरीर उत्कृष्टता से कुछ अधिक एक हजार योजन विस्तार वाला है। एकेन्द्रिय जीव की यह उत्कृष्ट अवगाहना कमल की जानना

चाहिए। दो इन्द्रिय जीवों में शंख बारह योजन विस्तार वाला है, तीन इन्द्रिय जीवों में कुम्भी-चिंउटी तीन कोश विस्तार वाली है, चार इन्द्रिय जीवों में भौरा एक योजन विस्तार वाला और पाँच इन्द्रिय महामच्छ एक हजार योजन विस्तार वाला है।

ये उत्कृष्ट अवगाहना के धारक जीव स्वयंभूरमण द्वीप के बीच में पड़े हुए स्वयंभू पर्वत के आगे के भाग में होते हैं। मच्छ स्वयंभूरमण समुद्र में रहता है।

एकेन्द्रियादिक जीवों की जघन्य अवगाहना-

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यंगुलस्य तु।

एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यताः॥ 145

एकेन्द्रियादिक सभी जीवों का शरीर जघन्य रूप से घनांगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

एकेन्द्रिय जीवों में सर्वजघन्य शरीर सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने से तीसरे समय में होता है तथा उसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। द्वीन्द्रियों में सर्वजघन्य शरीर अनुंधरी का, त्रीन्द्रियों में कुन्धु का, चतुरिन्द्रियों में कणमक्षिका का और पंचेन्द्रियों में तण्डुलमच्छ का होता है। यद्यपि इन सबका सामान्य रूप से प्रमाण घनांगुल का असंख्यातवे भाग के बराबर है तथापि वह आगे-आगे संख्यात गुणा-संख्यात गुणा है।

स्थावरादिजीवों की कुल कोटी-

बावीस सत्त तिण्णय, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साहि।

णेया पुढ्विदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा॥ 113

पृथिवीकायिक जीवों के कुल भेद बाईस लाख कोटी हैं। जलकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटी हैं। अग्निकायिक जीवों के कुल तीन लाख कोटी हैं और वायुकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटी हैं।

गाथा में जो ‘‘विविहथावरेइंदी’’ शब्द प्रयोग किया गया है वह महत्वपूर्ण है। सामान्यतः एकेन्द्रिय स्थावर जीव के पाँच भेद होते हुए भी उनकी विभिन्न जाति, प्रजातियाँ हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आम का वृक्ष वनस्पतिकायिक है। आम में भी अनेक प्रजातियाँ हैं। इसी प्रकार अन्य अन्य वनस्पति एवं पृथ्वीकायिक आदि जीव में जान लेना चाहिए। त्रसनामकर्म के उदय से त्रसकायिक जीव होते हैं।

उसके सामान्यतः चार भेद हैं। 1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय, 4. पंचेन्द्रिय।
आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है-

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। 14

Mobile of many sensed souls with 2 senses etc.

दो इन्द्रिय आदि त्रस हैं।

त्रसनाम कर्म के उदय से संसारी जीव त्रसकायिक होते हैं। इस अपेक्षा से त्रस जीव एक होते हुए भी इन्द्रियादि भेद से उनमें भी भेद पाए जाते हैं।

गोम्मट्टसार जीवकांड में जीवों के विभिन्न भेद-प्रभेदों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे।

इंदियकाये चरिमस्स य दुत्तिचदुपणगभेदजुदे।। 75

सामान्य से जीव का एक ही भेद है क्योंकि “जीव” कहने से ‘जीव मात्र’ का ग्रहण हो जाता है। इसलिए सामान्य से जीव समास का एक भेद, त्रस और स्थावर अपेक्षा से ये दो भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय पंचेन्द्रिय की अपेक्षा तीन भेद। यदि पंचेन्द्रिय के दो भेद कर दिए जाए तो जीव समास के एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच भेद हैं अर्थात् एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति पाँच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार काय की अपेक्षा छह भेद हैं। यदि पाँच स्थावरों में त्रस के विकल और सकल इस तरह दो भेद करके मिलाने से सात भेद होते हैं और विकल के संज्ञी और असंज्ञी इस प्रकार तीन भेद करके मिलाने से आठ भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इस तरह चार भेद करके मिलाने से नव भेद होते हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी इस तरह पाँच भेद मिलाने से दस भेद होते हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के नाम-

शम्बूकः शंखशुक्ति वा गण्डूपदकपर्दकाः।

कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः।। गा. 53 त.सा. अ.2

शम्बूक, शंख, सुक्ति-सीप, गिंडोलें, तथा पेट के कीड़े आदि ये दो इन्द्रिय जीव माने गए हैं।

त्रीन्द्रिय जीवों के नाम-

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः।

घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः॥ 54

कुन्थु, चिउटी, कुम्भी, बिच्छु, बीरवहुटी, घुनका कीड़ा, खटमल, चीलर जुवाँ आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम-

मधुपःकीटको दंशमशको मक्षिक स्तथा।

वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः॥ 55

भौरा, उड़ने वाली कीड़े, डाँस, मच्छर, मक्खी, बर् तथा टिड्डी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों के नाम-

पंचेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकासिदिवौकसः।

तिर्यञ्चोऽप्यरगा भोगिपरिसर्पचतुष्पदाः॥56

मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यच, साँप, फणवाले नाग, सरकने वाला अजगर आदि तथा चौपाये पाँच इन्द्रिय जीव हैं।

संज्ञी, असंज्ञी, बादर, सूक्ष्मादि भेद

समणा अमणा णेया पंचेदिय णिमणा परे सव्वे।

बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत इदरा य॥ (12)

(jivas) Possessing five senses are known to be divided into those having mind and those without mind. All that rest are without mind. Jivas having one sense are divided into two classes Badara and sukshma. All of these have again to varieties each paryapta and its opposite.

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के जानने चाहिए और दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय ये सब मनरहित असंज्ञी हैं, एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म

दो प्रकार के हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं, ऐसे 14 जीव समास हैं।

“नानाविकल्प जालरूप मनो” अर्थात् नाना प्रकार के विकल्प रूप को मन कहते हैं। ऐसे मन वाले जीवों को समनस्क कहते हैं। मन से रहित जीव को अमनस्क कहते हैं। भले एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक अमनस्क ही हैं तथापि यहाँ पर समनस्क और अमनस्क भेद पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन्द्रिय एवं मन की उपलब्धि क्रम से होती है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जीव में क्रमशः एक एक इन्द्रिय वृद्धि रूप में स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु इन्द्रिय होती है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय में स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु एवं कर्ण इन्द्रिय होगी परंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में पाँचों इन्द्रिय के साथ-साथ मन भी होता है। इसलिए पंचेन्द्रिय में ही संज्ञी एवं असंज्ञी का भेद है।

संज्ञी की परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में निम्न प्रकार से दी है। यथा-

संज्ञिनः : समनस्काः। (24)

The retional (beings are also called)

संज्ञी i.e. one who has got Sanjna-mind here.

मन वाले जीव संज्ञी होते हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव में से पंचेन्द्रिय सैनी जीव अधिक विकसित जीव हैं, क्योंकि संज्ञी जीव मन सहित होता है। मन दो प्रकार के होते हैं।

1. द्रव्यमन, 2. भावमन।

पुद्गलविपाकी आगोपांग नाम कर्म के उदय से द्रव्यमन होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। यह मन जिन जीवों में पाया जाता है वे समनस्क हैं और उन्हें ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्याय से यह सिद्ध हुआ कि इनके अतिरिक्त और जितने जीव होते हैं वे असंज्ञी हैं। नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार में संज्ञा मार्गणा में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

णोइन्द्रियआवरण खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।

सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो।।

नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो उसको 'संज्ञी' कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो किंतु यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनकी असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञी असंज्ञी की पहचान के लिए चिह्न :-

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।

जो जीवो सो सण्णी तच्चिरीओ असण्णी दु।। 661

हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जाए उसको 'शिक्षा' कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ, पैर के चलाने को क्रिया' कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताए गए कर्तव्य को "उपदेश" कहते हैं और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं।

जो जीव इन शिक्षादि को मन के अवलंबन से ग्रहण-धारण करता है, उसको संज्ञी कहते हैं और जिन जीवों में यह लक्षण घटित न हो उसको असंज्ञी कहते हैं।

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।

सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरिदो।।

जो जीव प्रवृत्ति करने से पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करे तथा तत्त्व और अतत्त्व का स्वरूप समझ सकें और जो नाम रखा गया हो उस नाम के द्वारा बुलाने पर आ सके, उन्मुख हो या उत्तर दे सके उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं। और इससे जो विपरीत हैं, उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञीमार्गणागत जीवों की संख्या :-

देवेहिं सदिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं।

तेणूणो संसारी सव्वेसिमसण्णिजीवाणं।।गोम्मट्टसार

देवों के प्रमाण से कुछ अधिक संज्ञी जीवों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवों का प्रमाण है।

70 अतिचार, सामायिक, क्षमाभाव में हुए दोषों का प्रायश्चित

मल सत्तरा जिणुत्ता वय विसये जा विराहणा विविहा।

सामइया खमइया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (17) (कल्याणा.)

पद्य-जिनेन्द्र उक्त सत्तर अतिचार व्रत विषय में उसमें लगे जो दोष।

सामायिक व क्षमा भाव में जो हुए दोष वे सब हो मेरे दुष्कृत।।

शङ्काकाड् क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः। (23)

There are 5 defects or partial transgressions अतिचार which should not be found in a man of right belief.

1. शंका-Doubt., Scepticism
2. कांक्षा Desire of Sense pleasures
3. विचिकित्सा- Disqust at anything e.g. with a stick or deformed
4. अन्यदृष्टिप्रशंसा-Thinking admiringly of wrong believers
5. अन्यदृष्टिसंस्तव- Praising wrong believers.

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचार हैं-

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होना, अतिचरण होना अतिचार है। अतिचार और अतिक्रम ये एकार्थवाची हैं। ये शंकादि पाँच अतिचार सम्यग्दर्शन के हैं।

दर्शनविशुद्धि के प्रकरण में निःशंकित, निःकाक्षित आदि सम्यग्दर्शन के गुण कहे हैं। उनके प्रतिपक्षी शंका आदि पाँच अतिचार हैं। अर्थात् तत्त्व में शंका करना संसार के भोगों की वांछा करना, मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा और वचन से संस्तुति करना।

प्रश्न- संस्तवन और प्रशंसा में क्या विशेषता है ?

उत्तर- मन और वचन के विषयभेद से प्रशंसा और संस्तवन में भेद है। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान-चारित्रादि गुणों का मन से अभिनंदन करना प्रशंसा है तथा

वचनों से मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान एवं अविद्यमान गुणों का उद्भावन-कथन करना संस्तवन है; यह इन दोनों में भेद है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन के अंग आठ बताये हैं और उनके प्रतिपक्षी दोष भी आठ हो सकते हैं, परन्तु इन पाँचों में ही सबका अंतर्भाव हो जाता है। पाँच व्रतों और सप्त शीलों के पाँच-पाँच अतिचार कहने की इच्छा वाले आचार्य ने 'प्रशंसा' और 'संस्तव' में शेष (वात्सल्य, प्रभावना और स्थितिकरण के विपरीत भाव) का अंतर्भाव होने से सम्यग्दर्शन के भी पाँच ही अतिचार कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

यद्यपि यहाँ पर अगारी का प्रकरण है और आगे भी अगारी का प्रकरण रहेगा तथापि इस सूत्र में अगारी-गृहस्थ सम्यग्दृष्टि के अतिचार नहीं बताये हैं क्योंकि यहाँ सम्यग्दृष्टि का ग्रहण उभय (गृहस्थ एवं मुनि) अर्थ के लिए है। अर्थात् पुनः सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण करने से सामान्य सम्यग्दृष्टि (चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ) के ये अतिचार हैं।

5 व्रत और 7 शीलों के अतिचारों की व्याख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्। (24)

There are 5 defects respectively in each of the 5 व्रत Vows and 7 शील Supplementary Vows-which should be avoided.

व्रतों और शीलों में पाँच-पाँच अतिचार हैं जो क्रम से इस प्रकार हैं-

अहिंसा आदि पाँच व्रत कहलाते हैं और दिग्विरति, देशव्रत, अनर्थदंड विरत, सामयिक, प्रोषधोपवास भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसविभाग ये सात शील कहलाते हैं। उन व्रतों और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं, व्रत का एकदेश भंग होना अतिचार है।

यद्यपि दिग्विरति आदि शील की अभिसंधि (संकल्प) पूर्वक निवृत्ति होने से व्रत ही है तथापि शील विशेष रूप से व्रतों के परिरक्षण के लिए होते हैं अतः 'शील' शब्द इस विशेष अर्थ का द्योतन करने के लिए है तथा शील के ग्रहण से दिग्विरति आदि का ग्रहण होता है अतः उनका 'पृथक् शील शब्द से निर्देश किया है।

सामर्थ्य से इसमें गृहस्थ के व्रतों का संप्रत्यय (ज्ञान) होता है। यद्यपि इस सूत्र में गृहस्थ और मुनि आदि विशेषण नहीं है तथा आगे कहे जाने वाले वध, बंधन, छेद आदि वचन के सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थों के व्रतों के हैं। अतः आगे अतिचार के सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ के व्रतों का ग्रहण होता है क्योंकि 'बन्धवच्छेद'... ये गृहस्थों के ही व्रतों के अतिचार हो सकते हैं, अनगार (मुनि) के नहीं।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

बन्धवधच्छेदातिभारोपणान्नपाननिरोधाः।(25)

The partial transgressions of the first vow अहिंसा अणुव्रत are

1. बन्ध-Tying up.
2. वध-Beating.
3. छेद-Mutilating.
4. अतिभारोपण-Overloading.
5. अन्नपाननिरोध-with holding food or drink from an animal or human being.

बंध, वध, छेद, अतिभार का आरोपण और अन्नपान का निरोध ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

बंध-अभिमत (इच्छित) देश (स्थान) में जाने के निरोध का कारण बंध है अथवा इच्छित देश में जाने के उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबंध के हेतु खूँटे आदि में रस्सी से इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देश में गमन न कर सके वह बंध कहलाता है।

वध-प्राणी-पीड़ा का कारण वध कहलाता है। डण्डा, कोड़ा बेंत आदि से पीटना वध है न कि प्राणीहत्या, क्योंकि प्राणीहत्या से विरक्ति तो व्रत धारण काल में ही हो चुकी है।

छेद-अंग का अपनयन करना छेद है। कर्ण, नासिका आदि अवयवों का छेदन करना-नाश करना छेद कहलाता है।

अतिभारोपण-उचित भार से अधिक भार-लादना अतिभारोपण है।

अत्यन्त लोभ के कारण बैल, घोड़े आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारोपण है।

अन्नपाननिरोध-भूख प्यास की बाधा देना अन्नपाननिरोध है। उन गाय, भैंस, बैल आदि के लिए किसी कारण से भूख-प्यास की बाधा पैदा करना, उन्हें समय पर चारा-पानी नहीं देना अन्नपाननिरोध है। ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।

(26)

The partial transgressions of the second vow सत्याणुव्रत are:

1. मिथ्योपदेश-Preaching false doctrines.
2. रहोभ्याख्यान-Divulging the secret actions of man and woman.
3. कूटलेखक्रिया-Forgery and perjury.
4. न्यासापहार-Unconscientious dealing by means of speech.
4. साकारमन्त्रभेद Divulging what one guesses by seeing the behaviour or gertures of others, who are consulting in private.

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्र भेद ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश-मिथ्या, अन्य प्रवर्तन या यथार्थ क्रियाओं का छिपाना मिथ्योपदेश है। अभ्युदय और निःश्रेयसार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति करा देना या उनके प्रति उलटी बात कहना मिथ्योपदेश कहलाता है।

रहोभ्याख्यान- संवृत (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकांत में किये गये रहस्य (संकेत, बातचीत आदि) का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है ऐसा जानना चाहिये।

कूटलेखक्रिया-परप्रयोग से अनुक्त पद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया है। किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि 'उसने ऐसा कहा है या

ऐसा अनुष्ठान किया है, इस प्रकार वचन के निमित्त (ठगने के लिए) लेख लिखना कूटलेखक्रिया है।

न्यासापहार-हिरण्य आदि निक्षेप से अल्पसंख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है। सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा भूल से अल्पशः (कम) माँगने पर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसका कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है।

साकारमन्त्रभेद-प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है। प्रयोजन, प्रकरण, अंगविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः। (27)

The Partial Transgressions of the third vow अचौर्याणुव्रत are

1. स्तेनप्रयोग-Abetment of theft.
2. तदाहतादान-Receiving stolen properly.
3. विरुद्धराज्यातिक्रम Illegal traffic e.g. by selling things at inordinate prices in time of war or to alien enemies etc.
4. हीनाधिकमानोन्मान-False weight and measures.
5. प्रतिरूपक व्यवहार-Adulteration.

स्तेनप्रयोग, स्तेनआहतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

स्तेनप्रयोग-चोर को चौर्य कर्म में स्वयं प्रयुक्त करना, स्तेन प्रयोग है। अर्थात् चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग(उपाय) बतलाना व दूसरे के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त-प्रवृत्त कराना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेनप्रयोग हैं, ऐसा जानना चाहिए।

तदाहतादान- चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहतादान है। अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाए हुए द्रव्य को खरीदना तदाहतादान है; ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न-तदाहतादान में क्या दोष है ?

उत्तर- चोरी का माल खरीदने (तादाहतादान) से, पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिए। अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने से भी पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

विरुद्धराज्यातिक्रम- उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। उचित न्याय भाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। विरुद्धराज्य (राज्य के नियमों के विरुद्ध) राज्य परिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना। अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महाकीमत में देने का प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है।

हीनाधिकमानोन्मान-क्रय विक्रय प्रयोग में कूटप्रस्थ, तराजू आदि को हीनाधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है। प्रस्थादि मान कहलाते हैं और तराजू आदि उन्मान। दूसरे को देते समय कम बाँटों (कम वजन वाले बाँटों) से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाँटों का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता है।

प्रतिरूपक व्यवहार-कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना प्रतिरूपक व्यवहार है। कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वचनापूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं को असली वस्तु में मिलाकर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है। ये अदत्तादान विरति के पाँच अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिका परिगृहीतापरिग्रहीतागमनानङ्गक्रीड़ा
कामतीव्राभिनिवेशाः। (28)

The partial transgression of the fourth vow ब्रह्मचर्य are:

1. परविवाहकरण- Bringing about the marriage of people

who are not of one's own family.

2. इत्वरिकापरिग्रहीतागमन-Intercourse with a married immoral woman.

3. इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन-Intercourse with on unmarried immoral woman.

4. अनङ्गक्रीड़ा Unnatural sexual intercourse.

5. कामतीव्राभिनवेश- Intense sexual disire.

परविवाहकरण, इत्वरिकापरिग्रहीतागमन, इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **परिविवाहकरण-** साता वेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरे विवाह को परविवाह कहते हैं और पर के विवाह कराने को परविवाहकरण कहते हैं।

2. **अपरिग्रहीताइत्वरिका-**अयनशील को इत्वरी कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान, नृत्यादि कला, और चारित्र मोह नामक स्त्री वेद के उदय से विशिष्ट अंगोपांग के लाभ से जो परपुरुषों को प्राप्त होती है, परपुरुषों को सेवन करती है; उनको अपने अधीन करती है, वह इत्वरी (व्यभिचारिणी स्त्री) कहलाती है और कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय करने से 'इत्वरिका' शब्द की निष्पत्ति होती है। अपरिग्रहीता और परिग्रहीता के भेद से इत्वरिका दो प्रकार की है। जो वेश्या रूप से वा पुंश्रली रूप से परपुरुषों को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नहीं है वह अपरिग्रहीता इत्वरिका है।

3. **परिग्रहीता इत्वरिका-**जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है अर्थात् जिसका एक स्वामी विद्यमान है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है, वह परिग्रहीता इत्वरिका है। इस प्रकार अपरिग्रहीत और परिग्रहीत इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना अपरिग्रहीता और परिग्रहीत इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन अतिचार है।

4. **अनङ्गक्रीड़ा-**अनंगो से क्रीड़ा अनङ्गक्रीड़ा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन)

और स्त्री की योनि काम सेवन के अंग है। उन अंगों को छोड़कर अन्यत्र अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। अर्थात् कामसेवन के योनि आदि अंगों के सिवाय अन्य अंगों में अनेकविध लिंग और योनि के विकार से कामातिरेकवश क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है।

प्रश्न-दीक्षिता,, अतिबाला, तिर्यचिनी आदि को सेवन करना अतिचार है; उनका ग्रहण इसमें क्यों नहीं किया ?

उत्तर- दीक्षिता, अतिबाला तथा पशु आदि में मैथुन प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनवेश का फल है अतः कामतीव्राभिनवेश के ग्रहण से इसकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि छोड़ने योग्य, दीक्षित; अतिबाला, तिर्यचिनी आदि में मैथुन की वृत्ति कामतीव्राभिनवेश से ही होती है।

प्रश्न- इन अतिचार रूप कार्य करने में क्या दोष है ?

उत्तर- इन कार्यों के करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

परिग्रहपरिमाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य भाण्डप्रमाणातिक्रमाः। (29)

Transgressing the limit of fields, houses, silver, gold, cattle, corn, female and male servants, clothes pot.

क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दास, और दासी के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य और भाण्ड के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. क्षेत्र-चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।
2. वास्तु-आगार, भवन, घर।
3. हिरण्य-चाँदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।
4. सुवर्ण-व्यवहार में आने वाला सोना प्रसिद्ध (ज्ञात) ही है।
5. धान्य-चावल, गेहूँ, मूँग, तिल आदि।

6-7 दासीदास-नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग।

8. कुप्य-कपास एवं कोसे आदि का वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ

9. धन-गाय, बैल, अश्व आदि चतुष्पदिपशु समूह।

10. भाण्ड- पीतल, सुवर्ण, स्टील, लोह इत्यादि निर्मित भाजन समूह।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर उनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधिस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि। (30)

The partial Transgressions of the first गुणव्रत i.e. दिग्व्रत are

1. ऊर्ध्वव्यतिक्रम- Higher than your limit.

2. अधःव्यतिक्रम - lower than your limit

3. तिर्यग्व्यतिक्रम Other 8 directions beyond your limit

4. क्षेत्रवृद्धि To increase the boundaries.

5. स्मृत्यन्तराधान- Forgetting the limit in the vow.

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रत के पाँच अतिचार हैं।

परिमित दिशाओं की अवधि (मर्यादा) का उल्लंघन करना अतिक्रम है। ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम के भेद से अतिक्रम तीन प्रकार का है।

ऊर्ध्वातिक्रम- मर्यादित पर्वत और सम भूमि आदि से ऊपर चढ़ना ऊर्ध्वातिक्रम है।

अधोऽतिक्रम- मर्यादित अधोभाग से अधिक कूपादि में नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है।

तिर्यग्व्यतिक्रम- भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा का उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम अतिचार है।

क्षेत्रवृद्धि-लोभकषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। पूर्व दिशा में योजन आदि के द्वारा मर्यादा करके पुनः लोभ कषाय के कारण उस मर्यादा से अधिक दिशा की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है, ऐसा जानना चाहिए इन दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन प्रमाद, मोह और चित्तव्यासंग से होता है, ऐसा जानना चाहिए।

देशव्रत के अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः। (31)

The partial transgressions of the second Gunavrata i.e. देशव्रत are :

1. आनयन- sending for something from beyond the limit.
 2. प्रेष्यप्रयोग- sending some one out beyond the limit.
 3. शब्दानुपात-sending one's voice out beyond limit e.g. by telephone.
 4. रूपानुपात-making signs for persons beyond the limit as the morse code with flags etc.
 5. पुद्गलक्षेप-Throwing something material beyond the limit.
- आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **आनयन-** 'उसको लाओ' ऐसे आज्ञापन को आनयन कहते हैं। अपने संकल्पित देश से बाहर स्थित व्यक्ति को प्रयोजनवश कुछ पदार्थ लाने की आज्ञा देना आनयन है।

2. **प्रेष्यप्रयोग-** ऐसा करो इस प्रकार का विनियोग प्रेष्यप्रयोग है। स्वीकृत देश की मर्यादा से बाहर स्वयं न जाकर और दूसरों को न बुलाकर भी प्रेष्य (नौकर) के द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है अर्थात् स्वयं तो नहीं जाना परन्तु दूसरे को द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है अर्थात् स्वयं तो

नहीं जाना परन्तु दूसरे को भेजकर काम करवाना ही प्रेष्यप्रयोग है।

3. शब्दानुपात-अभ्युत खाँसी आदि करना शब्दानुपात है। मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले नौकरों का उद्देश्य लेकर खड़े होकर खाँसी या अनेक प्रकार से शब्द (हूँ हूँ...) करके नौकरों से कार्य कराना शब्दानुपात है।

4. रूपानुपात-अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है। 'मेरे रूप को (या मुझे) देखकर के शीघ्र ही कार्य करेंगे' इस अभिप्राय से अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है ऐसा निर्णय किया जाता है।

5. पुद्गलक्षेप -पत्थर आदि का निपात पुद्गलक्षेप हैं। नौकर-चाकरों का उद्देश्य लेकर उनको सकेत करने के लिए कंकड़-पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगानर्थक्यानि। (32)

The partial transgression of the "third Gunavrata"
i.e. अनर्थदण्डव्रत are :

1. कन्दर्प-Paking fun at another.
2. कौत्कुच्य-Gesticulating and mischievous practical joking.
3. मौखर्य-Gossip, garrulity.
4. असमीक्ष्याधिकरण- Overdoing a thing.
5. उपभोगपरिभोगानर्थक्य - keeping too many consumable and non consumable objects.

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

कन्दर्प-रागोद्रेक से प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प है। चारित्र मोह के उदय से अपादित राग के उद्रेक से हास्ययुक्त वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है।

कौत्कुच्य- हास्य वचन और राग का उद्रेक इन दोनों के साथ काय की दुष्ट चेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन चेष्टाओं में राग का समावेश होने से हास्य वचन

और अशिष्ट वचन इन दोनों के साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। अर्थात् काय की कुचेष्टाओं के साथ-साथ होने वाला हास्य और अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य है।

मौख्य- धृष्टतापूर्वक यद्वा-तद्वा बहुप्रलाप करना मौख्य है। शालीनता का त्याग कर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना मौख्य है, ऐसा जानना चाहिए।

असमीक्ष्याधिकरण- मन, वचन और काय के भेद से अधिकरण तीन प्रकार का है।

मानस अधिकरण-निरर्थक काव्य आदि का चिंतन मानस अधिकरण है।

वाचनिक अधिकरण- निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना वाचनिक अधिकरण है।

कायिक अधिकरण- बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए, सचित्त एवं अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह कायिक अधिकरण है। ये सर्व असमीक्ष्याधिकरण हैं अर्थात् मन-वचन-काय की निष्प्रयोजन चेष्टा असमीक्ष्याधिकरण है।

भोगोपभोगानर्थक्य-जितनी भोगोपभोग सामग्री से काम चल सकता है उससे अधिक निष्प्रयोजन सामग्री के आनर्थक्य कहते हैं। भोगोपभोग सामग्री का आनर्थक्य भोगोपभोगानर्थक्य कहलाता है।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि। (33)

The partial transgressions of the first शिक्षाव्रत i.e. सामायिक are :

1. मनोदुष्प्रणिधान-misdirection of mind during meditation.
2. कायदुष्प्रणिधान-Misdirection of body during meditation.
3. वाक्दुष्प्रणिधान-Misdirection of speech during meditation.
4. अनादर -Lock of interest.
5. स्मृत्यनुपस्थान-Forgetting of due formalities.

काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं।

कायदुष्प्रणिधान-दुष्प्रणिधान यानि अन्यथा प्रवर्तना। प्रणिधान, प्रयोग और परिणाम ये एकार्थवाची है। दुष्ट जो पाप-परिणाम उसे दुष्प्रणिधान कहते हैं अथवा योगों का अन्यथा प्रवर्तन योग-दुष्प्रणिधान है। क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र अनेक रूप विकृत-रूप हो जाना काय-दुष्प्रणिधान है।

वाचनिक दुष्प्रणिधान- वर्ण संस्कार का अभाव तथा अर्थ के आगमकत्व में चपलता अर्थात् निरर्थक अशुद्ध वचनों का प्रयोग करना वाचनिक दुष्प्रणिधान है।

मानसिक दुष्प्रणिधान- मन का अनर्पितत्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना मानसिक दुष्प्रणिधान है।

अनादर-अनुत्साह को अनादर कहते हैं। कर्तव्य कर्म का जिस किसी तरह निर्वाह करना अनादर या अनुत्साह है। अर्थात् सामायिक के प्रति उत्साह नहीं होना ही अनादर है।

स्मृत्यनुपस्थान- एकाग्रता का न रहना ही स्मृत्यनुपस्थान है। अनेकाग्रता असमाहित मनस्कता और स्मृत्यनुपस्थान ये सब एकार्थवाची है। अर्थात् चित्त की एकाग्रता न होना और मन में समाधिरूपता का न होना स्मृत्यनुपस्थान कहा जाता है।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि। (34)

The partial transgression of the second शिक्षाव्रत i.e. प्रोषधोपवास are :

1. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग- To excrete in a place without inspecting and without sweeping it.

2. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान- to take up a lay down thing in a place without inspecting and without sweeping it.

3. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण-To spread a mat or seat in a place without inspecting and without sweeping it.

4. अनादर- Lock of interest.

5. स्मृत्यनुपस्थान- Forgetting of due formalities.

अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिता- प्रमार्जितोत्सर्ग- बिना देखे और बिना शोधी हुई भूमि पर मल-मूत्रादि करना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग हैं।

अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितादान- बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर अर्हत या आचार्य की पूजा के उपकरण का रखना, उठाना तथा गंध, माला, धूपादि का और अपने परिधान (बिछौना) आदि वा वस्त्र-पात्रादि पदार्थों का रखना, उठाना, ग्रहण करना आदि अप्रत्यवेक्षित प्रमार्जितादान हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तर-पक्रमण-बिना देखी या बिना शोधी भूमि पर संस्तर (बिछौना) आदि बिछाना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जित संस्तरपक्रमण है।

अनादर-आवश्यक क्रियाओं में अनुत्साह-अनादर है। भूख-प्यास आदि के कारण आवश्यक क्रियाओं में उत्साह नहीं रखना अनादर है।

स्मृत्यनुपस्थान- रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता से भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है, ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं।

भोग उपभोग परिमाण के अतिचार

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुष्यक्काहाराः। (35)

The partial transgression of the third शिक्षाव्रत i.e. उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत are :

1. सचित्ताहार-Taking living things e.g. green vegetable.
2. सचित्तसम्बन्धाहार-Taking any thing connected with a living things e.g. using a green leaf as a plate.
3. सचित्तसम्मिश्राहार-Taking a mixture of living and non living things e.g. hot with fresh water.

4. **अभिषवाहार**-Taking aphrodisiacs or strengthening or exciting food.

5. **दुःपक्काहार**- Taking badly cooked food.

सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्काहार ये उपभोग परिभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

सचित्त-चित्त के सहित सचित्त कहलाता है। चित्त नाम विज्ञान का है, विज्ञान नाम चेतना का है, इसलिए चेतना सहित द्रव्य को सचित्त कहते हैं।

सचित्त सम्बन्ध- उस चित्त के साथ उपश्लूष है, उसे सम्बन्ध कहते हैं। उस जीवसहित सचित्त द्रव्य से सम्बन्धित वस्तु को सचित्त सम्बन्ध कहते हैं। जो दूसरी वस्तु से संसर्ग करे संयोग करे, उसी का नाम सम्बन्ध है।

सचित्त सम्मिश्र- सचित्त के साथ व्यतिकीर्ण (व्याप्त) है, उसे सचित्त सम्मिश्र कहते हैं। या 'सम्मिश्रयते' अर्थात् सचित्त और अचित्त दोनों मिलकर एकमेक हो जाये, परस्पर भेद नहीं रहे, वह सचित्त सम्मिश्र कहलाता है।

प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी-जल्दी में सचित्त सम्बन्ध, सचित्त सम्मिश्र आदि में भोजन, पान अनुलेपन तथा परिधान (वस्त्रादि) आदि के लिए प्रवृत्ति हो जाती है।

अभिषव आहार द्रव और उत्तेजक भोजन को अभिषव कहते हैं। द्रव सिरका आदि और उत्तेजक, कामोद्दीपक पुष्टिकारक भोजन का आहार अभिषव कहलाता है।

दुष्पक्क आहार- जो अच्छी तरह नहीं पका हुआ तो वह दुष्पक्क कहलाता है। जो चावल, दाल आदि ऊपर से पक गए हो पर भीतर नहीं पके हो अर्थात् अच्छी तरह से पके हुए नहीं हो वा जिस खाद्य पदार्थ का अधिक पाक हो जाए, वह आहार दुष्पक्क कहलाता है।

दुष्पक्क भोजन से इन्द्रियों में मद की वृद्धि होती है। सचित्त वस्तु के खाने से वायु आदि दोषों का प्रकोप हो सकता है, फिर उनका प्रतिकार करने की क्रियाओं में पाप लगता है और अतिथि(मुनिगण) उसे ग्रहण नहीं करते हैं अतः वह त्याज्य है। ये पाँच उपभोग-परिभोग प्रमाण-संख्यान व्रत के अतिचार हैं।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालतिक्रमाः। (36)

The partial transgression of the fourth शिक्षाव्रत i.e. अतिथिसंविभागव्रत are:

1. सचित्तनिक्षेप- placing the food on a living thing e.g. a green plantain leaf.
2. सचित्तापिधान- Covering the food with a living thing.
3. परव्यपदेश- Delegation of host's duties to another.
4. मात्सर्य- Lack of respect in giving or envy of another donor
5. कालातिक्रम- Not giving at the proper time.

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

(1) सचित्तनिक्षेप- सचित्त पर रखा हुआ सचित्तनिक्षेप कहलाता है। सचित्त का लक्षण पहले कर दिया है। सचित्त कमल-पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु सचित्तनिक्षेप कहलाती है।

(2) सचित्तापिधान-सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है। अपिधान आवरण ये एकार्थवाची हैं। प्रकरणवश सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है।

(3) परव्यपदेश-अन्य दाता का द्रव्य है, ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है। वह दूसरे स्थान पर है, यह देय पदार्थ भी दूसरे का है ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है।

(4) मात्सर्य-अतिथि को आहार देते समय अनादर भाव रखना मात्सर्य है। आहार देते समय आदर भाव के बिना देना मात्सर्य कहलाता है।

(5) कालातिक्रम- अकाल में आहार देना कालातिक्रम है। अनगरों को योग्यकाल में आहार देना वा साधुओं के भिक्षुकाल को टाल देना कालातिक्रम कहा जाता है। ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि। (37)

The partial transgression of सल्लेखना peaceful death are :

1. जीविताशंसा- Desire to prolong one's life.
2. मरणाशंसा- Desire to die soon
3. मित्रानुराग- Attachment to friends.
4. सुखानुबन्ध- Repeated remembrance of past enjoyments.
5. निदान- Desire of enjoyments in the next world.

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं।

(1) जीविताशंसा- आकांक्षा को आशंसा कहते हैं। आकांक्षण, अभिलाषा और आशंसा ये एकार्थवाची हैं। जीवन की आकांक्षा करना जीविताशंसा है और मरण की अभिलाषा करना मरणाशंसा है।

अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के अवस्थान में आदर जीविताशंसा है, यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है। ऐसे इस शरीर की स्थिति किस प्रकार स्थिर रखी जाये ? कैसे यह बहुत काल तक टिका रहे इत्यादि से शरीर के ठहरने की अभिलाषा जीविताशंसा है, ऐसा जानना चाहिए।

(2) मरणाशंसा- जीवन के संक्लेश के कारण मरण के प्रति चित्त का अनुरोध मरणाशंसा है। रोगादि की तीव्र पीड़ा के कारण जीवन में क्लेश होने पर मरण के प्रति चित्त का प्रणिधान होना मरणाशंसा है। सल्लेखना धारण कर लेने पर भी यदि ख्याति हो रही हो तो जीवन की अभिलाषा करना और शारीरिक पीड़ा के कारण मरने की इच्छा करना जीवितमरणाशंसा है।

(3) मित्रानुराग-पूर्वकृत, मित्रों के साथ धूलि में खेलने आदि का स्मरण मित्रानुराग है। अर्थात् बचपन में जिनके साथ धूलि में खेले हैं, जिन्होंने आपत्ति में सहायता दी है और सुख-उत्सव आदि में जो सहयोगी बने हैं उन मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है।

(4) सुखानुबन्ध-पूर्वानुभूत प्रीतिविशेष का स्मृतिसमन्वाहार सुखानुबन्ध

है। 'मैंने यह खाया, इस प्रकार के पलंग पर सोता था, इस प्रकार क्रीड़ा करता था' इत्यादि पूर्व भुक्त क्रीड़ा, शयन, भोग आदि का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहा जाता है।

(5) निदान- भोगों की आकांक्षा से जिसमें चित्त लगा दिया जाता है, वह निदान हैं। विषय सुखों की उत्कृष्ट भोगाकांक्षा है। उस भोगाकांक्षा से जिसमें नियत रूप से चित्त लगा दिया जाता है वह निदान है, अर्थात् भविष्यतकाल में भोगों की वांछा करना निदान है। ये पाँच सल्लेखनाव्रत के अतिचार है।

फल, पुष्प, छाल, लता, बिना छने जल

प्रयोग का प्रायश्चित्त

फलफुल्लछल्लिवल्लि अणगल णहाणं च धोवणदिहिं।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्जा।। (18) (कल्याणा.)

पद्य- फल,पुष्प, छाल, लता, अनछना जल से स्नान व धोने से।

जो-जो हुई विराधना उसके दोष हो मेरे निवारण।।

वनस्पति के क्रम

सर्वप्रथम वनस्पतिकाय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद, तदनन्तर सूक्ष्म के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकार, फिर बादर के दो भेद-प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर, तत्पश्चात् प्रत्येक शरीर के वृक्ष, गुच्छ आदि 12 भेद, क्रमशः प्रत्येक भेद के अंतर्गत विविध वनस्पतियों के नामों का उल्लेख, तदनन्तर साधारण वनस्पतिकायिकों के अंतर्गत अनेक नामों का उल्लेख तथा लक्षण एवं अंत में उनके पर्याप्तक-अपर्याप्तक भेदों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। (प्रज्ञापनासूत्र)

वृक्षादि बारह भेदों की व्याख्या-वृक्ष जिनके आश्रित मूल, पत्ते, फूल, फल, शाखा-प्रशाखा, स्कंध, त्वचा आदि अनेक हों, ऐसे आम, नीम, जामुन आदि वृक्ष कहलाते हैं। वृक्ष दो प्रकार के होते हैं-एकास्थिक (जिसके फल में एक ही बीज या गुठली हो) और बहुबीजक (जिसके फल में अनेक बीज हो) आम नीम आदि वृक्ष। एकास्थिक के उदाहरण है यथा बिजौरा वट, दाड़िम, उदुम्बर आदि बहुबीजक वृक्ष हैं ये दोनों प्रकार के वृक्ष तो प्रत्येक शरीरी होते हैं, लेकिन इन दोनों प्रकार के

वृक्षों के मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा और प्रवाल, असंख्यात जीवों वाले तथा पत्ते प्रत्येक जीव वाले और पुष्प अनेक जीवों वाले होते हैं। गच्छ-वर्तमान युग की भाषा में इसका अर्थ है-पौधा यथा तुलसी आदि गुल्म-विशेषतः फूलों के पौधों को गुल्म कहते हैं। जैसे-चंपा,जाई,जूही, कुन्द, मोगरा,मल्लिका आदि पुष्पों के पौधे। लता-ऐसी बेले जो प्रायः वृक्षों पर चढ़ जाती है, वे लताएँ होती हैं। जैसे चंपकलता,नागलता, अशोकलता आदि। वल्ली-ऐसी बेले जो विशेषतः जमीन पर ही फैली रहती है, वे वल्लियाँ कहलाती हैं। उदाहरणार्थ-कलिंगी (तरबूज की बेल), तुम्बी (तुम्बे के बेल,) कर्कटिकी (ककड़ी की बेल,) एला (इलायची की बेल) आदि। पर्वक-जिन वनस्पतियों में बीच-बीच में पर्व-पोर या गांठे हो वे पर्वक वनस्पतियाँ कहलाती हैं। जैसे-इक्षु, सूंठि, बेंत आदि। तृण-हरी घास आदि को तृण कहते हैं। जैसे-कुश,अर्जुन,दूब आदि। वलय-वलय के आकार की गोल-गोल पत्तों वाल वनस्पति 'वलय' कहलाती है। जैसे-ताल (ताड़) कदली (केले) आदि के पौधे। औषधि-जो वनस्पति फल (फसल) के पक जाने पर दोनों के रूप में होती हैं, वह औषधि कहलाती हैं। जैसे-गेहूँ, चावल, मसूर, तिल मूंग आदि। हरित-विशेषतः हरी सागभाजी को हरित कहते हैं। जैसे-चंदलिया, वथुआ, पालक आदि। जलरूह-जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पति जलरूह कहलाती है। जैसे-पनक, शैवाल, पद्म, कुमुद, कमल आदि। कुहण-भूमि को तोड़कर निकलने वाली वनस्पतियाँ कुहण कहलाती हैं। जैसे-छत्राक (कुकुरमुत्ता) आदि।

प्रत्येक शरीरी अनेक जीवों का एक शरीराकार कैसे ?

प्रथम दृष्टांत : जैसे-पूर्ण सरसों के दानों को किसी श्लेष द्रव्य से मिश्रित कर देने पर वे बट्टी के रूपमें एकरूप-एकाकार हो जाते हैं। यद्यपि वे सब सरसों के दाने परिपूर्ण शरीर वाले होने के कारण-पृथक-पृथक अपनी-अपनी अवगाहना में रहते हैं; तथापि श्लेष द्रव्य से परस्पर चिपक जाने पर वे एकरूप प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक शरीरी जीवों के शरीरसंघात भी परिपूर्ण शरीर होने के कारण पृथक-पृथक अपनी-अपनी प्रकार अवगाहना में रहते हैं, परन्तु विशिष्ट कर्मरूपी श्लेष द्रव्य में मिश्रित होने के कारण वे जीव भी एक -शरीरात्मक, एकरूप एवं एक शरीराकार प्रतीत होते हैं।

द्वितीय दृष्टांत- जैसे तिलपपड़ी बहुत-से तिलों में एकमेक होने से (गुड़

आदि श्रेष्ठ द्रव्य से मिश्रित करने से) बनती है। उस तिलपपड़ी में तिल अपनी-अपनी अवगाहना में स्थित होकर अलग-अलग रहते हैं, फिर भी वह तिलपट्टी एकरूप प्रतीत होती। इसी प्रकार प्रत्येक शरीरी जीवों के शरीर संघात पृथक-पृथक होने पर भी एकरूप प्रतीत होते हैं।

अनंत जीवों वाली वनस्पति के लक्षण-(1) टूटे हुए या तोड़े हुए जिस मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पुष्प, फल, बीज का भंग प्रदेश समान अर्थात्-चकाकार दिखाई दे, उन मूल आदि को अनंत जीवों वाले समझने चाहिए(2) जिस मूल, कंद, स्कंध और शाखा के काष्ठ यानी मध्यवर्ती सारभाग की अपेक्षा छाल अधिक मोटी हो, उस छाल को अनंत जीव वाली समझनी चाहिए(3) जिस मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, पत्र और पुष्प आदि के तोड़े जाने पर उसका भंग स्थान चक्र के आकार का एकदम सम हो, वह मूल, कंद आदि अनंत जीव वाला समझना चाहिए।(4) जिस मूल कंद, स्कंध, छाल, शाखा, पत्र और पुष्प आदि के तोड़े जाने पर पर्व-गांठ या भंग स्थान रज से व्याप्त होता है, अथवा जिस पत्र आदि को तोड़ने पर चकाकार का भंग नहीं दिखता और भंग (ग्रंथि) स्थान भी रज से व्याप्त नहीं होता, किन्तु भंग स्थान का पृथ्वीसदृश भेद हो जाता है। अर्थात् सूर्य की किरणों से अत्यंत तपे हुए खेत की क्यारियों के प्रतरखण्ड का-सा समान भंग हो जाता है, तो उसे अनंत जीवों वाला समझना चाहिए। (5) क्षीरसहित (दूध वाले) या क्षीर-रहित (बिना दूध के) जिस पत्र की शिराएँ दिखती न हों, उसे अथवा जिस पत्र की (पत्र के दोनों भागों को जोड़ने वाली) संधि सर्वथा दिखाई न दे, उसे भी अनंत जीवों वाला समझना चाहिए (6) पुष्प दो प्रकार के होते हैं जलज-और स्थलज। ये दोनों भी प्रत्येक दो-दो प्रकार के होते हैं-वृन्तबद्ध (अतिमुक्तक आदि) और नालबद्ध (जाई के फूल आदि), इन पुष्पों में से पत्रगत जीवों की अपेक्षा से कोई-कोई संख्यात जीवों वाले और कोई-कोई असंख्यात तथा अनंत जीवों वाले भी होते हैं। आगम के अनुसार उन्हें जान लेना चाहिए। विशेष यह है कि जो जाई आदि नालबद्ध पुष्प होते हैं, उन सभी को तीर्थकरों तथा गणधरों ने संख्यात जीवों वाले कहे हैं किन्तु स्निहूपुष्प अर्थात्-थोहर के फूल या थोहर के जैसे अन्य फूल भी अनंत जीवों वाले समझने चाहिए (7) पद्मिनीकंद, उत्पलिनीकंद, अंतरकंद(जलज वनस्पति विशेषकंद) एवं झिल्लिका नामक वनस्पति,

ये सब अनंत जीवों वाले होते हैं। विशेष यह है कि पद्मिनीकंद आदि के विस (भिस) और मृणाल में एक जीव होता है। (8) सप्फाक, सज्जाय, उव्वेहलिया, कूहन और कन्दूका (देशभेद से) अनंत जीवात्मक होती हैं (9) सभी किसलय (कोंपल) ऊगते समय अनंतकायिक होते हैं। प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चाहे वह प्रत्येक शरीरी हो या साधारण, जब किसलय अवस्था को प्राप्त होता है तब तीर्थकरों और गणधरों द्वारा उसे अनंतकायिक कहा गया है। किन्तु वही किसलय बढ़ता-बढ़ता, बाद में पत्र रूप धारण कर लेता है तब साधाण शरीर या अनंतकाय अथवा प्रत्येक शरीरी जीव हो जाता है।

प्रत्येक शरीर जीव वाली वनस्पति के लक्षण- (1) जिस मूल, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प अथवा फल या बीज को तोड़ने पर उसके टूटे हुए (भंग) प्रदेश (स्थान) में हीर दिखाई दे, अर्थात्-उसके टुकड़े समरूप न हो विषम हो, दंतीले हो उस मूल, कंद या स्कंध को प्रत्येक (शरीरी) जीव समझना चाहिए। (2) जिस मूल, कंद, स्कंध या शाखा के काष्ठ (मध्यवर्ती सारभाग की अपेक्षा उसकी छाल अधिक पतली हो, वह छाल प्रत्येक शरीर जीव वाली समझनी चाहिए। (3) पलाण्डुकंद, लहसुनकंद, कदलीकंद और कुस्तुम्ब नामक वनस्पति, ये सब प्रत्येक शरीर जीवात्मक समझने चाहिये। इस प्रकार की सभी अनंत जीवात्मक लक्षण से रहित वनस्पतियां प्रत्येक शरीर जीवात्मक समझनी चाहिए (4) पदम्, उत्पल, नलिन, सुभग, सौगंधिक, अरविंद, कोकनद, शतपत्र और सहस्र पत्र, इन सब प्रकार के कमलों के वृन्त (डंठल,) बाह्य पत्र और पत्रों की आधारभूत कर्णिका, ये तीनों एक जीवात्मक हैं। इनके भीतरी पत्ते केसर (जटा) और मिंजा भी एक जीवात्मक हैं। (5) बांस, नड नामक घास, इक्षुवाटिका, समासेक्षु, इक्कड़ घास, करकर, सूंठि, विहंगु और दूब आदि तृणों तथा पर्व वाली वनस्पतियों को अक्षि, पर्व, बलिमोटक (पर्व को परिवेष्टित करने वाला चक्राकार भाग) ये सब एक जीवात्मक हैं। इनके पत्ते भी एक जीवाधिष्ठित होते हैं। किन्तु इनके पुष्प अनेक जीवों वाले होते हैं (6) पुष्पफल, कालिंग आदि फलों का प्रत्येक पत्ता (पृथक-पृथक), वृन्त, गिरि और गूदा और जटा वाले या बिना जटा के बीज एक-एक जीव से अधिष्ठित होते हैं।

बीज का जीव मूलादि का जीव बन सकता है या नहीं ?

बीज की दो अवस्थाएँ होती हैं-योनि अवस्था और अयोनि अवस्था। जब बीज योनि अवस्था का परित्याग नहीं करता किन्तु जीव के द्वारा त्याग दिया जाता है, तब वह बीज योनिभूत कहलाता है। जीव ने बीज त्याग दिया गया है, छद्मस्थ के द्वारा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अतः आजकल चेतन या अचेतन, जो अविश्वस्तयोनि है, उसे योनिभूत कहते हैं। जो विध्वस्तयोनि है, वह नियमतः अचेतन होने से अयोनिभूत बीज है। ऐसा बीज उगने में समर्थ नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि योनि कहते हैं- जीव के उत्पत्ति स्थान को। अविध्वस्तशक्ति-संपन्न बीज ही योनिभूत होता है, उसी में जीव उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि ऐसे योनिभूत बीज में वही पहले के बीज वाला जीव आकर उत्पन्न होता है अथवा दूसरा कोई जीव आकर उत्पन्न होता है ? उत्तर है- दोनों ही विकल्प हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि बीज में जो जीव था, उसने अपनी आयु का क्षय होने पर बीज का परित्याग कर दिया। वह बीज निर्जीव हो गया किन्तु उस बीज को पुनः पानी, काल और जमीन के संयोग रूप सामग्री मिले तो कदाचित् वही पहले वाला बीज मूल आदि का नाम-गोत्र बांधकर उसी पूर्व-बीज में आकर उत्पन्न हो जाता है, और कभी कोई अन्य पृथ्वीकायिक आदि नया जीव भी उस बीज में उत्पन्न हो जाता है।

साधारण शरीर बादर वनस्पतिकायिक जीवों का लक्षण-साधारण वनस्पतिकायिक जीव एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, एक साथ ही उनका शरीर बनता है, एक साथ ही वे प्राणापान के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और एक साथ ही उनका श्वासोच्छ्वास होता है। एक जीव का आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करना ही (उस शरीर के आश्रित) बहुत से-जीवों का ग्रहण करना है, इसी प्रकार बहुत-से जीवों का आहारादि-पुद्गल-ग्रहण करना भी एक जीव का आहारादि-पुद्गल ग्रहण करना है; क्योंकि वे सब जीव एक ही शरीर में आश्रित होते हैं। एक शरीर में आश्रित साधारण जीवों का आहार, प्राणापान योग्य पुद्गल ग्रहण एवं श्वासोच्छ्वास साधारण ही होता है। यही साधारण जीवों का साधारण रूप लक्षण है। एक निगोद शरीर में अनंत जीवों का परिणमन कैसे होता है ? इसका समाधान यह है-अग्नि में प्रतप्त लोहे का गोला जैसे सारा-का-सारा अग्निमय बन जाता है, वैसे ही निगोद रूप एक शरीर में अनंत जीवों का परिणमन समझ लेना चाहिए। एक, दो, तीन,

संख्यात, या असंख्यात निगोद जीवों के शरीर हमें नहीं दिखाई दे सकते, क्योंकि उनके पृथक-पृथक शरीर ही नहीं हैं, वे तो अनंत जीवों के पिण्ड रूप ही होते हैं। अर्थात् अनंत जीवों का एक ही शरीर होता है। हमें केवल अनंत जीवों के शरीर ही दिखाई देते हैं, वे भी बादर निगोद जीवों के ही; सूक्ष्म निगोद जीवों के नहीं; क्योंकि सूक्ष्म निगोद जीवों के शरीर अनंत जीवात्मक होने पर भी वे अदृश्य (दृष्टि से अगोचर) ही होते हैं। स्वाभाविक रूप से उसी प्रकार के सूक्ष्म परिणामों से परिणत उनके शरीर होते हैं। अनंत निगोद जीवों का एक ही शरीर होता है, इस विषय में वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् के वचन ही प्रमाणभूत हैं। भगवान का कथन है- 'सूई की नोक के बराबर निगोदकाय में असंख्यात गोले होते हैं एक-एक गोले में असंख्यात-असंख्यात निगोद होते हैं और एक-एक निगोद में अनंत-अनंत जीव होते हैं।

अनंत निगोदिया जीवों का शरीर एक ही होता है, यह कथन औदारिक शरीर की अपेक्षा जानना चाहिए। उन सबसे तैजस और कामण शरीर भिन्न-भिन्न ही होते हैं।

वनस्पतिकायिकों की प्रज्ञापना-

वनस्पतिकायिक दो प्रकार के होते हैं

(1) सूक्ष्म वनस्पतिकायिक (2) बादर वनस्पतिकायिक।

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं-

(1) पर्याप्तक (2) अपर्याप्तक। (प्रज्ञा.सू। पृ. 47)

बादर वनस्पतिकायिक दो प्रकार के हैं (1) प्रत्येक शरीर (2) साधारण शरीर।

प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक जीव 12 प्रकार के हैं -

(1) वृक्ष (आम-नीम आदि) (2) गुच्छ (बैंगन आदि के पौधे) (3) गुल्म (नवमालिका आदि) (4) लता (चंपक लता आदि) (5) वल्ली (कुष्मांडी आदि त्रपुषी आदि बेलें) (6) पर्वग (इक्षु आदि-पर्व-पौर गाँठ वाली वनस्पति) (7) तृण (कुस-घास-दूब आदि हरी घास) (8) वलय (जिनकी छाल वलय के आकार की गोल होती है जैसे केतकी कदली आदि) (9) हरित (वथुआ आदि हरी लीलोती) (10) औषधि (गेहूँ आदि धान्य, जौ, फल, (फसल) पकने पर सूख

जाते हैं) (11) जलरूह (पानी में उगने वाली कमल, सिंघाड़ा, उदकावक आदि वनस्पतियाँ) (12) कुहण (भूमि को छोड़कर उगने वाली वनस्पति) ये 12 प्रकार के प्रत्येक शरीर-बादर वनस्पतिकायिक जीव समझने चाहिए।

वृक्ष दो प्रकार के हैं- (एकास्थिक(प्रत्येक फल में एक गुठली या बीज वाले) (2) बहुबीजक (जिनके फल में बहुत बीज हो)।

शीलादि के पालनादि न किया न

भावना की उसका प्रायश्चित्त

ण शीलं णेव खमा विणओ तवो ण संजमोवासा।

ण कदा ण भाविकदा मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (19) (कल्याणा.)

पद्य- न शील न क्षमा न विनय तप न संयम उपवास।

न पालन किया न भावना भाई वे सभी मिथ्या हो मेरा।।

समीक्षा-

शक्ति के अनुसार तप व त्याग करना नहीं तो भावना योग्य।

मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदना यथायोग्य करणीय।।

नहीं प्रमाद व आलस्य के कारण होता है आत्म पतन।

इससे बचने हेतु आलोचना-प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त योग्य।।

सचित्त व रात्रि भोजन सम्बन्धी प्रायश्चित्त

कंदफलमूलबीया सचित्त रयणीयभोयणाहारा।

अण्णाणे जे वि कदा मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (20) (कल्याणा.)

पद्य- कन्द फल मूलबीज सचित्त रात्रि भोजन यदि किया हो।

अज्ञान से यदि भी किया वे सभी हो मेरे पाप मिथ्या।।

जिनपूजा-पात्रदान-ईर्यापथ गमन

सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण

णो पूया जिणचरणे ण पत्तदाणं न चेइयागमणं।

ण कदा ण भावदि मये मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (21)(कल्या.)

पद्य : न पूजा जिन चरण न पात्रदान न ईर्यापथ गमन।
न क्रिया न भावना की वे सभी पाप मिथ्या हो मम॥

ब्रह्मचर्य-आरंभ-परिग्रह सम्बन्धी-प्रायश्चित्त

गाथा:- बंभारंभपरिग्रह सावज्जा बहु पमाददोसेण।

जीवा विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्जा॥ (22) (कल्या.)

पद्य : ब्रह्मचर्य आरंभ-परिग्रह पाप हुए बहुत प्रमाद दोष से।

जीवों की विराधना निश्चय से वे सभी पाप हो मिथ्या मेरे॥

समीक्षा :-

प्रमाद ही यथार्थ से हिंसा है, जीव मरे या नहीं भी मरे।

प्रमाद सहित अब्रह्म-आरंभ-परिग्रह वहाँ दोनों ही हिंसा होती॥

अतएव इन दोषों से युक्त गृहस्थ अवश्य होते हैं पापी।

यदि साधु इन दोषों से युक्त गृहस्थ से अधिक होते पापी॥

प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिये, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिये परम संवेग के लिये, तपवृद्धि व अतिचार शुद्धि के लिये संशयोच्छेद व परवादियों की शंका का अभाव आदि के लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है। (राजवार्तिक)

दव्व सुयादो भावं भावदो होइ सव्व सण्णाणं।

संवेयण वित्ति केवल णाण तदो भणियो॥1 (नय चक्र)

गाहिओ सोसुदणाणे सवेयणेण कायव्वो।

जोणहुसुदमवलंबइ सो मुज्झइ अप्प सब्भावे॥34 (नयचक्र)

द्रव्य श्रुत से भावश्रुत होता है। भावश्रुत से भेद विज्ञान होता है। उससे संवेदन, आत्म संवित्ति और केवलज्ञान होता है।

पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ग्रहण करके संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिये। जो श्रुतज्ञान का अवलंबन नहीं लेता है वह आत्मस्वभाव में मूढ़ रहता है।

जिणवयण मोसहमिणं विसय सुह विरेयणं अमिद भूयं।

जर मरण वाहि हरणं खय करणं सव्व दुक्खणं॥ (दंसण पाहुइ॥)

यह जिन वचन रूप औषधि इंद्रिय विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने

वाला है। तथा जन्म-मरण रूप रोग से दूर करने के लिये अमृत सदृश है और सर्वदुःखों के क्षय का कारण है।

शास्त्रं बंदोड़े शांति सैरने निर्गर्व नीति मेलवातु मुक्ती स्त्री चित्ते निजात्मा चिंतने निलवेलक तंल्ला शास्त्रादि।

दुस्रीचिंतने दुर्मुखं कलहमुं, गर्व मनंगोंडज।

शास्त्रं शास्त्र मे शास्त्रिकनला रत्ताकरा धीस्वरां। (रत्ताकार शतक)

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शांति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना मोक्ष चिंता तथा स्वात्म चिंता में विरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिंता, क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शस्त्र बन जाता है। और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिए करना चाहिए।

जिस स्वाध्याय के माध्यम से आत्मतत्व का परिज्ञान होता है, हिताहित ज्ञान प्रगट होता है, कषाय इन्द्रियों का दमन होता है, संसार शरीर भोगों से वैराग्य होता है, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है, वात्सल्य, प्रेम, विनय, सरलता, देव, गुरु शास्त्र के प्रति बहुमान, शांति प्रगट होती है, उसको स्वाध्याय कहते हैं। अन्यथा उसका स्वाध्याय केवल द्रव्य स्वाध्याय है जो मोक्षमार्ग के लिए अकिंचित्कर हैं।

संयम :- जिस प्रकार एक कार के लिये गति चाहिए, प्रकाश चाहिये उसी प्रकार रोधक शक्ति -ब्रेक भी चाहिये। ब्रेक नियंत्रण के बिना कार बेकार है। उसी प्रकार मानव जीवन में उन्नति रूप गति चाहिए। साथ-साथ इन्द्रिय और मन को नियंत्रण करने रूप ब्रेक भी चाहिये नहीं तो वह मानव भी बेकार है। उस नियंत्रण शक्ति को ही संयम कहते हैं। “सम्यक् यमो वा संयमः” सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण सो संयम है। उस संयमरूपी अस्त्र (सम+यम) के माध्यम से संसार रूपी यम को नष्ट कर सकते हैं अन्यथा नहीं। पूर्ण संयमी यमी महामुनी हो सकते हैं। किन्तु श्रावकों को भी आंशिक रूप से संयम पालन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इसलिये श्रावक को देश संयमी कहते हैं। संयम 12 प्रकार के हैं। पाँच इन्द्रिय का निरोध एक मन विरोध और षड्काय जीवों के संरक्षण को संयम कहते हैं।

तप :- इच्छा आकाश के समान अनंत है। जिस इच्छा रूपी आकाश में संपूर्ण विश्व एक सरसों के समान है। जब एक ही जीव की इच्छारूपी खड्डे में यह संपूर्ण विश्व सरसों के दाने के समान है, तो अनंत जीवों के लिये उस सरसों समान विश्व का भाग करने से एक जीव के भाग में कितना प्राप्त होगा। अथवा जिस प्रकार अग्नि के ऊपर घृत डालने से अग्नि बढ़ती जाती है। अग्नि संतुष्ट नहीं होती। उसी प्रकार इच्छा रूपी व आशा रूपी अग्नि में परिग्रह रूपी घृत डालने से आशा रूपी अग्नि शांत नहीं होती किन्तु बढ़ती ही जाती है। इसलिये ज्ञानी श्रावक उस इच्छारूपी अग्नि को शांत करने के लिये तपरूपी पानी डालते हैं। उसको महान् शांति मिलती है। इसलिये “इच्छानिरोधः तपः” महर्षियों ने बताया है। वह भी यथायोग्य अंतरंग-बहिरंग रूपी 12 प्रकार का तप धारण करता है।

दान :- चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से लोभ कषाय के वशवर्ती होकर श्रावक संपूर्ण बाह्य परिग्रह का त्याग नहीं कर पाता है, वह गृह में रहकर असि मषि कृषि व्यापारादि आरंभ करके परिग्रह संचय करता है। भोग उपभोग भी करता है। उससे जो पाप संचय होता है उस पाप को नष्ट करने के लिये, कषायों को क्षीण करने के लिए देवगुरु, शास्त्र की सेवा, संरक्षण के लिये, आत्म विशुद्धि के लिये, सातिशय पुण्य संपादन के लिए और परंपरा से आत्मोत्थ सहज सरल अतीन्द्रिय सुख के लिये ज्ञानामृत के आस्वादन के लिये (1) आहार (2) औषध (3) शास्त्र (4) अभयदान शक्ति के अनुसार दान देता है। जो यथाशक्ति दान नहीं देता है वह “दाणं पूजा मुखं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा” इस सूत्र के अनुसार श्रावक ही नहीं है। पुरुषार्थ सिद्धिउपाय में आध्यात्मिक महर्षि अमृतचन्द्र जी कहते हैं।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परान्न पीडयते।

वितरति यो नाऽतितयो स कथं नहीं लोभवान भवति।।

जो रत्नत्रय एवं मूल गुणादि से सहित और अन्य को पीड़ा नहीं देते हुए मधुमक्खी के समान जो आहार ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार महान् गुण सम्पन्न महामुनि जब घर पर आते हैं, उनको जो श्रावक आहार दान नहीं देते है वह कैसे लोभी नहीं है, अर्थात् वे निश्चय से महालोभी कंजूस है।

दिण्णइ सुपत्त दाणं विसेसतो होइ भोग सग्गमही।
 णिवाण सुहं कमसो णिद्धुं जिणवरि देहिं॥ 16॥ (रयणसार)
 खेत्तविसेस काले वविय सुवियं फलं जहां पिडलं
 होई तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाण फलं॥1॥
 इह णियसु सुवित्त बीजं जो ववई जिणुत्तसत्तखेसेसु।
 सो तिहुवण रज्जफलं भुंजदि कल्लाण पंचफलं॥

जो भक्तिपूर्वक, सुपात्र को दान देता है विशेष से उन्हें भोगभूमि स्वर्गसुख मिलता है और क्रमशः परम निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्वयं जिनेन्द्र भगवान् कहे हैं।

जैसे उत्तम खेत में बोया हुआ उत्तम बीज काल विशेष को प्राप्त होकर विपुल फल को देता है उसी प्रकार पात्र विशेष को दिया हुआ बीज स्वरूप अल्पदान भी काल प्राप्त होने पर स्वर्ग मोक्षरूपी विपुल फल को प्राप्त करता है। जो अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धनरूपी बीज को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित जिनप्रतिमा जिनमंदिर जिनगुरु रूपी सप्त क्षेत्र में बोता है उसको त्रिभुवनरूपी राज्यफल मिलता है एवं पंचकल्याण धारी तीर्थकर पद को प्राप्त करता है

जो मुनि भुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजाए जिणुवदिट्ठु।
 संसार सार सोक्खं कमसो णिव्वाण वर सोक्खं॥ 1॥ (रयणसार)

जो भव्य मुनीश्वरों के आहार दान के पश्चात् अवशेष अन्न को भक्ति पूर्वक खाता है वह संसार से सारभूत उत्तम सुख को प्राप्त करता है और क्रमशः निर्वाण सुख भी प्राप्त करता है

सर्वावांछति सौख्यमेव तनुचत्तन्मोक्ष एवं स्फूटं।
 दृष्ट्यादित्रय एवं सिद्धयतिस तन्निर्गथ एवं स्थितम्॥(पदमनंदी पंच...)
 तदवर्तिर्वपुरुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैःकाले।
 क्लिष्ट तरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥ 8॥

सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं वह सुख स्पष्टतया मोक्ष में ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय साधु को होता है। उक्त साधु की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है और वह भोजन

श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकों के निमित्त से ही हो रही है।

दानांश

तूर्यांशो वा षडंशो वा दशांशो वा निजार्थतः

दीयते यातु सा शक्तिर्वर्या मध्या कनीयसः॥ (धर्मरत्नाकार)

जो अपने धन में अर्थात् दैनिक आय में से चतुर्थभाग दान देता है वह उत्कृष्ट दानी है जो षष्टांश दान देता है वह मध्यम दानी है जो दशांश दान देता है वह जघन्य दानी है।

धर्मस्थैर्यं स्यात्कस्यचिच्चंचलयस्य।

प्रौढं वात्सल्यं बृहणं सद्गुणानाम्॥

दानेन श्लाघा शासनस्यातिगुर्वी।

दातृणामित्थं दर्शनाचारशुद्धिः॥ ध.रं.॥

दान देने से किसी चंचल धर्म मार्ग से च्युत होते हुए साधर्मि की उसमें स्थिरता होती है धार्मिकों में प्रौढ़ (अतिशय) वात्सल्य प्रगट होता है। धार्मिकों में सद्गुणों की वृद्धि होती है तथा दान देने से जिन शासन की बड़ी प्रशंसा होती है। इस प्रकार दाता जन के दर्शनाचार की शुद्धि होती है।

औदार्यवर्यं पुण्यं दक्षिण्यमन्यत्।

समशुद्धो बोधः पातकात्स्याज्जुगुप्सा॥

आख्यातं मुख्यं सिद्धधर्मस्य।

लिंगं लोकभेयस्तद्दातुरेवोपपन्नम्। 108॥

श्रेष्ठ उदारता, पवित्रता, मृदुता या सरलता निर्मलता पाप से ग्लानि तथा लोकप्रियता ये अनादि धर्म के चिन्ह कहे गये हैं ये सब गुण दाता को ही प्राप्त होते हैं।

तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे।

ज्ञानादि निर्मल गुणावलिकाभिवृद्धिः।

वित्तादि वस्तुविषये च विनाश बुद्धिः।

संवादिता भवति दानवतात्मशुद्धिः॥ 109॥

दान देने से तीर्थ की उन्नति, दाता की परोपकार परिणति (प्रवृत्ति) ज्ञानादि निर्मल गुण समूह की वृद्धि धन आदि वस्तुओं में नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धि भी है।

सीदंति पश्यतां येषां शक्तानामपि साधवः।

न धर्मो लौकिकोऽप्येषां दूरे लोकोत्तराःस्थितः॥ 110॥

दुःख को दूर करने में समर्थ होकर जो श्रावक साधु जन को कष्ट में देखकर भी उनके दुःख को दूर नहीं करते हैं, उनके लौकिक धर्म भी संभव नहीं है, फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है। ऐसा समझना चाहिये।

ज्ञानवान ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।

अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिभेषजाद्भवेत्॥

ज्ञान दान से दानी विशिष्ट क्षायोपशम के माध्यम से मतिश्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानी होता है। श्रुत केवली होता है एवं शेष में केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाता है। अभय दान से इहलोक-परलोक में निर्भय होता है। अन्न दान से इहलोक-परलोक में सुखी होता है। औषध दान देने से शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग से रहित होकर परम स्वास्थ्य रूप अमृत रूप पद को प्राप्त करता है।

यस्यान्नपानैः संतृप्ताः साधवः साधयन्त्यमी।

स्वाध्यायादि क्रिया सार्वी तस्य पुण्यं तदुद्भवम्॥

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मुनिजन आत्म हितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते हैं, उससे उत्पन्न हुए पुण्य उस दाता को प्राप्त होता है।

दान अभाव के दोष :-

सीदंतो यतयो यदण्यनुचित्तं किंचिज्जलान्नादिकं।

स्वीकुर्वतिविशिष्टभक्तिविकलाःकालादिदोषादहो।

मालिन्य रचयन्ति यज्जिनमतस्यास्थानशय्यादिना।

श्राद्धानमिदमेतिदूषणपदंशक्तानुपेक्षा कृपाय॥401

रोगादि से पीड़ित साधुजन विशिष्ट भक्ति से रहित होते काल आदि के दोष से यदि अपने पद के अयोग्य जल व अन्नादिक का स्वीकार करते हैं तथा अयोग्य

वसति व शय्या आदि का ग्रहण करके जिनमत में मलिनता को उत्पन्न करते हैं तो यह दोष शक्ति होने पर भी उपेक्षा करने वाले श्रावक पर आता है। उसे श्रावकों का दोष समझना चाहिये।

दान तीर्थ और धर्म तीर्थ की अपेक्षा तीर्थ दो प्रकार का है। दान तीर्थ के माध्यम से शरीर की रक्षा होती है और शरीर के माध्यम से धर्मपालन होता है। “शरीरमाध्यम् खलु धर्मसाधनम्” धर्मपालन से इहलोक में अलौकिक सुख मिलता है। इसलिये श्रावकों को धर्मतीर्थ प्रवर्तन के लिये दान देना चाहिये

दान पूजादि क्या पाप बंध का कारण ?

शंका : पूजा दानादिक से आरंभ होने से हिंसा होती है और उससे पाप बंध होता है। इसलिये दान पूजादिक नहीं करना चाहिये।

ननुदधिदुग्ध गंधमाल्यादिना भगवतः पूजाभिदाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः सावद्य सद्भावात् इत्याशंक्याह।

श्री जिनेन्द्र भगवान की दही-दूध-गंध-फल मालादि से पूजा करने से पाप उत्पन्न होता है क्योंकि उस पूजादि से (में) सावद्य है। (पापात्मक आरंभादिक है।)

समाधान : पूजातिशय पूज्य भगवान आपकी पूजा करने से भव्य जीवों को सातिशय महत् पुण्य उपार्जन होता है। यद्यपि पूजादिक सामग्री लाना, धोना स्वच्छतादि करने से पाप उत्पन्न होता है तथापि वह पाप इतना कम है कि पूजादि से उत्पन्न पुण्य से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपना कार्य करने के लिए अशुभ कर्म फल देने के लिये असमर्थ हो जाता है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय को तृप्त करने वाले ठंडे पानी से भरा समुद्र में एक कण विष पड़ने से उस संपूर्ण समुद्र को वह विष कण दूषित नहीं कर पाता है।

प्रारम्भोऽप्येष पुण्याय देवाद्युद्देशतः कूतः।

सामग्यंतर पातित्वा जीवनाय विषं यथा॥ 339॥

देव, शास्त्र, गुरु के उद्देश्य से किया गया महान् आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुण्य के लिए होता है। जैसे विष इतर सामग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये प्राण रक्षा का कारण होता है।

भिन्न हेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्न गोवरः।

भिन्नागुबंधस्तेन स्यात्पुण्यबंधर्निबंधनम्॥ 340॥

इस आरंभ का चूँकि हेतु भिन्न, स्वरूप भिन्न, विषय भिन्न संबंध भी भिन्न है। इसलिये वह पुण्य बंध का कारण होता है।

लोभादि हेतुकः पापारंभो गेहादि गोचरः

पापनुबंधसंत्याज्यः कार्योऽन्यःपुण्यसाधनः॥ 341

लोभ के कारण जो गृह कुटुंबादि के विषय में आरंभ किया जाता है। वह पाप का बंधक होने से छोड़ने के योग्य है। परंतु दूसरा जिनगृह जिनप्रतिमा के निर्माणादि तथा आहार दानादि विषयक आरंभ पुण्य का बंधक होने से आचरणीय है।

धर्मारंभस्तस्य रज्यति जनः कीर्ति पराजायते।

रजानोऽनुगुणा भवैति रिपवो गच्छंति साहायकम्॥

चेतः कांचन निवृत्ति च लभते प्रायोऽर्थमलाभःपरः।

पापारंभ भराघनार्थविरतिश्चेतिप्रतितागुणाः॥ 342

जो भव्य धर्म के निमित्त आरंभ से निरत होता है, उससे लोग प्रेम करते हैं। उसे उत्तम कीर्ति का लाभ होता है, राजा उसके अनुकूल होता है, शत्रु सहायक होता है। उसका चित्त किसी अभूतपूर्व शांति को प्राप्त करता है। उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है। तथा वह प्रचुर पापारंभ से परिपूर्ण अनर्थों से निरर्थक कर्मों से विरक्त होता है। इस प्रकार धर्मारंभ भी तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते हैं।

न मिथ्यात्वात्प्रमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते।

श्राद्धोद्रव्यस्तवे हेन तस्य बंधोऽस्ती नाशुभः॥ 343

श्रावक चूँकि मिथ्यात्व से, प्रमाद से, अथवा कषाय से द्रव्य स्तव में पूजा प्रतिष्ठा एवं दानादिरूप बाह्य संयम में प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिये उनको अशुभ का बंध नहीं होता है।

कृष्यादि कर्म बहुजंगय जंतुद्यति।

कुर्वति ये गृह परिग्रह भोगसक्ताः॥

धर्माय रंधनकृतां किलपापमेषा।

सेवं वदन्नापि न लज्जित एव दुष्टः॥

जो गृहस्थ घर, परिग्रह तथा भोगों से आसक्त होकर बहुत से त्रस जीवों के घात के कारण भूत खेती आदिक कार्यों को करते हैं उन्हें धर्म के लिए भोजन को तैयार करने में पाप का भागी कहने वाले दुष्टों को लज्जा नहीं आती ? तात्पर्य मुनियों को आहार देने के लिए जो आरंभ होता है उससे पाप अल्प और पुण्य महान् होता है। अतः ऐसे आरंभ का निषेध करना अनुचित है।

एवं विधस्याप्य बुधस्य वाक्यं सिद्धान्तं वाह्य बहु बाधकं च।

मूढा दृढं श्रद्धयते कदर्याःपापे रमतेऽमृतयाः सुखेन।।

जो अज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार बोलने वाले मूर्ख के भी आगम बाह्य और अतिशय बाधक जिन वचन पर स्थिर श्रद्धा करते हैं वे दुर्बुद्धि पाप में आनंद से रममाण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

पुण्य पाप :-

शंका : भले पूजादि से पापबंध से बच सकते हैं किन्तु पुण्य बंध से नहीं बच सकते हैं। पुण्य भी संसार का कारण है। यथा-

कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।

किह त होदि सुसीलं जं संसार पवेसेदि।। 145।। (समयसार)

अशुभ कार्य कुशील पापरूप है। शुभकार्य पुण्य सुशील स्वरूप है। ऐसा साधारण जन कहते हैं। परंतु शुभ कार्य कैसे हैं ? जो कि संसार रूप कारागर में प्रवेश करने के लिये कारण है।

जई भणइ कोवि एवं गिह वावारेसु वह माणोवि।

पुण्णे अम्ह ण कज्जं संसारे जंसुवाडेई।। 389।। (भावसंग्रह)

गृहवास में रहते हुए भी और गृह व्यापार में प्रवृत्त होते हुए भी कोई कहता है कि हमको पुण्य नहीं चाहिये क्योंकि पुण्य संसार में गिराने वाला है।

समाधान :-

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्खसुहुम जीवाई।

इंद जिणवरहेहिंभणियं बज्झंतरं णिग्गथं रुवेहि।। 390।।

गेहे वट्टतस्य य वावरसयाइ सया कुणंतस्स।

आसवइ कम्ममसुहं अट्ठरूढे पवत्तस्स।।391।।

जाम ण छडइ गेहं तामण परिहरइ इंतयं पावं।

पावं अपरिहतो हेउ पुण्णस्स भजयउ।। 393।।

उपरोक्त कुशंका का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर देवसेन ने नय एवं अवस्थाओं का अवलंबन लेकर स्याद्वाद पद्धति से उसका समर्थ एवं आगमोक्त उत्तर दिए हैं।

बाह्य अभ्यंतर ग्रंथों से रहित जिनेन्द्र भगवान् ने बताया कि एक बार मैथुन संज्ञा से सहित होकर मनुष्य जब भोग करता है तब लिंग और योनि में संघर्षण से 9 लाख पंचेन्द्रिय जातीय लब्ध्य पर्याप्तक का घात करता है।

पहले जीव मैथुन मोह कर्म के उदय से निर्मल ब्रह्मचर्य रूपी आत्म स्वरूप का घात करता है। उस समय जिस प्रकार सरसों से भरे हुए पात्र में संतप्त लौह शलाका डालने पर सरसों जल जाते हैं उसी प्रकार योनि गत 9 लाख लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य जीव भी जल जाते हैं।

गृह में रहते हुए हजारों गृह व्यापारों को सदा करते हुए अत्यन्त अशुभ आर्त्तरौद्र परिणाम से अशुभ कर्म का आस्रव करता है जो कि एकांत से संसार का कारण होने से अत्यन्त हेय स्वरूप है।

जब तक आर्त्त-रौद्र ध्यानों का निवास स्वरूप गृहवास को त्याग नहीं करते हैं तब तक अत्यंत इन पापों का त्याग नहीं हो सकता है। यदि पाप का त्याग नहीं होता है तो पुण्य कारणों को मत छोड़ो।

पुण्यं करुत्व कृतपुण्यमनीदृश्योऽपि।

नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भृत्यै।।

संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः।

पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम्। 31।। आ.शा.

हे भव्य जीव! तू पुण्य कर्म को कर, क्योंकि पुण्यवान प्राणी के ऊपर असाधरण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये संपत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसार को संतप्त करने वाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है।

यथांगमध्यक्ष सुखे हि धर्मस्तथा परोक्षोऽपिच मौक्ष सौख्ये।

भोगाय भोगादी सुखाय धर्मो मित्रादि यत्नोऽपि निमित्तमात्रम्।। 13।।

(धर्म रत्नाकर)

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्ष सुख का भी कारण है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मित्रादियों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

पुण्य का लक्षण :-

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्॥ (सवार्थ सिद्धि)

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है।

यस्तु शुद्धात्म भावना साधनार्थं बहिरंगं व्रत तपश्चरण दान पूजादिकं करोति स परंपराया मोक्षं लभते इति भावार्थः॥

शुद्धात्मा भावना को सिद्ध करने के लिए अथवा प्राप्त करने के लिए बहिरंग व्रत तपश्चरण, दान, पूजादिक को जो करता है वह परंपरा से मोक्ष को प्राप्त करता है। (समयसार 15 म.गा. जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति)

पावागम दाराइं अणाइरुवट्टि याइं जीवम्मि।

तत्थ सुहासवदारं उग्धादेतेकथं सदोसो॥ 57॥ (जय धवला)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है तब तक जीव अनादिकाल से पाप बंध ही करता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही सातिशय पुण्य का आस्रव होता है। जीव में अनादिकाल से पापास्रव के द्वार स्थित है। उसके रहते हुए जो जीव शुभास्रव द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् पापास्रव के कारणभूत मिथ्यात्व, विषय, कषाय, हिंसादि त्याग करके शुभास्रव के कारण भूत सम्यग्दर्शन, दया, दानादि में प्रवृत्त होता है वह कैसे सदोष हो सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता है। इसलिये जीव को परंपरा से मोक्ष के साधन भूत पुण्य को निदान रहित होकर सतत उपार्जन करना चाहिये।

सालम्बन एवं निरालम्बन ध्यान :-

शंका : शुभ अवलम्बन ध्यान से पुण्य होता है और अशुभ ध्यान से पाप होता है ये दोनों संसार के कारण है। इसलिये दोनों विकल्पों से उपरम होकर शुद्धात्मानुभूतिरूप निरालम्ब ध्यान क्यों नहीं करना चाहिये।

समाधान :

जो मण्ड कोई एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं ज्ञाण।
सुद्धं चणिरालं षण्णमुण्डसो आगमो जइणो ॥ 382 ॥ (भावसंग्रह)
कहियाणी दिट्ठिवाए पडुच्च गुण ठाण जाणिं ज्ञाणाणि।
तद्वास देस विरओ मुखं धम्मं ण ज्झाएई ॥ 383

समाधान : जो कोई कहता है कि गृहस्थी को निश्चल निरालम्ब, शुद्ध, ध्यान होता है वह यतियों के आगम को नहीं जानता है। दृष्टिवाद अंग में जो गुणस्थान को लेकर ध्यान का वर्णन है उससे सिद्ध होता है कि देश विरत पंचम गुणस्थान श्रावक को मुख्य (उत्कृष्ट) धर्मध्यान नहीं होता है।

गृहस्थों को उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं होने के कारण :-

किं जं सो गिहवन्तो बहिरंतरं गन्थं परिमिओ णिच्चं।
बहु आरंभ पउत्तो कह ज्ञायइ सुद्धमप्पाणं ॥ 384
घरवावारा केइ करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
ज्झाणट्ठियस्सपुरओचिडुंतिणिमीलियच्छिस्सं ॥ 385

गृहस्थ सतत बाह्य धन धान्य, स्त्री,, पुत्र परिग्रह एवं कामक्रोधादि अंतरंग परिग्रह से वेष्टित रहता है। कृषि व्यापारादि आरंभ में लीन रहता है। इस प्रकार बाह्य विषय में लीन रहने वाला गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार कर सकता है। अर्थात् नहीं कर सकता।

गृहस्थ व्यापार को करता हुआ उसका मन, इन्द्रियाँ भाव उसमें ही तल्लीन रहते हैं जिस समय में वह ध्यान करने के लिए आँख बंदकर बैठता है उसके सामने संसार-व्यापार मनरूपी चल चित्र के परदे पर अंकित होते हैं। वह उस समय में हाथ में तो माला फिराता है और मन बाजार में घूमता है।

ख पुष्पमथवा श्रृंग खरस्यापि प्रतीयते।

न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिगृहाश्रमे ॥ 17 (ज्ञानार्णवः)

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परंतु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होना किसी देश व काल में संभव नहीं है।

सेवा-दान की महानता

चाल : छिप गया कोई रे...

सेवा-दान महान् है पापी नहीं करते...महान् पुण्यशाली ही, दोनों कार्य करते...
सेवा युक्त दान जो...करते वे महान्...दोनों से जो रिक्त होते, वे सब
पापीजन...(स्थायी)...

निःस्वार्थ भाव से जो...सेवा-दान करते...स्व-पर-उपकार भी, वे जन करते...
इह परलोक में भी...वे विकास करते...स्वर्ग से मोक्ष तक, वे प्राप्त करते...(1)

सेवाभावी नहीं दास न होते वे नीच माताएँ सेवा करती,क्या वे होती नीच
दान देना भी है सेवा...सेवा भी दान...दोनों का समन्वय तो, महान् काम...(2)

दोनों के कारण ही है परिवार व्यवस्था दोनों के कारण ही है,सामाजिक व्यवस्था
दोनों के कारण ही है...विश्व नागरिकता...दोनों से बनती है, दानतीर्थ/(धर्मतीर्थ)
व्यवस्था...(3)

सातिशय पुण्य बन्ध...भी इससे होता...तीर्थकर नामकर्म, भी इससे बन्धता...
हर धर्म-देश में भी इन्हें मिली मान्यता दोनों से रहित जो, उनमें न
मानवता (4)

सन्तुष्टि शान्ति तृप्ति...दोनों से मिलती...तन-मन-आत्मा में, स्वस्थता आती...
प्रेम-संगठन व परस्पर सहयोग बढ़ता विश्वास-सह अस्तित्व में विकास
होता (5)

व्यापार संकीर्णता...भेदभाव रिक्त...यथायोग्य पात्रानुसार, दोनों ही विहित...
अयोग्य दान व सेवा...न करणीय...‘कनक’ स्व-पर हेतु, द्वय सेवनीय...(6)...

सेवा धर्म/वैयावृत्ति के विविध रूप-18 गुण व फल (वैयावृत्ति न करने के 4 महा कुफल)

चाल : छिप गया कोई रे...

वैयावृत्ति महान् है...तीर्थकर बनते...अन्तरंग तप यह...तीर्थकर बताते...
सेवा-दान-आज्ञापालन-रोग दूर करना उपसर्ग दूर करना साधु-सेवा
करना(स्थायी)

वैयावृत्ति होती है विविध प्रकार...हाथ-पैर दबाना व विहार में चलना...
मुनियों के निवास स्थान शोधन करना...उपकरण चटाई भी शोधन करना...
रोगी-अशक्त मुनियों को उठाना-बैठाना...करवट दिलाना व खड़ा भी करना...
मल-मूत्र शोधन व रोग दूर करना...औषधि वैद्य आदि व्यवस्था करना...(1)

आहार औषधि व ज्ञान दान देना...पिच्छी कमण्डल व चटाई देना...
ज्ञानोपकरण तथा पाटा आदि देना...उपसर्ग परीषह दुर्भिक्ष से बचाना...
वैयावृत्ति के अठारह (18) होते हैं गुण...गुण¹ ग्रहण² श्रद्धा³ जिनाज्ञा⁴ पालन...
भक्ति⁵ व वात्सल्य⁶ पात्र⁷ की प्राप्ति...तप⁸ पूजा⁹ तीर्थ¹⁰ अव्युच्छित...(2)

विच्छन्न सम्यक्त्व आदि का पुनःसन्धान¹¹...संयम¹² दान¹³ व कार्य¹⁴ निर्वाहण...
सहाय¹⁵ लाभ व निर्विचिकित्सा¹⁶ गुण...प्रभावना¹⁷ सह जिनाज्ञा¹⁸ पालन...
वैयावृत्ति का जो न सेवन करता...वह जिनेन्द्र देव की आज्ञा भंग¹ करता...
श्रुत धर्म की भी वह विराधना² करता...आगम³ -स्व संघ का वह त्याग
करता...(3)...

धर्म से भ्रष्ट वह अधर्मी होता...(स्व) प्रयोजन में कोई न उसका सहयोगी होता...
एकाकी-असहाय व उपेक्षित भी होता...आलसी-प्रमादी-दम्भी(रूप)
कुख्यात होता

वैयावृत्ति वाला इन से विपरीत होता...सातिशय पुण्य-तीर्थकर कर्म बान्धता
स्वस्थ सबल व सुन्दर देह को पाता...इह-पर लोक सुख मोक्ष को पाता...(4)

नवकोटि से वैयावृत्ति सदा ही करणीय...वैयावृत्ति वालों की प्रशंसा करणीय/
(सहयोग करना)...

तन-मन-साधन-श्रम से(भी) करणीय...'कनकनन्दी' को यह सब ही
ग्रहणीय...(5)

दान-सेवा-परोपकार से सुख व स्वास्थ्य लाभ (वैज्ञानिक व धार्मिक दृष्टि से)

(चाल (1) छोटी-छोटी गैया...(2) शत-शत वन्दन)

सहयोग दान परोपकार जो करता है सो करता है स्व-परोपकार।

इसी से स्वयं को खुशी मिलती है, मिलता है स्वास्थ्य व पुण्य प्रचुर।।
ग्रन्थों (धर्म) में पहले से ही यह वर्णन हुआ, शोध हुआ अभी विज्ञान
में भी।।

ऑक्सीटोसिन हार्मोन का होता उत्सर्जन, जिससे बनता है उदारमन।।
जिससे प्रेम-सहयोग-सम्बन्ध बढ़े, सामंजस्य बढ़ता परस्पर में।
मस्तिष्क का वह भाग (भी) सक्रिय होता, जो भाग खुशी भरोसा से
सम्बन्धित।।

स्वास्थ्य भी अच्छा होता आयु बढ़ती, तनाव दूर रहे रक्त चाप सामान्य।
विश्वास-सहयोग-सम्बन्ध दृढ़ होते, समाज में मिले आदर व सम्मान।।
बढ़ती-कृतज्ञता व सकारात्मकता, चेन-रिएक्शन होता है परस्पर में।
दान-सेवा-करते अन्य भी प्रेरित होते, उदार-सहयोग का होता संचार।।
ऐसा ही दयालु व विनम्र होना, प्रशंसा सान्त्वना व प्रिय बोलना।
अभिवादन करना आशीर्वाद देना, वात्सल्य प्रेम से मुस्कुराना।।
आहार औषधि ज्ञानदान देना, अभय वसतिका उपकरण देना।
वैयावृत्ति करना व उपसर्ग हरना, साधु हेतु सर्वोत्तम दान देना।।
इससे पुण्य-ज्ञान-आरोग्य बढ़े, तीर्थंकर प्रकृति का (भी) होता बन्ध।
अन्त में मोक्ष-शाश्वत सुख मिले, 'कनक' का लक्ष्य है पाना निर्वाण।।

आहारदान से विविध-ज्ञान व लाभ

चाल : 1. क्या मिलिये...2. शत-शत वन्दन...

आहारदान है महान् काम...जिससे मिलते अनेक लाभ...

आहार बनाना नौधा भक्ति करना...सप्त गुण सह सातिशय पुण्य लाभ...।।घृ

आहार बनाने में आयुर्वेद ज्ञान...भौतिक-रसायन-गणित ज्ञान...

चाप-ताप सह गति विज्ञान...माप-तौल-वनस्पति विज्ञान...

समयानुबद्धता-अनुशासन ज्ञान...क्रमबद्धता व निर्णय ज्ञान...

होता अनुपान-मात्रा का ज्ञान...जलगालन स्वच्छता मर्यादा ज्ञान...(1)

होता नवधा भक्ति का (भी) ज्ञान...पड़गाहन¹ उच्चासन²-पाद प्रक्षालन³

पूजन⁴ नमस्कार⁵ मन⁶ वचन⁷ काय⁸...आहार शुद्धि⁹ का प्रायोगिक ज्ञान...

सप्त गुण का भी प्रयोग होता...क्रोध¹ ईर्ष्या² माया³ का त्याग होता...
निदान⁴ विषाद⁵ का त्याग होता...हर्षभाव⁶ निरहंकार⁷ भाव होता...(2)
सातिशय पुण्य का बन्ध भी होता...पाप कर्म का भी संवर होता...
इह परलोक में सुख भी मिलता...परम्परा से निर्वाण भी होता...
श्रावक के षट्-कर्तव्य पालन होते...पूजा-दान संयम भी पालन होते...
ज्ञानार्जन रूपी स्वाध्याय भी होता...गुरु उपासना-तप भी होता...(3)
धार्मिक संस्कार व आदर्श का पाठ...'अतिथि देव भवः' का महान् पाठ...
दान-दया-सेवा-परोपकार का पाठ...पढ़ने को मिलता मोक्ष लक्ष्य का पाठ...
दाता-पात्र का होता परस्पर...आदान-प्रदान व परिचय ज्ञान...
जिससे होता है धर्म-संरक्षण...तथाहि सम्बर्द्धन उत्तम प्रकार...(4)
ऐसी शिक्षायें अन्य कहीं न मिलती...देश-विदेशों के स्कूल से न मिलती...
आहारदान अतः सदा ही करणीय...'कनक' शाश्वतिक सुख वरणीय...(5)

आहार औषधि अभय ज्ञानदान

(आहारदान से श्रेष्ठ औषधिदान, औषधि दान से श्रेष्ठ अभयदान,
अभयदान से श्रेष्ठ ज्ञानदान)

(चाल : 1. भातुकली...2. तुम दिल की धड़कन...3.छोटी छोटी गैया
आहार औषधि अभय ज्ञान में...उत्तरोत्तर है दान महान्...
आहार से औषधि, औषधि से अभय...अभय से ज्ञानदान महान्...(स्थायी)
आहार से क्षुधा रोग दूर होता...अतः आहारदान भी औषधिदान...
इससे अभयदान भी होता...जिससे सुपात्र करता ज्ञानार्जन...
अतः आहारदान में भी गर्भित...औषधि व अभयदान...
ज्ञानार्जन करते अतः सुपात्र...आहारदान भी है ज्ञानदान...(1)
औषधि से सुपात्र निरोगी होकर...आहार करके पाता अभय...
जिससे वह ज्ञानार्जन करके...साधना से पाता परिनिर्वाण...
इसीलिये भी औषधिदान श्रेष्ठ...जिससे शरीर होता है स्वस्थ...
"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' अस्वस्थ तन से न होती आत्म साधना...(2)

जीवित पात्र ही साधना करता...जिससे मिलता है परिनिर्वाण...
बिना जीव हेतु ना होता आहारदान...तथा औषधि व ज्ञानदान...
आहार के बाद भी भुख लगती...होता है रोग व जन्म-मरण...
जीवित पात्र भी सुज्ञान बिना...नहीं प्राप्त कर पाता (परि) निर्वाण...(3)

परिनिर्वाण हेतु सुज्ञान चाहिये...निर्वाण में नहीं भूख-रोग-मरण...
भूख रोग मरण विनाश हेतु चाहिये...सुज्ञान अतः ज्ञानदान महान्...
ज्ञानदाता ही है 'गुरु' होते...अन्य दानदाता न होते गुरु...
अरिहन्त आचार्य पाठक साधु...अतएव होते हैं परम गुरु...(4)...

अरिहन्त ज्ञानदाता होने से...सिद्ध से पूर्व उन्हें करते नमन...
ज्ञानदान ही है निरवद्य दान...जिसे करते चारों गुरु महान्...
आत्मकल्याण व ज्ञानवृद्धि हेतु...ज्ञानदान होता महान् दान...
दोष निवारण-आत्म साधना हेतु...ज्ञानदान देना महान् दान...(5)...

अज्ञानी मोही असंयमीजन..नहीं कर पाते ज्ञानदान महान्...
चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थानवर्ती भी...ज्ञानदान हेतु न होते योग्यतम...
हर साधु भी न ज्ञानदान कर पाते...इस हेतु चाहिये योग्यता महान्...
ज्ञानी अनुभवी अध्यापन कुशल...वाग्मी प्रश्न सह अतिमतिवान्...(16)

अतएव योग्य ज्ञानदानी को...सुपात्र को ज्ञानदान विधेय/(करणीय)...
ख्याति पूजा लाभ विरहित...सत्य-तथ्य जो आगम प्रमाण...
ज्ञानदान से ज्ञान वृद्धि होती...सातिशय पुण्य बन्ध होता विशेष...
असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती...केवली बनकर पाये निर्वाण...(7)...

प्रवचन देना गलती सुधारना...शिविर संगोष्ठी ग्रन्थ प्रकाशन...
ये सब ज्ञानदान में गर्भित...'कनक' चाहे ज्ञानदान महान्...(8)

आहारदाता के अनेक गुण

(आहारदान में 4 दान, 9 भक्ति, 7 गुण, 6 कर्तव्य गर्भित)

(चाल :1. तुम दिल की धड़कन...2. छोटी-छोटी गैया...)

आहारदान तो भव्य करते, श्रद्धा प्रज्ञायुक्त आहार देते।

- चारों प्रकार वे दान करते, षट् कर्तव्यों को पूर्ण करते।। (1)
- नवधा भक्ति सहित देते, सप्त गुण युक्त आहार देते।
सातिशय पुण्य सहित होते, स्वर्ग-मोक्ष के सुख को पाते।। (2)
- आहार में गर्भित तीनों ही दान, औषधि-अभय-ज्ञानदान।
क्षुधा रोग हर यह औषधि दान, प्राणरक्षा कारक अभयदान।। (3)
- ध्यान-अध्ययन हेतु शक्ति मिलती, ज्ञान की प्रभावना इसी से होती।
इसीलिए यह है ज्ञानदान, धर्म तप मोक्ष देना समान।। (4)
- नवधा भक्ति भी इसमें गर्भित, पड़गाहन¹ उच्चस्थान² ग्रहण।
पादपक्षालन³ पूजन⁴ व प्रणाम⁵ मन⁶ वचन⁷ काय⁸ आहार⁹ शोधन।। (5)
- सप्तगुण है इसमें गर्भित, श्रद्धा¹ भक्ति² निर्लोभता³ दया⁴।
शक्ति⁵ क्षमा⁶ व विज्ञान⁷ युक्त, दान देते अति गुणवन्त।। (6)
- आचार्य उपाध्याय साधु भी देव, अतएव देवपूजा¹ भी गर्भित।
गुरुपास्ति² तो साक्षात् होती है, जीवन्त परमेष्ठी की पूजा होती है।। (7)
- आहारदान ज्ञान स्वाध्याय से होता, अतएव स्वाध्याय³ भी गर्भित होता।
आहारदान हेतु संयम⁴ भी होता फैशन-व्यसनों का त्याग होता।। (8)
- इच्छानिरोध रूपी तप⁵ भी होता, आहारदान तक भोजन न होता।
साक्षात् आहारदान⁶ तो होता, षट्कर्म्म का भी पालन होता।। (9)
- आहारदानी अतः महान् होते, सातिशय पुण्य-अर्जन करते।
सांसारिक सुख-वैभव पाते, साधु बनकर मोक्ष को पाते।। (10)
- मिथ्यादृष्टि भी दाता जो होते, पात्रानुसार भोगभूमि पाते।
उत्तम पात्र से उत्तम भोगभूमि, मध्यम से पाता मध्यम भोगभूमि।।(11)
- जघन्य से पाता जघन्य भोगभूमि, वहाँ से पाता स्वर्ग की भूमि।
स्वर्ग से बनते हैं उत्तम मानव, तीन भवों में पाते-सुख-वैभव।। (12)
- भव्य होने पर पाते अन्त में मोक्ष, आहारदान की यह महिमा विशेष।
आहारदान अतः सदा ही देय, मोक्षप्राप्ति है 'कनक' का ध्येय।। (13)

गर्भस्थ शिशु की सेवा/(रक्षा) यथा करती माता, साधु की सेवा/(रक्षा)
तथा करते दाता।

शक्ति-भक्ति/(स्वेच्छा) से करते दान, निस्पृह सन्त सम ज्ञान व ध्यान।।(14)

“सेवा का व्यापक स्वरूप एवं फल”

राग : छुप गया कोई रे...)

सेवा धर्म महान् है...पापी नहीं करता।

जीवन्त अहिंसा...सेवा रूप होता। ध्रु.।।

सेवा तो परमो धर्म...हर धर्म बताता।

जैनधर्म इसे तो...वैयावृत्ति बताता।

आहार-औषधि ज्ञान...अभयदान रूप है।

उपकरण दान तथा...वसतिका दान है।। (1)

पात्रदान सहित अनुकम्पा/(दयादत्ति) रूप भी।

दीन-हीन दरिद्र व...रोगी विकलांग की।।

दशविध साधुओं की...वैयावृत्ति करना।

उपसर्ग परीषह...रोग दूर करना..(2)

शरीर मर्दन द्वारा...श्रम दूर करना।

विहार के समय में...व्यवस्थादि करना।।

यह है वात्सल्य धर्म...भक्ति पूजा आराधना।

अन्तरंग तप यह...मान-लोभ मर्दन।। (3)

इसी से स्व-पर का...होता महोपकार।

सातिशय पुण्य होता...बने तीर्थकर।।

निरोग शरीर मिले...बने बलशाली।

मुनि बनकर प्राप्त...करे मोक्षपुरी।। (4)

मिथ्यादृष्टि यदि करे...दान सेवा आदि।

भोग भू आर्य बने...पाये स्वर्ग भूमि।।

भव्य यदि होता वह...बने सम्यग्दृष्टि।

साधना से सिद्धि मिले...पाये मोक्षभूमि।। (5)

ऐसा महान सेवा धर्म...भाग्यशाली करता।
पूजक से पूज्य बने...आत्म (मोक्ष) सुख पाता।
सेवा नहीं दीन वृत्ति...सेवा नहीं चाकरी।
सेवा नहीं बाह्य क्रिया...सेवक न भिखारी।। (6)

सेवा का महा आदर्श...तीर्थकर होते।
पार्श्वनाथ जीवन्धर...सुग्रीवादि होते।।
ईसा मसीह टेरेसा...नाइटिंगेल आपटे।
गाँधी विनोबा सुभाष...दयामती माते।। (7)

गाय भैंस नदी वृक्ष...बादल व प्रकृति।
धरती अग्नि वायु...सेवा करे प्रभृति।।
अतएव मानव तू...सदा सेवा करना।
सेवा से तू स्व-पर को...सदा सुखी बनाना।। (8)

सेवा से क्रूर शत्रु (भी)...नम्र बन जाते।
पाप नशे पुण्य मिले...अन्ते मोक्ष मिले।।
कनक (नन्दी) भावना भाये...सेवा धर्म पाले।
व्यवहार निश्चय से...यथायोग्य पाले।। (9)

पूजा-सेवा-दान-त्याग की महिमा

(चाल-तुम्हीं हो माता पिता तुम्हीं हो...) -आचार्य कनकनन्दी
पूज्य के प्रति भक्ति सन्मान, सो होती है पूजा विधान।
प्रणाम आरती अभिषेक वन्दन, प्रार्थना स्मरणादि होता है पूजन।।टेक/धत्ता।।
इससे पूजक होता लाभान्वित, पूज्य को नहीं होता है लाभ।
पूज्य यदि होता सगर्वित, होता है वह अपूज्यवान्।। पूज्य के प्रति...।। 1।।
सेवा-दान से उभय लाभान्वित, दाता व पात्र दोनों भी जान।
दाता को संतुष्टी पुण्य की प्राप्ति, कीर्ति की प्राप्ति होती हैं जान।।
आहार औषधि निवास शास्त्र से, पात्र से होता कल्याण जान।
स्व-पर उद्धार करने के योग्य, होता है सुपात्र जन महान्।। पूज्य के प्रति.।।(3)

इस हेतु है पूजा से महान् सेवा दान भी दोनों ही जान।

तीर्थकर की पदवी पावे, ऐसा महान् है सेवा व दान।। पूज्य के प्रति।। (4)

त्याग में होता है सर्वस्व त्याग, संकल्प विकल्प आसक्ति त्याग।

स्व-आत्म भिन्न सर्व उत्सर्ग, आकिञ्चन्यत्व सर्वोच्च भाव।। पूज्य के।। (5)

इसे कहते हैं सर्व संन्यास, इससे बनते हैं, साधु तीर्थेश।

गणधर पाठक आचार्य महान्, केवली सिद्ध बने भगवान्। पूज्य के प्रति।।(6)

इस अपेक्षा से त्याग महान् साक्षात् मोक्ष के कारण जान।

सर्व से पूजनीय होता है त्यागी, पूजक सेवक दानीराजन।। पूज्य के प्रति।।(7)

वन्दे तदुण लब्धये पूजा के भाव, अरिहन्त सिद्ध या स्वर्गीय जीव।

पूजनीय वे होते हैं विशेषतः जीवन्त पूज्य होते अपेक्षित।। पूज्य के प्रति।।(8)

जीवन्त पूज्य की पूजा आरती से, अधिक करणीय सेवा दान है।

इससे त्याग की प्रवृत्ति जागे, त्याग से निर्वाण पदवी पावे।। पूज्य के प्रति।।(9)

निःस्वार्थ सेवादि का सुफल

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., तुम दिल की...)

पद प्रतिष्ठा स्वार्थ सुविधा, सभी अधिकार चाहते हैं।

सेवादान परोपकार त्याग, शुचिता न चाहते हैं।। (1)

पद प्रतिष्ठा चाहने वाले, राग-द्वेष युक्त होते हैं।

सेवा दानादि करने वाले, राग-द्वेषादि त्यागते हैं।। (2)

राग-द्वेषादि त्याग बिन न सच्ची सेवादि होते हैं।

पद प्रतिष्ठा हेतु सेवादि न सही सेवादि होते हैं।। (3)

पद प्रतिष्ठा की इच्छा बिना, जो सेवा दानादि करते हैं।

पद प्रतिष्ठादि स्वयं मिलते, स्वर्ग-मोक्ष भी मिलते हैं।। (4)

निःस्वार्थ-पावन भाव से जो, सेवा दानादि करते हैं।

शान्ति-सन्तुष्टि प्राप्त करते, सातिशय पुण्य बाँधते हैं।। (5)

तन-मन आत्मा स्वस्थ होते, सर्वोदय भी होता है।

विघ्न-बाधा दूर होते, सर्व विकास भी होते हैं।। (6)

मृत्यु परे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त कर, शाश्वत सुख पाते हैं।
'कनकनन्दी' तो ऐसे सेवादि को, आदर्शमय मानते हैं।। (7)

भक्ति/सेवा से भक्त बनता है भगवान्

(चाल : तुम दिल की धड़कन...)

धन्य हो भक्त धन्य हो तुम, कितनी भक्ति करते हो।
तन-मन धन समय श्रम से, कितनी सेवा करते हो। स्थायी।।
आहार औषधि वसतिका ज्ञान उपकरण दान करते हो।
रोग-थकान दूर करने हेतु, वैयावृत्ति सदा करते हो।
श्रद्धा भक्ति वैयावृत्ति व दान, सेवा पूजा या आरती।
गुण स्मरण व भजन वन्दन, सभी ही होती सच्ची भक्ति।। (1)

भक्ति से सम्यक्त्व उत्पत्ति होती वृद्धि, तथा विशुद्धि होती।
पाप कर्मों का होता निरोध, पुण्य कर्मों का होता सञ्चय।।
प्रणाम से उच्च गोत्र मिलता, भोग मिलता है दान देने से।
उपासना से पूजा मिलती, स्तवन से कीर्ति भी मिलती।। (2)

भक्ति से सुन्दर रूप मिलता, वैयावृत्ति से तीर्थेश बनता।
वट बीजसम सुफल मिलता अभ्युदय सह मोक्ष मिलता।।
सत्ता-संपत्ति शिक्षा सहित भी जो भक्ति सेवा न करते हैं।
दुर्लभ मानव जन्म पाकर भी, निष्फल जन्म को करते हैं।। (3)

जो अहंकारी व कुटिल होते, लोभी स्वार्थी व मोही होते।
वे दान सेवा भक्ति न करते, पाप बान्धकर पतित होते।।
भक्त ही आगे भगवान् बनता, सेवा का फल मेवा मिलता।
सेवा का फल महान् होता, 'कनक' सेवा को श्रेष्ठ मानता।। (4)

सेवा का उद्देश्य एवं फल

(सेवा, पूजा, आराधना, संगति, नौकरी-चाकरी का उद्देश्य एवं फल)

(चाल : (1) शायद मेरी शादी...2. तुम दिल की...)

मानव उसकी सेवा करता, पूर्ति हो जिससे इच्छा की।
गुण के हेतु गुणी की पूजा/(सेवा), दुर्गुण हेतु दुर्गुणी की।।

ताप की सेवा शीत से दूर हेतु, ताप दूर हेतु शीत की।
पानी की सेवा प्यास दूर हेतु, क्षुधा-शान्त हेतु अन्न की॥ (1)

धन प्राप्ति हेतु धनी की सेवा, ज्ञान प्राप्ति हेतु ज्ञानी की।
शान्ति प्राप्ति हेतु शान्त की सेवा, अशान्त हेतु अशांत की॥
मोही की सेवा से मोह प्राप्त होता, निर्मोही होता निर्मोही से।
दुर्गन्ध सेवा से दुर्गन्ध मिलती, सुगन्ध हेतु सुगन्ध की॥ (2)

भोग के हेतु भोगी की सेवा, वैराग्य हेतु वैरागी की।
प्रकाश हेतु दीप की सेवा, अन्धेरा हेतु तम की॥
आवश्यकता की पूर्ति हेतु ही, सेवा की होती प्रवृत्ति।
वीतरागी को न धन चाहिये, गंजा को नहीं कंगी॥ (3)

इच्छा प्रेरित प्रवृत्ति होती, प्रवृत्ति सूचक इच्छा की।
न वचन होता अन्तर्जल्प बिन, आत्म बिन न चेतना की॥
आत्मा की सेवा से आत्मा की प्राप्ति, जड़ की सेवा से जड़ की।
'कनकनन्दी' चाहे आत्मोपलब्धि, तदनुकूल करे प्रवृत्ति॥ (4)

170 कर्मभूमि के त्रिकालवर्ती जिन आदि की विराधना का प्रायश्चित्त

सत्तातिसदखेत्तभवा तीदाणागदसुवट्टमाणजिणा।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज॥ (23) (कल्याण.)

पद्य :- एकसौसत्तर क्षेत्र में उत्पन्न अतीत अनागत वर्तमान के जिन।

उनकी जो-जो की विराधना निश्चय से वे सभी मम हो मिथ्या।

अरुहासिद्धइरिया उवझाया साहु पञ्चपरमेट्ठी।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज॥ (24) (कल्याण.)

पद्य :- अरिहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय साधु पंच परमेष्ठी।

उनकी जो-जो की विराधना निश्चय से वे सब मम हो मिथ्या॥

जिणवयणधम्मचेदिजिणपडिमा किट्टियाअकिट्टिमया।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज॥ (25) (कल्याण.)

पद्य- जिनवचन जिनधर्म जिन प्रतिमा कृत्रिम व अकृत्रिम।
उनकी जो-जो की विराधना निश्चय से वे सब मम हो मिथ्या।।

सन्दर्भ -

किं जंपिण्ण बहुणा तीसु वि लोएसु किं विजं सोक्खं।

पूजा फलेण सव्वं पाविज्जइ गन्थि सदेहो।। 493

अधिक कहने से क्या लाभ, तीनों ही लोक में जो कुछ भी सुख है वह सब पूजा के फल से प्राप्त होता है। इसमें कोई सदेह नहीं है।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुर्गति निवारयितुम्।

पुण्यानि च पूरयितुंदातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।। 8

एक ही परम जिनभक्ति भक्त का समस्त दुर्गतियों का निवारण करने के लिये, सातिशय पुण्य का संपादन करने के लिये एवं मोक्ष पदवी देने के लिये समर्थ होता है।

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।

कामदुहि कामदाहिनी परिचिनुयादादृत्योन्तित्यं।। 119 (रत्नकरण्ड)

The worshipping of the feet of the Deva of devas(holy Trithankara) the best ower of desired good and the consaner of cupid's shatts, is the removed of all kinds of pain(for this reason it) Should be performed reverntly everyday.

श्रावक आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम वेदना को भस्म करने वाले इन्द्रादिक द्वारा वंदनीय अरहंत भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली भगवान् की पूजा करें।

देवेन्द्रचक्र महिमानमेयमानम्।

राजेन्द्र चक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।

धमेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्व लोकम्।

लब्ध्या शिवं च जिनभक्तिरूपैति भव्यः।। 42।। (रत्न)

जिनेन्द्र भगवान् में सातिशय अनुराग को रखने वाला जिनेन्द्र भक्त सम्यग्दृष्टि जीव अपरिमित्त प्रतिष्ठा और ज्ञान से सहित इन्द्र समूह की महिमा को प्राप्त करता है। 32 हजार मुकुट बद्ध राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्र रत्नों को प्राप्त करके चक्रवर्ती बनता है। केवल इस प्रकार अभ्युदय सुख का अधिकारी नहीं

होता है परंतु समस्त लोक से पूजनीय धर्मचक्र के अधिपति होकर अर्थात् तीर्थकर बनकर शेष त्रिलोक का प्रभु स्वरूप सिद्ध भगवान् बनकर मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करता है।

अरहंत गमोऽकारं भावेण च जो करेदि पयदमदि।

सोसव्वदुःख मोक्खंपावदिअचिरेणकालेसा।। (मूलाचार)

जो उत्कृष्ट अरहंत भगवान् को भावपूर्वक नमस्कार करता है वह समस्त दुःख से अचिरकाल से अर्थात् अतिशीघ्र मुक्त होकर मुक्त अवस्था को प्राप्त करेगा।

अरिहंत भक्ति से तीर्थकर बन्ध :-

अरहंत भक्ति से तीन लोक को क्षुभित करने वाला सातिशय पुण्य स्वरूप और पर्याप्त मोक्ष के लिये निश्चित कारण है, इसी प्रकार का तीर्थकर नामकर्म बंधता है। जिन्होंने घातियाँ कर्म को नष्ट कर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है वह अरहंत अथवा 8 कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध और घातिया कर्मों को नष्ट करने वालों का नाम अरहंत (सकल परमात्मा) है क्योंकि कर्मशत्रु के नाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है। उन अरहंतों में जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वही अरहंत भक्ति कहलाती है। इस अरहंत भक्ति से तीर्थकर प्राकृतिक बंध होता है। (धवला)

शंका : केवल अरहंत भक्ति में अन्य भावनाओं की संभावना कैसे है ? (क्योंकि 16 भावनाओं से तीर्थकर नाम कर्म बंध है तो केवल अरहंत भक्ति से किस प्रकार बंध हो सकता है)

समाधान : अरहंत के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान से अनुकूल प्रवृत्ति करने या उस अनुष्ठान के स्पर्शों को अरहंत भक्ति कहते हैं। और यह दर्शन विशुद्धि आदि बिना ऐसा संभव नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है। अतएव अरहंत भक्ति तीर्थकर प्रकृति बंध का 11वां कारण है।

उपरोक्त सिद्धांत से सिद्ध होता है कि जहाँ अरहंत भक्ति है वहाँ दर्शन विशुद्धि, विनय संपन्नता आदि संपूर्ण भावना का सद्भाव है क्योंकि अरहंत भक्ति तब होती है जब हृदय में सम्यग्दर्शन हो। सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ अरहंत भक्ति

हो ही नहीं सकती है। उपरोक्त समस्त सिद्धांत से सिद्ध होता है कि देवदर्शन, अरहंत भक्ति समयदर्शन की उत्पत्ति के लिये कारण, पाप कर्मों की निर्जरा के लिये कारण निधत्ति, निकाचित कर्म नष्ट के लिए कारण, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती तीर्थंकर प्रकृति के लिये कारण है। इसलिये मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये कारण है। इसलिये आचार्य ने बताया कि “वन्दे तदुण लब्धये।” भक्त ही भक्ति के माध्यम से संपूर्ण कर्म को नष्ट करके भगवान् बन जाता है।

“दासोऽहं रटता प्रभो! आया जब तुम पास।

द दर्शन ही हट गयो, “सोऽहं” रहो प्रकाश।।

“सोऽहं सोऽहं” ध्यावतो रह नहीं सको सकार।

‘दीप’ अहं मय हो गयो अविनाशी अविकार।

गुरुपास्ति :- (साधु सेवा)

जैन धर्मरूपी रथ-श्रावक और मुनि चक्र रूपी अवलंबन से गतिशील होता है। उसमें से एक भी चक्र के अभाव में धर्म रूपी रथ आगे नहीं बढ़ सकता जब तक जीवंत धर्म-स्वरूप मुनियों का सद्भाव रहेगा तब तक धर्म रहेगा” तब तक श्रावक भी रहेंगे। क्योंकि, ‘न धर्मो धार्मिकेर्वीना’ इसलिए दूरदृष्टि एवं सूक्ष्मदृष्टि सम्पन्न धर्म प्रवर्तकों ने एवं प्रचारकों ने धर्म की स्थिरता एवं धर्म की गतिशीलता के लिये विनय वैयावृत्य, वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण और प्रभावनादि धर्मप्रचार-प्रसार के उपाय रखे हैं।

सेजागासणिसेज्ज उवधिपडिलेहंणां उवग्गहिदे।

आहारो सह वायण वि किं चणुत्वत्तणादीसु।। 305 (भगवती)

अद्धाण तेण सावयरायणदीरा धे गसिवे ऊमे।

वेजावच्चं उत्तं संगहणारक्खणो वेदं।। 306

शयनस्थान, बैठने का स्थान, उपकरण इनका शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वाध्याय, अर्थात् उपदेश (व्याख्यान) करना, अशक्त मुनि का मैला उठाना, उसे करवट दिलाना बैठाना वगैरह कार्य करना, थके हुए साधु के हाथ पैर दबाना, नदी से रुके हुए अथवा रोग पीड़ित का उपद्रव विद्या आदि से दूर करना, दुर्भिक्ष पीड़ित को सुभिक्ष देश में लाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं।।

वैयावृत्य न करने में दोष

एदे गुणा सहस्रा वेजावच्चुज्जदस्स बहयाय।

अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्जयं चव कुवंतो।। 329।।

वैयावृत्ति से इस प्रकार महान् गुण होते हैं, स्वाध्याय करने वाला तो आत्म प्रयोजन ही साधता है परंतु वैयावृत्ति करने वाला स्व पर का उद्धार करता है।

अणिगूहिद बलविरओ वेजावच्चं जिणोवदेसेण।

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदी णिद्धम्मो।। 307

तित्थयराणा कोधो सुदधम्म विराधना अणायारो।

अप्पापरो पवयणं च तेण णिजूहिंद होदि।। 308 (भ. आ.)

समर्थ होते हुए तथा अपने बल को न छिपाते हुए भी जिनोपदिष्ट वैयावृत्य जो नहीं करता है वह धर्म भ्रष्ट है।

जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश, अपना साधु वर्ग का व आगम का त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्य न करने से उत्पन्न होते हैं।

वैयावृत्य के प्रयोजन व फल :-

गुण परिणामो सद्धा वच्छल्लं भक्ति पत्तलंभोय।

संधाणं तवपूया अव्वो च्छिति समाधि य।। 309।।

आणा संजम सखिल्लादा य दाणं च अविदिगिंछाय।

वेजावच्चस्स गुणा पभावण्णा कज्जपुण्णाणि।। 310।। (भ.आ.)

गुण ग्रहण के परिणाम श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः संधान तप, पूजा तीर्थ अव्युच्छित समाधि। जिनाज्ञा, संयम, सहाय, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना कार्य निर्वाहण ये वैयावृत्य के 18 गुण हैं।

समाध्याधान विचिकित्साभाव प्रवचन वात्सल्याद्याभिव्यक्त्यर्थम्।।

(राजवर्तिक, सर्वार्थ सिद्धि)

यह समाधि की प्राप्ति विचिकित्सा का अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

वैयावृत्ति से तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध :-

साधुओं के वैयावृत्य योग युक्तता से तीर्थकर नाम कर्म बंधता है। वैयावृत्य अर्थात् रोगादि व्याकुल साधु के विषय में जो सेवा औषधादि देना, उपसर्ग परिषह दूर किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है।

जिस सम्यक्त्व-ज्ञान-अरिहंत भक्ति-बहुश्रुत भक्ति एवं प्रवचन वात्सल्यादि से जीव की वैयावृत्य में लगा हो वह वैयावृत्य योग है अर्थात् दर्शन विशुद्धतादि गुण है। उसमें संयुक्त होने नाम का वैयावृत्य योग युक्तता है। इस प्रकार की उस एक ही प्रकार की वैयावृत्य युक्तता से तीर्थकर नाम कर्म बंधता है। यहाँ शेष कारणों का यथा संभव अंतर्भाव करना चाहिये, इस प्रकार यह दसवाँ कारण है।

कुंदकुंद स्वामी ने प्रवचनसार में बताये हैं कि वैयावृत्य मुनियों की अपेक्षा श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है।

जो अंतरंग में अहंकारी,, अविनयी है और जिनकी धर्म के प्रति, गुरु के प्रति प्रीति नहीं है वह साधु सेवा नहीं कर सकता है। वैयावृत्य से अभिमान, अविनयता दूर होती है। ऋजुजा, नम्रता, कोमलता आदि गुण प्रगट होते हैं। वैयावृत्य अंतरंग तप है। एक सतत ज्ञानोपयोगी साधु से भी वैयावृत्य करने वाला साधु श्रेष्ठ है। क्योंकि वह स्व पर उपकार करता है परंतु स्वाध्याय वाला केवल स्व उपकार करता है। स्वाध्याय करने वाले पर विपत्ति आयेगी तो उसे वैयावृत्य वाले के मुख की तरफ ही देखना पड़ेगा ऐसा भगवती आराधना की 329 गाथा में कहा है।

स्वाध्याय :-

स्वाध्याय केवल शुद्ध-आगम अर्थात् द्रव्य श्रुत का पढ़ना, रटना, स्वाध्याय नहीं है। परंतु द्रव्य श्रुत के माध्यम से भाव श्रुत द्वारा स्व-आत्मा द्रव्य का अध्ययन करना, जानना, शोध करना, प्राप्त करना यथार्थ स्वाध्याय है।

प्रज्ञातिशय प्रशस्ताध्यवसायः परमसंयमस्तपोवृद्धिनिरतिचार विशुद्धि रित्येवमाद्यर्थः। प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिये, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिये परम संवेग के लिये, तपवृद्धि व अतिचार शुद्धि के लिये संशयोच्छेद व परवादियों की शंका का अभाव आदि के लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

गाथा:- दंसणणाणचारित्ते दोसा अट्टुपञ्चभेयाइं।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (26) कल्या.

पद्य :- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र में लगे दोष जो आठ आठ पंच भेद।

उसमें जो जो लगे दोष विराधना से वे सभी हो मम दुष्कृत।।

पाँच सुज्ञान में लगे दोषों के प्रायश्चित्त

गाथा:- मदिसुदओहीमणपज्जय त्ता केवलं च पंचमयं।

जेजे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (27) कल्या.

पद्य :- मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवल रूपी पंचविध ज्ञान में।

उसमें जो जो लगे दोष विराधना से वे सभी हो मम दुष्कृत।।

जिनवाणी में लगे दोषों के प्रायश्चित्त

गाथा :- आयारादी अंगा पुव्वपइण्णा जिणेहिं पण्णात्ता।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (28)

पद्य :- आचारादि अंग व पूर्व प्रकीर्णक जो जिनेन्द्र प्रणीत।

उसमें जो जो लगे दोष विराधना से वे हो मम दुष्कृत।।

तत्थ णाणायरो अट्टविहो काले, विणए, उवहाणे, बहुमाणे तहेव अणिण्हवणे, विंजण-अत्थ-तदुभवे चेदि। णाणायरो अट्टविहो परिहाविदो, से अक्खर-हीणं वा, सर-हीणं वा, विंजण-हीणं वा, पद हीणं वा, अत्थ-हीणं वा, गंथ हीणं वा, थएसु वा, थुइसु वा, अत्थक्खाणेसु वा, अणियोगेसु वा, अणियोग-द्वारेसु वा, अकाले-सज्झाओ, कदो वा, कारिदो, वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो, काले वा, परिहाविदो अच्छकारिदं वा, मिच्छा मेलिदं वा, आ-मेलिदं, वा-मेलिदं, अण्णहा-दिण्हं, अण्णहा पडिच्छिदं, आवासएसु परिहीणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।। 1 प्रति.

अन्वयार्थ-(तत्थ) उन पाँच प्रकार के आचारों में पहला (णाणयारो) ज्ञानाचार (अट्टविहो) आठ प्रकार का है- (काले) कालाचार (विणये) विनयाचार (उवहाणे) उपधानाचार (बहुमाणे) बहुमानाचार (तहेव) तथा (अण्णिण्हवणे) अनिह्ववाचार (विंजण) व्यञ्जनाचार (अत्थ) अर्थाचार (च) और (तदुभये) अभयाचार (इदि) इस प्रकार है। (तत्थ) उस (अट्टविहो णाणायारो) आठ प्रकार

के ज्ञानाचार का (थएसु) तीर्थकर, पञ्चपरमेष्ठी या नव देवताओं के गुणों का वर्णन करने वाले स्तवनों में (वा) अथवा (थुइसु) तीर्थकर पंचपरमेष्ठी आदि गुणों का वर्णन करने वाली स्तुतियों में (वा) अथवा (अत्थक्खाणेषु) चारित्र और पुराणों रूप अर्थाख्यानों में वा प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगों में (वा) अथवा (अणियोगेषु) अनुयोगों में (वा) अथवा (अणियोगद्वारेसु) कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोग द्वारों में (अक्खरहीणं) अक्षरहीन (वा) अथवा (सरहीणं) स्वरहीन (वा) अथवा (पदहीणं) सुबन्ततिड न्त से रहित (विंजणहीणं) व्यंजन हीन (ककारादि व्यञ्जनहीन) (अत्थहीणं) अर्थहीन वाक्य, अधिकाररहित अथवा (गंथहीणं) ग्रंथहीन (वा) अथवा (अकाले) अकाल में उल्कापात संध्या काल आदि में (सज्झाओ) स्वाध्याय (कदो) किया हो(वा) अथवा (कारिदो) कराया हो (वा) अथवा (कीरंतो समुणमण्णिदो) करते हुए की अनुमोदना की हो(वा) अथवा (काले) काल में आगम का स्वाध्याय किया हो, (परिहाविदो) आगम में कथित गोसर्गिकादि काल में स्वाध्याय नहीं किया हो(अच्छाकारिदिं) श्रुत का जल्दी-जल्दी उच्चारण किया हो (मिच्छामेलिंद) किसी अक्षर या शब्द को किसी अक्षर या शब्द के साथ मिलाया हो (वा) अथवा (आमेलिंद) शास्त्र के अन्य अवयव को किसी अन्य अवयव के साथ जोड़ा हो(मेलिंद) उच्चध्वनि युक्त-पाठ को नीच ध्वनि युक्त पाठ के साथ, नीच ध्वनियुक्त पाठ को उच्च ध्वनि युक्त पाठ के साथ जोड़कर पढ़ा हो(अण्णाहादिण्णं) अन्यथा कहा हो(अण्णहापडिच्छदं) अन्यथा ग्रहण किया(आवासएसु परिहीणदाए) छह आवश्यक क्रियाओं में परिहीनता/कमी करके ज्ञानाचार का परिहापन किया हो(तस्स) तत्संबंधी (मे) मेरे (दुक्कडं) दुष्कृत (मिच्छा) मिथ्या हो।

दंसणायारो अट्टविहो

णिस्संक्रिय णिकंक्खियणिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल-पहावणा चेदि॥ 1॥

दंसणायारो अट्टविहो परिहाविदो, संकाए, कंखाए, विदिंगिछाए, अण्ण-दिट्ठी-पसंसणाए, परपाखड-पसंसणाए, अणायदण-सेवणाए, अवच्छल्लदाए, अपहावणाए, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥ 2॥

अर्थ-दर्शनाचार के निम्न आठ भेद हैं-(णिस्संक्रिय) निःशक्ति (णिकंक्खियं)

निःकाक्षित (णिच्चिदिगिंछो) निर्विचिकित्सा (अमूढदिद्वीय) अमूढदृष्टि (उवगूहण) उपगूहन (ठिदिकरण) स्थितिकरण (बच्छल्ल) वात्सल्य (च) और (पहावणा) प्रभावना (इदि) इस प्रकार।

अन्वयार्थ- (दंसणयारो अट्टविहो) आठ प्रकार के दर्शनाचार के विपरीत आठ दोष है- (संकाए) शंका से (कंखाए) कांक्षा से (विदिगिंछाए) विचिकित्सा से (अण्णदिद्व पसंसणदाए) अन्यदृष्टि प्रशंसा से (परपाखंडपसंसणदाए) पर पाखंडियो की प्रशंसा से (अणायदणसेवदाए) छह अनायतनों की सेवा से (अवच्छल्लदाए) साधमीजनों में प्रीति न करने रूप अवात्सल्य से (अप्पहावणदाए) पूजा,दान, व्रत, उपवास आदि के द्वारा जिनशासन का माहात्म्य प्रकट न करके अप्रभावना से दर्शनाचार के परिहापन संबंधी जो दोष लगा हो (तस्स) तत्संबंधी (मे) मेरा (दुक्कडं) दुष्कृत (मिच्छा) मिथ्या हो अर्थात् दर्शनाचार को दूषित करने वाले मेरे पाप मिथ्या हो।

तवायारो बारसविहो अब्भंतरो, छव्विहो, बाहीरो-छव्विहो चेदि। तत्थ बाहीरो अणसणं, आमोदरियं वित्ति-परिसंखा, रस-परिच्चाओ, सरीर-परिच्चाओ, विवित्त, सयणासणा चेदि । तत्थ अब्भंतरो पायच्छित्तं, विणओ, वेज्जावच्चं, सज्झाओ, ज्ञाणं, विउस्सग्गो चेदि। अब्भंतरं बाहिरं बारसविहं-तवोकम्मं, ण कंदं, णिसण्णेण पडिक्कंतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।।3

अन्वयार्थ- (बारसविहो तवायारो) बारह प्रकार का तपाचार है (अब्भंतरो छव्विहो) छह प्रकार का आभ्यंतर-तप(च) और (छव्विहो) छह प्रकार का (बाहीरो) बाह्य तप (तत्थ) उसमें (बाहीरो अणसणं) बाह्य-अनशन (अमोदरियं) अवमौदर्य, (वित्तिपरिसंख्या)वृत्तिपरिसंख्यान (रस-परिच्चाओ) रस परित्याग (सरीरपरिच्चाओ) कायक्लेश (च) और (विवित्तसयणासण) विवित्त शयनासन (इदि) इस प्रकार (तत्थ अब्भंतरो) तथा आभ्यंतर तप(पायच्छित्तं) प्रार्थश्चित (विणओ) विनय (वेज्जावच्चं) वैय्यावृत (सज्झाओ) स्वाध्याय (ज्ञाणं) ध्यान (च) और (विउस्सग्गो) व्युत्सर्ग (इदि) इस प्रकार (अब्भंतरं) बाह्य और आभ्यंतर (बारहविहं) बारह प्रकार का(तवोकम्मं) तपःकर्म (णिसण्णेण पडिक्कंत) परीषह आदि के द्वारा पीडित होने से छोड़ दिया हो (ण कंदं) नहीं किया (तस्स) उस बारह प्रकार के तप के परिहापन संबंधी (दुक्कडं में) मेरे दुष्कृत

(मिच्छा) मिथ्या हो।

वीरियायारो पंचविहो परिहाविदो वर-वीरिय-परिक्रमेण, जहुत्त-माणेण, बलेण, वीरिएण, परिक्रमेण णिगूहियं तवो-कम्मं, ण कदं, णिसण्णेण पडिवकंतं तस्य मिच्छा मे दुक्कडं।¹⁴ है(वर वीरियपरिक्रमेण) वरवीर्य परिक्रम (जहुत्तमाणेण) यथोक्तमान(बलेण) बल (वीरियेण) वीर्य और (परिक्रमेण) परिक्रम पराक्रम। (तवोकम्मं) इस पाँच प्रकार तप कर्म का अनुष्ठान करते हुए (णिगूहियं) तप करने के योग्य वीर्य को छिपाया हो(ण कदि) नहीं किया हो (णिसण्णेण पडिवकंतं) परिषह आदि से पीड़ित हो उस तप कर्म को छोड़ दिया हो (परिहाविदो) पूर्ण अनुष्ठान नहीं किया हो (तस्स) उस वीर्याचार के परिहापन संबंधी (मे दुक्कडं) मेरे दुष्कृत्य (मिच्छा) मिथ्या हो।

पाँच प्रकार के वीर्याचार का परिहापन रूप यह आलोचना है। तपश्चरण करने में सामर्थ्य प्रकट करना वीर्याचार है, सामर्थ्य को छिपा लेना परिहापन है।

पाँच प्रकार का वीर्याचार- 1. **वरवीर्यपराक्रम-** वीर्य के पराक्रम उत्साह को वीर्यपराक्रम है, उत्कृष्ट वीर्य का पराक्रम वरवीर्यपराक्रम है, इस श्रेष्ठ वीर्यपराक्रम से अनशनादि तप करना चाहिये।

2. **यथोक्तमान-** आगम कथित परिमाण से तप करना यथोक्तमान वीर्य है। जैसे आगम में सिक्थग्रास या चन्द्रायणव्रत की विधि जिस परिमाण से कही है उसी परिमाण से करना अथवा कायोत्सर्ग करने की विधि जिस क्रिया में जहाँ जिस प्रकार कहीं गई है वहाँ उसी प्रकार 1 या 36 बार आदि णमोकार मंत्र का विधिवत् जाप करके तप करना चाहिये।

3. **बलेन-काल,** आहार, क्षेत्र आदि देखकर शारीरिक बल के सामर्थ्य अनुसार तप करना बलवीर्य है।

4. **वीर्य-** स्वाभाविक सहज सामर्थ्य अनुसार तप करना। अर्थात् आत्मशक्ति अनुसार तप करना।

5. **पराक्रम-**आगम में कहे गये क्रमानुसार उत्कृष्ट तप करना पराक्रम है अथवा परा-उत्कृष्ट, क्रम=क्रम कहा गया है जैसे-मूलगुणों का अनुष्ठान करने वाली को उत्कृष्ट गुणों का अनुष्ठान करना चाहिये विपरीत नहीं इसका नाम पराक्रमवीर्य है।

चारित्राचार तथा प्रथम अहिंसा महाव्रत के दोषों की आलोचना

चारित्ताचारो तेरसविहो परिहाविदो पंच-महव्वदाणि, पंच-समिदीओ, तिगुत्तीओ चेदि। तत्थ पढमे महव्वदे पाणादिवादो वेरमणं से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, आऊ-काइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेऊ-काइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाऊ- काइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवां अणंताणंता हरिया, बीआ, अंकुरा, छिण्णा, भिण्णा, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

अन्वयार्थ- (पंचमहव्वयाणि) पाँच महाव्रत (पंच समिदीओ) पाँच समिति (च) और (तिगुत्तीओ) तीन गुप्ति (इदि) इस प्रकार (तेरसविहो) तेरह प्रकार का (चारितायारो) चारित्राचार है (तस्स) उस चारित्राचार का किसी भी कारण (परिहाविदो) खंडन हुआ हो या उसमें दोष लगा हो तो (मे) मेरा (दुक्कडं) पाप (मिच्छा) मिथ्या हो। मेरे दुष्कृत मिथ्या हो।

5 महाव्रत व 18000 शीलयुक्त भगवान

सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त

गाथा- पंच महव्वदजुत्ताअट्टदससहस्ससीलकदसोहा।

जेजे विराहिद खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्जा।। (29) कल्याणा.

पद्य- पंचमहाव्रत युक्त अठारह हजार शील से युक्त अरिहन्त।

उनमें जो जो लगे दोष विराधना से वे सभी हो मम दुष्कृत।।

गणधर सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

लोए पियरसमाणा रिद्धिपवण्णा महामगणवइया।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्जा।। (30) (कल्याणा)

पद्य-लोक में पिता सम ऋद्धि प्राप्त महागणपतियोंके।

उन में जो-जो लगे दोष विराधना से वे सभी हो मम दुष्कृत।।

चतुर्विध संघ की विराधना के प्रायश्चित्त

गाथा- णिगंथ अज्जियाओ सड्ढा सड्ढी य चउविह संघो।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।। (31) कल्याणा.

पद्य- निर्गन्थ आर्यिका श्रावक श्राविका रूपी चतुर्विध संघ।

उनमें जो लगे दोष विराधना से वे सभी हो मम दुष्कृत।।

चतुर्गति के जीवों की विराधना के प्रायश्चित्त

गाथा- देव सुरा मणुस्सा णेरइयातिरियजोणिगदजीवा।

जे जे विराहिदा खलु मिच्छा में दुक्कडं हुज्ज।। (32)

पद्य- देव असुर मनुष्य नारक तिर्यञ्च योनिगत जीव।

उनमें जो लगे दोष विराधना से वे सभी हो मन दुष्कृत।।

कषायकृत दोषों के प्रायश्चित्त

गाथा- कोहो माणो माया लोहा एदेय रायदोसाइं।

अण्णाणे जे वि कदा मिच्छा में दुक्कडं हज्ज।। (33) कल्याण.

पद्य- क्रोध मान माया लोभ इत्यादि राग द्वेष।

अज्ञान से जो भी किया वे सभी हो मम दुष्कृत।।

कषाय शत्रु नाश से मुझे पाना है मुक्ति

(चाल : मन रे तू काहे...न धीर धरे..., मोक्ष पद मिलता धीरे-धीरे..., शत-शत...)

- आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू काहे कषाय करे/विकार करे)।

क्रोध मान माया लोभ मोहऽऽऽ उन्हें तू दूर करेऽऽऽ...(ध्रुव)...

बाह्य शत्रु से भी ये परम शत्रु हैऽऽऽ इन्हें न नेह करेऽऽऽ

बाह्य शत्रु जो क्षति करते हैऽऽऽ उन्हीं से ये अनंत करेऽऽऽ

कर्म बन्धन करेऽऽऽ जिया...रे(1)...

कर्म बंधन से मिलते दुःखऽऽऽ संसार चक्र चलेऽऽऽ

नरक निगोदादि चौरासी लक्ष योनिऽऽऽ भ्रमण चक्र चलेऽऽऽ

अनंत दुःख देवेऽऽऽ जिया रे...(2)

क्रोध से मैत्री नाश मान से बढ़े शत्रुऽऽऽ माया से विश्वास नशेऽऽऽ लोभ से शुचि नशे मोह से श्रद्धा नशेऽऽऽ समता व शांति विनशेऽऽऽ रोग-शक्ति प्रगटेऽऽऽ जिया रे...(3)...

कषाय हेतु भले बाह्य कारक बनेऽऽऽ मुख्य है तेरी दुर्बलताऽऽऽ आत्म शक्ति जगाओ दुर्बलता भगाओऽऽऽ कषाय होगी चकनाचुरऽऽऽ तू(तो) अनंत शक्ति सम्पन्नऽऽऽ जिया रे...(4)

कषाय नाश से आत्म शक्ति बढ़तीऽऽऽ मिलती है आत्मिक शांतिऽऽऽ कर्म भी क्षय होते आत्मगुण बढ़तेऽऽऽ अंत में मिलती है मुक्तिऽऽऽ कनक मुक्ति को वरेऽऽऽ जिया रे...(5)...

यथार्थ से शत्रु-मित्र

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर-धरे..., मोक्ष पद मिलता धीरे-

धीरे..., भातुकली...(मराठी)...., सायोनारा....)

आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! शत्रु मित्र न कोईऽऽऽ

अनंत भव में हर जीव सेऽऽऽ संबंध हुए हैं तेरेऽऽऽ...(ध्रुव)

अनंत काल से अनंत भव मेंऽऽऽ अनंत हुए (पञ्च) परिवर्तनऽऽऽ

सूक्ष्म निगोदिया से देव तक मेंऽऽऽ अनंत हुए जन्म-मरणऽऽऽ

संसार चक्र भी यहीऽऽऽ जिया रे...(1)...

चतुर्गति रूपी संसार मध्य मेंऽऽऽ चौरासी लक्ष योनि मध्य मेंऽऽऽ

पञ्च परिवर्तन अनंत हुएऽऽऽ संबंध अनंतानंतऽऽऽ

संसार भ्रमण यहीऽऽऽ जिया रे...(2)...

भाई-बंधु-सखा-माता-पिता-सुताऽऽऽ पत्नी व पुत्रादि रूप मेंऽऽऽ

संबंध हुए हैं अनंत बारऽऽऽ शत्रु व मित्र रूप मेंऽऽऽ

अपना-पराया न कोईऽऽऽ जिया रे...(3)

शत्रु भी अनेक बार मित्र बने हैंऽऽऽ मित्र भी बन गये शत्रुऽऽऽ

तथाहि भाई-बंधु आदि में भीऽऽऽ मित्र भी बन गये शत्रुऽऽऽ

शत्रु-मित्र न कोईऽऽऽ जिया रे...(4)...

इसीलिए कोई न अपना-परायाऽऽ जानो तू निश्चय सेऽऽ
स्व-आत्म तत्त्व से होता है अपनाऽऽ अन्य होता व्यवहार सेऽऽ
निश्चय से स्व को जानोऽऽ जिया रे...(5)...

आत्म-कल्याण हेतु तेरा ही स्वभावऽऽ होता है अपना स्व-जनऽऽ
तेरे ही राग-द्वेष-काम-क्रोध आदिऽऽ होते निश्चय से पर जनऽऽ
आत्म-स्वभाव भज रेऽऽ जिया रे...(6)...

लौकिक भाई बंधु शत्रु मित्र प्रतिऽऽ जो होते राग-द्वेष-मोहऽऽ
ये ही तेरे शत्रु(स्व) स्वभाव ही मित्रऽऽ अतः त्यज वे रोग-द्वेषऽऽ
बनो तू साम्य स्वरूपऽऽ/(बन तू शुद्ध स्वरूपऽऽ) जिया रे...(7)...

रत्नत्रय सह दशविध धर्मऽऽ समता-निस्पृहता व शांतिऽऽ
ये ही प्राप्य ये ही तेरे मित्रऽऽ जिससे मिले मोक्ष सुखऽऽ
'कनक' शुद्ध-बुद्ध बनऽऽ जिया रे...(8)...

जिया रे! अधर्म भाव को त्यज

(चाल: मन रे! तू काहे न धीर धरे..., मोक्ष पद मिलता धीरे-धीरे..., सायोनारा...)

आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! अधर्म भाव त्यज रे...

क्रोध-मान-माया-लोभ-कामऽऽ ये हैं अधर्म भावऽऽ...(ध्रुव)...

मोह है सबसे अधिक अधर्मऽऽ सत्य धर्म का न होता भानऽऽ
आत्मा से भिन्न अनात्म तत्त्व मेंऽऽ होता है आत्म का भानऽऽ
न होता आत्म-ज्ञानऽऽ जिया रे...(1)...

क्रोध भी जीव का अधर्म भावऽऽ क्षमा धर्म न होता पालनऽऽ
उद्वेग-उत्तेजना होते आत्मा मेंऽऽ कलह-विसंवादादि होताऽऽ
क्षमा धर्म न पलताऽऽ जिया रे...(2)...

मान भी जीव का अधर्म-भावऽऽ मार्दव-धर्म न होनाऽऽ
अष्टमद का भी होता सद्भावऽऽ विनय धर्म न होनाऽऽ
सम्यक्त्व धर्म नशनाऽऽ जिया रे...(3)...

माया भी जीव का अधर्म भावऽऽऽ आर्जव धर्म न होनाऽऽऽ
मन-वचन-काय में होती कुटिलताऽऽऽ सरल/(सहज) भाव न होनाऽऽऽ
ढोंग-पाखण्ड होनाऽऽऽ जिया रे...(4)...

लोभ भी जीव का अधर्म भावऽऽऽ पावन धर्म न होनाऽऽऽ
तृष्णा असंतोष भाव में होतेऽऽऽ वैराग्य भाव न होनाऽऽऽ
अनात्म में राग होनाऽऽऽ जिया रे...(5)

काम भी जीव का अधर्म भावऽऽऽ अब्रह्म में राग होनाऽऽऽ
अश्लील-कामुक-मैथुन(भाव) होतेऽऽऽ स्व-ब्रह्म में रमण न होनाऽऽऽ
ब्रह्मानंद को न पानाऽऽऽ जिया रे...(6)...

अधर्म त्याग से धर्म भाव जगेऽऽऽ समता-शांति-स्वभावऽऽऽ
चिदानंदमय निज स्व-स्वभावऽऽऽ शुद्ध-बुद्ध आनंद भावऽऽऽ
'कनक' का स्व-शुद्ध भावऽऽऽ जिया रे...(7)

बाह्य निर्माण नहीं, अंतरंग निर्माण/(निर्वाण) मैं करूँ

(चाल : मन रे तू काहे न धीरे धीरे..., मोक्ष पद मिलता धीरे-धीरे..., सायोनारा...)

आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू स्व-निर्माण करऽऽऽ

अनात्म निर्माण(तो) अनंत कियाऽऽऽ अभी स्व-निर्माण करऽऽऽ...(ध्रुव)..
राजा-महाराजा चक्री तक केऽऽऽ बाह्य निर्माण न रहेऽऽऽ
कृत्रिम निर्माण तो अवश्य नशेंगे आत्मा निर्माण/(निर्वाण) अचल रहेऽऽऽ
परिनिर्वाण तू करऽऽऽ जिया रे...(1)

जिस निर्माण से संकल्प होताऽऽऽ तथाहि होता विकल्पऽऽऽ
आरंभ-परिग्रह-संक्लेश होतेऽऽऽ ऐसा निर्माण तू न करऽऽऽ
निराडम्बर-निस्पृह बनऽऽऽ जिया रे...(2)...

सर्व-संकल्प-विकल्प नशने सेऽऽऽ नाश होगा संक्लेश भीऽऽऽ
आरम्भ-परिग्रह-ममत्व नशने सेऽऽऽ भावना होगी निर्मलऽऽऽ
भावना प्रशस्त करऽऽऽ जिया रे...(3)...

पावन भावना से मन स्थिर होताऽऽऽ श्रेष्ठ होता ध्यान-अध्ययनऽऽऽ
धर्म ध्यान परे शुक्ल-ध्यान होताऽऽऽ जिससे मिलता है मोक्षऽऽऽ
मोक्ष की साधना करऽऽऽ जिया रे...(4)...

इसी हेतु शांति-कुंथु-अरहनाथऽऽऽ त्यागे हैं चक्रवर्तीत्वऽऽऽ
षट्खण्ड वैभव बाह्य निर्माण त्यागेऽऽऽ पाये हैं निर्वाण पदऽऽऽ
उनके आदर्श (तू) पालऽऽऽ/कनक स्व-निर्माण करऽऽऽ जिया रे...(5)

आध्यात्म-रहस्यवादी कविता

स्व-उपलब्धि ही सर्व उपलब्धि

(स्व-आत्म सम्बोधन एवं मेरा अंतिम लक्ष्य)

(राग: कसमें-वादे प्यार वफा सब बातें हैं....)

तू ही तेरा परम सत्य है-अन्य सब सहयोग है
तू ही तेरा आदि अंत-मध्य (शाश्वतिक)/(सार्वभौम) शाश्वत सत्य है...(स्थायी)
जब से हैऽऽ ब्रह्माण्ड भी यह...तब से तेरा भी अस्तित्वऽऽ
अनादि अनंतऽऽ शाश्वतिक यह...तेरा भी हैऽऽ सह-अस्तित्वऽऽ
तू ही तेरा परम सत्य...(1)...

तू तो चेतनऽऽ ज्ञानन्दमय...विश्व/(ब्रह्माण्ड) उभय रूप हैऽऽ
तेरे समान हीऽऽ अनंत चेतन...और भी अचेतन रूप हैऽऽ
तू ही तेरा परम सत्य है...(2)...

अणु से लेकरऽऽ निहारिका तक...अनंत अचेतन रूप हैऽऽ
निगोदिया सेऽऽ नित्यानंदमय...अनंत चिन्मय रूप हैऽऽ
तू ही तेरा परम सत्य है...(3)...

तेरा अस्तित्वऽऽ यदि न होता...अन्य से(तेरा) क्या लाभ हैऽऽ
तूझे तू हीऽऽ यदि न पाया/(मिला) तो...ऽऽअन्य लाभ क्या लाभ हैऽऽ
तू ही तेरा परम सत्य है...(4)...

यदि शरीर मेंऽऽ तू न रहा तो...शरीर जड़ का पिण्ड हैऽऽ
जलाओ गाडोऽऽ या फेंक दो...तुझ से नहीं संबंध हैऽऽ

तू ही तेरा परम सत्य है...(5)...

ऐसा ही तेराऽऽ अस्तित्व कारण...विश्व/(ब्रह्माण्ड) अस्तित्ववान हैऽऽ
अन्यथा स्वऽऽ अस्तित्व बिन...तेरे लिए सत्ता शून्य हैऽऽ

तू ही तेरा परम सत्य है...(6)...

तू है ज्ञाताऽऽ ब्रह्माण्ड ज्ञेय...ज्ञाता बिना न ज्ञेय हैऽऽ
ज्ञाता-ज्ञेयऽऽ उभय सम्बन्ध...ज्ञाता से ज्ञेय अनुबन्ध हैऽऽ

तू ही तेरा परम सत्य है...(7)...

यथा दीपऽऽ स्व-पर प्रकाशी...ज्योति से प्रकाशित द्रव्य हैऽऽ
द्रव्य से दीपऽऽ न प्रकाशित है...तथा ही ज्ञान व ज्ञेय हैऽऽ

तू ही तेरा आदि अंत...(8)...

इसीलिये तोऽऽ स्वयं को जानो...ब्रह्माण्ड/(विश्व) बनेगा ज्ञेय हैऽऽ
स्वज्ञान हेतुऽऽ अनंत ज्ञान...जिससे ब्रह्माण्ड ज्ञेय हैऽऽ

तू ही तेरा आदि अंत...(9)...

स्वात्मोपलब्धिऽऽ सर्वोपलब्धि...यह आध्यात्मिक सार हैऽऽ
'कनकनन्दी' काऽऽ सर्वस्व यह...अन्य तो मिथ्या मोह हैऽऽ

तू ही तेरा आदि अंत...(10)...

आध्यात्म आराधना

(मंदिर मूर्ति एवं पूजा की आध्यात्मिक रहस्यवादी कविता)

(रूपक अलंकारमय आध्यात्मिक स्तुति)

(तर्ज: राग-बंगला-उड़िया.....,मराठी कविता सुवर्ण पात्री मंगल आरती.....,मराठी कविता-
तन देवालय मन सिंहासन.....)

तन मेरा मंदिर मन सिंहासन, उसपे भाव कमल^२।

उसी मध्य में विराजमान है, मेरा ही परमेश्वर^२॥१॥

उसकी सेवा पूजा आराधन कर हूँ रजनी दिवा^२।

भेदाभेदमय अहर्निशी चले, परम आराध्य सेवा^२॥ २॥

पर आकर्षण (व) विकर्षण हीन, मेरा ही भाव आह्वान^२।

समता भाव में स्वयं में संस्थित, करूँ मैं सन्निधिकरण²॥3॥

भाव निर्मल जल अर्पण से, कल्मष भाव शोधन²।

शांत शीतल भाव चंदन से, संक्लेश ताप शमन²॥4॥

अक्षत भाव रूपी तन्दुल अर्पण, अक्षय पद सेवन²

सुमन कुसुम करूँ समर्पण, विभाव/(मद) गन्ध शासन²॥5॥

सुरुचि चरु/(नैवेद्य) सुमधुर भाव से, भोग क्षुधा का शमन²

ज्ञान ज्योति रूपी दीप द्वारा, मोहान्धकार दहन²॥6॥

ध्यान धूप से कर्माष्ट्र दहन, स्वदेव करूँ दर्शन²।

अष्ट गुणों के अर्घ के द्वारा, विज्ञान धन सेवन²॥7॥

मनवाक् काय भेद सेवन से, अभेद में भी गमन²

अभेदमय स्वयं में रमण, 'कनक' करे वन्दन²॥8॥

बध्यते मुध्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्। (26) इष्टो.

The soul involved in the delusion of egoity is enmeshed in the bondage of karmas he who is free from delusion of egoity is freed from the bondage of karma: this is the order of things: such being the law, one should try in all possible ways to attain to pure self-contemplation devoid of the delusion of egoity.

“निवृत्ति भावयेद्यायंयवनिवृत्ति तद्भावतः

न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययं। (आत्मानुशासन)

यहाँ पुनः शिष्य प्रश्न करता है, हे गुरुदेव! यदि आध्यात्मयोग से कर्म एवं आत्म का विश्लेषण अर्थात् पृथक्करण होता है तब कर्म एवं आत्मप्रदेश के संश्लेष प्रवेशरूप बंध किस उपाय से होता है ? बंधपूर्वक ही मोक्ष होता है अर्थात् बंध के प्रतिपक्षी मोक्ष है इसलिये बंध के विरोध रूप जो संपूर्ण कर्म विश्लेष रूप मोक्ष है जो कि जीव के अनंत सुख के लिये कारणभूत है जिसके लिये योगीजन भी प्रार्थना करते हैं उसका कारण बताये ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं-

ममत्व परिणाम के कारण यह जीव कर्मों को बाँधता है अर्थात् स्व आत्मा

को छोड़कर अन्य बाह्य चेतन-अचेतन, मिश्र रूप पर द्रव्य में जो यह मेरा है, ऐसा रागरूप ममत्व अभिनिवेश है उसके कारण जीव कर्म को बाँधता है। समयसार कलश में कहा भी है-

कार्माण वर्गणाओं से भरा हुआ यह विश्व बंध के लिए कारण नहीं है और न चलन रूप कर्म कारण है, न इन्द्रियाँ कारण है, न चेतन-अचेतनात्मक पदार्थ कारण है परन्तु जो जीव का रागादि के साथ सम्बन्ध है वही निश्चय से बंध का कारण है।

इसी प्रकार ममत्व परिणाम से विपरीत निर्ममत्व परिणाम से यह जीव कर्म से मुक्त हो जाता है ऐसा क्रम यथा योग्य संयोग कर लेना चाहिये। ज्ञानार्णव में कहा भी है-

“मैं समस्त पर संयोग से रहित अकिंचन्य स्वरूप हूँ” इस भाव से और तद्रूप परिणामन से जीव तीन लोक के अधिपति बन जाता है। यह रहस्य केवल योगीगम्य है जो कि तुम्हें बताया गया है अर्थात् अकिंचन्यरूप निर्मल/पवित्र भाव बिना कोई भी जीव उस ईश्वरत्व भाव को प्राप्त कर नहीं पाता है अथवा रागी कर्म को बांधता है, वीतरागी विमुक्त हो जाता है। यह बंध मोक्ष का संक्षिप्त कथन जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ है। इसीलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से मन-वचन-काय प्रणिधान पूर्वक निर्ममत्व भाव का चिंतन करना चाहिये।” मैं इस जड़तात्मक शरीर से भिन्न निर्मल ज्योतिस्वरूप हूँ। ऐसा चिंतवन श्रुत ज्ञान भावना के बल पर मुमुक्षु जन को विशेषरूप से भाना चाहिये। कहा भी है-

तब तक निवृत्ति की भावना भानी चाहिये जब तक निवृत्ति सम्भव है। जहाँ पर न निवृत्ति है नहीं प्रवृत्ति है वही अव्यय अविनाशी परम पद है।

समीक्षा :-

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।

एसो बंध समासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।। (179)

समीक्षा-आचार्यश्री ने इस गाथा में बंध एवं मोक्ष का संक्षिप्त एवं सारगर्भित कारण को बतलाया है। आसक्ति युक्त जीव बंध को प्राप्त करता है और निरासक्ति युक्त जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। केवल चारित्र मोहजनित राग ही बंध के लिए

कारण नहीं है परन्तु समस्त वैभाविक भाव बंध के लिए कारण है। तथापि राग कर्म को बाँधता है ऐसा जो आध्यात्मिक शास्त्र में वर्णन पाया जाता है, उसका कारण यह है कि साम्प्रायिक आस्रव के लिए जो कारण हैं उसमें राग बंध में अन्तिम कारण है। सूक्ष्म साम्प्राय (10 वे गुणस्थान) के अन्तिम समय तक सूक्ष्म लोभ कषाय के कारण बंध होता है और लोभ राग है इसलिये अंतदीपक की अपेक्षा राग को बंध के लिए कारण कहा गया है परन्तु इसके पहले-पहले के प्रत्यय है मित्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा संज्वलन, क्रोध, मान, माया कषाय भी कर्मबंध के लिए कारण है। इसलिये राग कहने से पहले-पहले के समस्त कारण उसमें गर्भित हो जाते हैं। जीव रागरहित 10 वें गुणस्थान के अंत में हो जाते हैं। उसके बाद भी योग के कारण आस्रव एवं बंध होता है तथापि वह आस्रव एवं बंध संसार के लिये कारण नहीं है। इसलिये कहा गया है कि वीतरागी जीव कर्म से छूट जाता है तथा सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर वीतरागी छद्मस्थ, (11 वें गुणस्थान), क्षीणकषाय (12 वें गुणस्थान) वीतराग सर्वज्ञ (13 वें गुणस्थान) वाला जीव भी यथा-योग्य आस्रव एवं बंध को करता है परन्तु यह बंध अनन्त संसार का कारण नहीं है इसलिये इसको बंधरूप में स्वीकार नहीं किया। राग को बंध के लिये कारण इसलिये कहा है कि जहाँ राग होगा वहाँ द्वेष अवश्य ही होगा, क्योंकि द्वेष का 9वें गुणस्थान के अन्त में अभाव हो जाता है और 10वें गुणस्थान में लोभ (राग) का अभाव होता है। यह भी कारण है कि राग के कारण ही द्वेष उत्पन्न होता है। यदि किसी वस्तु के प्रति राग नहीं है तो द्वेष भी उत्पन्न नहीं होगा। इसलिये जहाँ राग है वहाँ द्वेष होगा और रागद्वेष दोनों मिलकर के कर्मबंध के लिए कारण बनते हैं। ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है-

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रास्ति निश्चयः

उभावेतौ समालम्बविक्रमत्यधिकं मनः॥(25)

जहाँ राग अपने पैर को रखता है वहाँ द्वेष भी निश्चय से विद्यमान रहता है। राग और द्वेष मिलकर के मन को अधिक विक्रम बलशाली बना देते हैं जिससे कर्म बंध होता है।

क्रोध, शोक, मान, अरति, भय, जुगुप्सा ये 6 प्रकार भाव द्वेष रूप माने गये

हैं और माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन सात प्रकार के भावों को राग रूप माना गया है। यानि राग और द्वेष में समस्त विकारी भावों का समावेश किया जाता है, इनसे ही कर्मबन्ध होकर संसार में भ्रमण होता है।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेषु मा रज्ज्।। (150) समयसार

जो रागी है, वह अवश्य कर्मों को बांधता ही है और जो विरक्त है, वही कर्मों से छूटता है, ऐसा यह आगम का वचन है। वह सामान्यतः राग के निमित्त से कर्म शुभ अशुभ ये दोनों हैं। उनको अविशेषकर बंध का कारण साधा है इसलिये उन दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं।

भावो रागदिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।

रायादि विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि।। (167)

इस आत्मा में निश्चय से जो राग द्वेष मोह के मिलाप से उत्पन्न हुआ भाव है वह अज्ञानमय ही है। जिसे चुंबक पत्थर के संबंध से उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को चलाता है, उसी प्रकार वह अज्ञान भाव आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरणा करता है तथा उन रागादि कों के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुआ जो भाव है, वह ज्ञानमय है। जैसे चुंबक, पाषाण के संसर्ग बिना सुई का स्वभाव चलने रूप नहीं है उसी प्रकार आत्मा को कर्म करने में अनुत्साह रूप स्वभाव से स्थापित करता है इसलिये रागादिको से मिला हुआ अज्ञानमय भाव कर्म के कर्तव्य में प्रेरक है इस कारण नवीन बंध का करने वाला है तथा रागादिक से न मिला हुआ भाव ही अपने स्वभाव का प्रगट करने वाला है। वह केवल जानने वाला ही है, वह नवीन कर्म का किंचिन्मात्र भी बंध करने वाला नहीं है।

अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीत-मोहतः।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा।। (98)

‘मोह-सहित’ अज्ञान से बंध होता है-जो अज्ञान मोहनीय-कर्म प्रकृति लक्षण से युक्त है वह स्थिति अनुभागरूप स्वफलदान-समर्थ कर्मबंध का कर्ता है। जो अज्ञान मोह से रहित है वह (उक्त फलदान समर्थ) कर्म-बंध का कर्ता नहीं है और जो अल्पज्ञान मोह से रहित है उससे मोक्ष होता है, परंतु मोह सहित

अल्पज्ञान से कर्मबंध ही होता है।

पहले स्त्री, पुत्र, पति, धन, शरीरादि के प्रति जो अशुभ राग है उसे त्याग करके देव, शास्त्र, गुरु, धर्म, व्रत, संयम प्रति प्रशस्त शुभराग करना चाहिये, साधना के बल पर संपूर्ण विषमताओं को त्याग करते-करते शुभराग को भी त्याग करके परम समरसी भाव में स्थिर होना चाहिये जिससे, समस्त शुभाशुभ भाव के अभाव से पाप पुण्य से भी जीव मुक्त हो जाता है।

पंचास्तिकाय में कहा भी है :-

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।

सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि।(172)

क्योंकि इस शास्त्र में मोक्षमार्ग व्याख्यान के संबंध में मोक्ष का मार्ग उपाधि रहित चैतन्य के प्रकाशरूप वीतराग भाव को दिखलाया है। इसलिये केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रगटरूप कार्य समयसार से कहने योग्य मोक्ष को चाहने वाल भव्यजीव अरहंत आदि में भी स्वानुभवरूप रागभाव न करे- इस राग रहित चैतन्य ज्योतिर्मई भाव से वीतरागी होकर वह प्राणी संसार सागर को पार करके अनंतज्ञानादि गुणरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यह संसार सागर अजर अमर पद से विपरीत है, जन्म, जरा, मरण आदि रूप नाना प्रकार जलचर जीवों से भरा हुआ है, वीतराग परमानन्दमई एक सुख-रस के आस्वाद को रोकने वाले नरकादि दुःखरूप खारे जल से पूर्ण है, रागादि विकल्पों के विषयों की इच्छा को आदि लेकर सर्व शुभ-अशुभ विकल्पजालरूप तरंगों की माला से भरपूर है, वह जिसके भीतर आकुलता रहित परमार्थ सुख से विपरीत आकुलता के पैदा करने वाली नाना प्रकार मानसिक दुःख रूप वडवानल की शिखा जल रही है।

इस तरह पहले कहे प्रकार से इस प्राभृत शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता को ही जानना चाहिये। वह वीतरागता निश्चय तथा व्यवहारनय से साध्य व साधकरूप से परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से ही होती है-बिना अपेक्षा के एकान्त से मुक्ति की सिद्धी नहीं हो सकती है। जिसका भाव यह है कि जो कोई विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमय शुद्ध आत्मतत्त्व का भले प्रकार श्रद्धान ज्ञान व चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग की अपेक्षा बिना केवल शुभ चारित्र रूप व्यवहार नय को ही मोक्षमार्ग मान बैठते है वे इस भाव से मात्र देव लोक आदि के क्लेश को भोगते हुए परम्परा से

इस संसार में भ्रमण करते हैं परंतु जो ऐसा मानते हैं कि शुद्धात्मानुभूतिरूप मोक्षमार्ग है तथा जब उनमें निश्चय मोक्षमार्ग के आचरण की शक्ति नहीं होती है तब निश्चय के साधक शुभ चारित्र को पालते हैं तब वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं फिर वे परम्परा से मोक्ष को पाते हैं। इस तरह व्यवहार के एकांत पक्ष को खण्डन करने की मुख्यता से दो वाक्य कहे गये तथा एकांत से निश्चयनय का आलम्बन लेते हुए रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि रूप शुद्धात्मा का लाभ न पाते हुए भी तपस्वी के आचरण के योग्य सामायिकादि छः आवश्यक क्रिया के पालन का श्रावक के आचरण तथा व्यवहार दोनों मार्गों से भ्रष्ट होते हुए निश्चय तथा व्यवहार आचरण के योग्य अवस्था से जो भिन्न कोई अवस्था उसको न जानते हुए पाप को ही बांधते हैं तथा जो शुद्धात्मा अनुभव रूप निश्चय मोक्षमार्ग की तथा उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को मानते हैं परंतु चारित्र मोह के उदय से शक्ति न होने पर यद्यपि शुभ व अशुभ चारित्र से रहित शुद्धात्मा की भावना की अपेक्षा सहित शुद्ध चारित्र को पालने वालें पुरुषों के समान नहीं होते हैं तथापि सराग सम्यक्त्व को आदि लेकर दान पूजा आदि व्यवहार में रत ऐसे सम्यग्दृष्टि होते हैं वे परम्परा से मोक्ष को पा लेते हैं। इस तरह निश्चय के एकांत को खंडन करते हुये दो वाक्य कहे हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि निश्चय तथा व्यवहार परस्पर साध्य साधकरूप से मानने योग्य हैं। इसी के द्वारा रागादि विकल्प रहित परम समाधि के बल से मोक्ष को ज्ञानी जीव पाते हैं।

महात्मा बुद्ध ने कहा भी है-

सिञ्च भिक्खु! इमं नावूं सिताते लहुमेस्सति।

छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानमेहिसि।। (10)

भिक्खु! इस नाव को उलीचने पर यह तुम्हारे लिये हल्की हो जायेगी। राग और द्वेष को छिन्न(क्षीणकर) फिर तुम निर्वाण को प्राप्त होंगे।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणां।। (36)

मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कुट-शाल्मलि वृक्ष है, काम-दुग्ध धेनु है और नंदनवन है।'

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्या मित्तमामित्त च, दुष्पट्टिय-सुपट्टियो।। (37)

“आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता-भोक्ता है। सत्-प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।”

एगप्पा आजिए सत्तु कलाया इन्दियाणि य।

ते जिनित्तु जघनायां, विहरामि अहं मुनि।। (38)

“मुने! न जीता हुआ एक अपना आत्म ही शत्रु है। कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रु है। उन्हें जीतकर नीति के अनुसार मैं विचरण करता हूँ।”

क्रोध, मान, माया और लोभ-ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

क्रोध य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवडुमाणा।

चत्तारि ए ए कासिणा कसाया, सिंचति मूलाइं पुण भवस्स।।

अनिगृहित क्रोध और मान प्रवर्द्धमान माया और लोभ-ये चारों संकिल्ष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो।

माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो।।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोइं, माणं मछवया जिणे।

माणं चाज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे।

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजु भाव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

कभी जीव मंद मिथ्यात्व के उदय से देखे, सुने अनुभव किये हुए भोगों की इच्छा रूप निदान बंध से परंपरा से पाप को लाने वाले पुण्य पदार्थ का भी कर्ता हो जाता है। किन्तु जो ज्ञानी जीव है वह विकार रहित आत्म तत्त्व में रूचिरूप तथा उसके ज्ञानरूप और उसी में निश्चय अनुभव रूप ऐसा रत्नत्रय मयी भाव के द्वारा

संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थों का कर्ता भी होता है और जब पूर्व में कहे हुए अभेद या निश्चय रत्नत्रय में ठहरने को असमर्थ होता है तब निर्दोष परमात्म स्वरूप अर्हत व सिद्ध तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु इनकी पूर्ण व विशेष भक्ति करता है जिससे वह संसार के नाश के कारण व परंपरा से मुक्ति के कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष पुण्य प्रकृतियों के बिना इच्छा के व निदान के परिणाम को बांध लेता है। इन प्रकृतियों का बंध भविष्य में भी पुण्य बंध का कारण है इस तरह वह पुण्य पदार्थ का कर्ता होता है इस तरह से अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव व बंध इन चार पदार्थों का कर्ता है तथा ज्ञानी जीव संवर, निर्जरा व मोक्ष इन तीन पदार्थों का मुख्यपने से कर्ता है ऐसा भाव है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में कर्मबन्ध के कारण बताते हुए कहा भी है-

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।

पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिडंओव्व जलं।। (3)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होने वाली कर्म वर्गणाओं, तथा औदारिक आदि चार शरीर(1. औदारिक 2. वैक्रियिक, 3. आहारक, 4. तेजस) रूप होने वाली नो कर्मवर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ संबद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि पौद्गलिक प्राण भी मोहादि से युक्त मोही जीवों के लिए कर्म बंध के कारण बनते हैं। इसके साथ साथ यह प्राण पुद्गल सिद्ध होता है क्योंकि बिना पौद्गलिक अमूर्तिक प्राण कमबंध के लिए कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि मूर्तिक कर्म को बांधने के लिए मूर्तिक द्रव्य ही समर्थ हो सकता है। जैसे गाय को बांधने के लिये रस्सी कारण बन सकती है न कि आकाश। अमृतचंद्र सूरि ने इस गाथा की टीका करते हुए कहा है कि- (1) क्योंकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और क्योंकि (2) प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मों से बंधता है, इसलिये (3) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से और (4) पौद्गलिक

कर्म के करण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं।

मोहादि भाव से प्राणी कर्म बांधत है-

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदिजीवाणं।

जदि सो हवदि हि बंधो गाणावरणादिकम्मेहिं।। (149) प्र.सार.

if the jiva, through delusion and hatred, causes harm to the life essentials of living beings, this results into the bondage of Karmas such as knowledge-obscuring.

(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेष के कारण (जीवाणं पाणाबंध) अपने और पर जीवों के प्राणों को बाधा (कुणदि) पहुँचता है तब (हि) निश्चय से इसके (सो बंधो) वह बन्ध (गाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से (हवदि) होता है। जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपक से मोह के अधंकार को विनाश करने वाला परमात्मा से विपरीत मोहभाव और द्वेष भाव से परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणों को घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवों के भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणों को पीड़े पहुँचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष से विपरीत है तथा मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंध के कारण होते हैं। यहाँ यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरे को मारने की इच्छा से गर्म लोहे के पिंड को उठाता हुआ पहले अपने को ही कष्ट दे लेता है फिर अन्य का घात हो सके कोई नियम नहीं है तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहे के स्थान में मोहादि परिणामों से परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राण को घातता है उसके पीछे दूसरे के प्राणों का घात हो या न हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

समीक्षा- इस गाथा में आचार्य श्री ने बताया है कि मोह-द्वेष आदि वैभाविक भावों में दूसरों की भी हिंसा करता है जिससे ज्ञानावरणादि कर्मों को बांधता है। मोहादि भाव होना भाव हिंसा तथा भावास्रव और भावबन्ध है। इससे ही द्रव्यास्रव होता है।

स्वामी कार्तिकेय ने कहा भी है :-

मोहविवाग - वसादो जे परिणामा हवन्ति जीवस्स।

ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणोय विहा।। 44

मोहनीय कर्म के उदय से जीव के जो अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि परिणाम होते हैं, उन्हें आश्रव जानो।

आस्रवपूर्वक ही बन्ध होता है। बन्ध के पाँच कारण हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें से योग के सिवाय शेष कारण मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। और मोहनीय कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्मों की बन्धव्युच्छिति हो जाने से ग्याहरवें आदि गुणस्थानों में योग के द्वारा केवल एकसातावेदनीय का ही बन्ध होता है। शेष 119 प्रकृतियाँ मोहनीय कर्मजन्य भावों के कारण बन्धती है। अतः यद्यपि आस्रव का कारण योग है तथा प्रधान होने के कारण योग के साथ रहने वाले मोहनीय कर्म के मिथ्यात्व आदि परिणामों को भी आस्रव कहा है।

कुन्दकुन्द देव ने समयसार में शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में कहा है -

अज्झवसाण णिमित्त जीवा बण्झन्ति कम्मणा जदि हि।

मुच्चन्ति मोक्खमग्गे ठिदा यते किं करोसि तुमं।। (280)

जब कोई भी जीव अपने अपने अध्यवसान के निमित्त से कर्म के बंध को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित होने पर कर्म से छूटते हैं (अन्यथा नहीं ऐसा नियम है) तब तेरा विचार क्या काम आया ?

जब कि सब ही संसारी जीव अपने में होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अध्यवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बन्ध से जकड़ लिये जाते हैं ऐसा ही नियम है शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन होकर मुक्त हो सकते हैं तब हे दुरात्मन्! तू वहाँ क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं अपितु तेरा विचार ही व्यर्थ ठहरता है।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।

देवमुणये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।। (286)

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।। (287)

यह जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यच, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव द्रव्य को एवं लोक, अलोक को इन सबको अपना लेता है, अपने कर लेता है।

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।

एकट्टमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।। (290)

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं।

बोधनं अर्थात् जाननामात्र सो बुद्धि व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूप में व्यवसाय सो व्यवसाय अध्यवसान अर्थात् समझ लेना तो अध्यवसाय; मननं अर्थात् मान लेना स्वीकार करना सो मतिः, विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान; चिन्तनं अर्थात् स्मरण करना वह चित्तः भवनं अर्थात् चेतना का होना सो भाव; परिणमनं अर्थात् चेतना का रूपान्तर में होना सो परिणाम। इस प्रकार यहाँ शब्द भेद तो है किन्तु अर्थभेद नहीं है। यदि समभिरूढ नय से देखें तो इन सबका अर्थ अध्यवसान ही होता है। जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज अर्थ होता है।

रायमिह य दोसमिहय कषाय कम्मेषु चेव जे भावा।

तेहिं दु परिणममाणो रायाई बंधदि पुणेवि।। (304)

रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामों के रूप में परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागदिरूप कर्मों को बान्धने लग जाता है।

रागद्वेषादि कषायरूप द्रव्यकर्म के उदय आने पर अपने सहजभाव से डिगे हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि परिणाम अर्थात् विकारी भाव होते हैं, उनसे मैं रागादि रूप हूँ इस प्रकार के अभेद को लिए हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् रागद्वेषरूप होता हुआ वह फिर से भावि रागादिरूप परिणामों के उत्पादक द्रव्यकर्मों का बन्ध करने लग जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव उन रागादिको का कर्ता बनता है।

रायम्हिय दोसम्हिय कसायकम्मेसु चव जे भावा।

ते मम तु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।। (305)

रागद्वेषादि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर ये सब मेरे हैं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बन्ध करता है।

इससे पहले गाथा में तो मैं स्वयं रागदिरूप हूँ इस प्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि के उत्पन्न वाले उन नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है ऐसा बता आए हैं, किंतु इस गाथा में यह बता रहे हैं कि शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव 'यह राग भाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ सम्बन्ध करता है इतनी विशेषता है। हां यहां पर यह बात जान लेनी है कि जहाँ पर रागद्वेष और मोह ये तीनों शब्द एक साथ आवें वहाँ पर मोह शब्द से दर्शनमोह जो कि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिये और रागद्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने वाले चारित्र मोह को समझना चाहिए। यहाँ शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादि जनक दर्शन मोह लिया जाय यह ठीक है इसमें दोष नहीं है किन्तु रागद्वेष शब्द से चारित्र मोह कैसे लिया ? इसका उत्तर यह है कि कषाय वेदनीय नामवाले चारित्र मोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष अंग है और माया और लोभ ये दोनों राग जनक होने से रागरूप हैं। इसी प्रकार नो कषायवेदनीय नामक चारित्र मोह में स्त्री वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति ये पाँच तो कषाय रागोत्पादक होने से राग में आ गई शेष अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारों नो कषाये द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष में आई। इस प्रकार मोह शब्द से दर्शन मोह मिथ्यात्व और राग-द्वेष शब्द से चारित्र मोह ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए। इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण रागादि भाव है और रागादि भावों का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरी ने आध्यात्म अमृतकलश में कमबन्ध के आध्यात्मिक पक्ष का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

न कर्मबहुलं जगत् न चलनात्मकं कर्म वा।

न नैक करणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।

यदैक्यमुपयोभूः समुपपाति रागादिभिः

स एव किल केवलं भवति बन्धेहेतुर्नृणाम्। (164)

जगत में कर्म की वर्गणाएँ भरी हैं अतः वे बंध कराती हैं ऐसा नहीं है। जीव के हलन, चलन करने वाले मन-वचन-काय के कर्म अर्थात् क्रियाएँ भी बन्ध नहीं कराती। नाना प्रकार के बाह्य साधन (इन्द्रियां) भी जीव को बन्ध नहीं कराते सचेतन पदार्थों का घात भी बन्ध नहीं कराता। किन्तु जीव के ज्ञानोपयोग की भूमि जब रागादि विकारी भावों के साथ एकता करती है तब यही एकमात्र अवस्था प्राणियों के लिए बन्ध का कारण होती है।

मिथ्यादृष्टः स एवास्य बंध हेतुर्विपर्ययात्।

य एवाध्यवसायो ऽयमज्ञानत्माऽस्य दृश्यते। (170)

इस मिथ्यादृष्टि के यह मिथ्या अध्यवसान ही विपरीत रूप मिथ्यारूप परिणाम होने से बन्ध का कारण यह जो इसका अध्यवसान है वह अज्ञान स्वरूप ही है।

प्रश्न- पिछले प्रश्न के समाधान में आपने कहा था कि सम्यग्दृष्टि भी शुभ-अशुभ रूप अध्यवसानों से अपने-पुण्य-पाप बांधता है। यहाँ कह रहे हैं कि अध्यवसान सम्यग्दृष्टि के नहीं होता ऐसा कथन विरुद्ध प्रतीत होता है ?

समाधान- अध्यवसान शब्द का अर्थ इस प्रकार है। इसके लिए निम्न शब्द आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिपादित किये हैं-

बुद्धि व्यवसाय-अध्यवसान-मति-विज्ञान-चित्त-भाव-परिणाम ये सब शब्द एकार्थक हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि अध्यवसान का सामान्य अर्थ तो जीव के परिणाम ही है जो रागादि युक्त है तथापि इस प्रकरण में मोह युक्त परिणाम को ही मिथ्या अध्यवसान कहा है। उसे ही बन्ध का कारण कहा है।

प्रश्न- बन्ध तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है ऐसा शास्त्रों में कहा है। पिछले समाधानों में भी कहा गया है तो क्या वह अध्यवसान भाव नहीं है ?

उत्तर- सम्यग्दृष्टि का अध्यवसान मोह रहित होने से इस प्रकरण में “अध्यवसान” नाम नहीं पाता। मिथ्या अध्यवसान को यहाँ अध्यवसान व बन्ध

का कारण कहा है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्या अध्यवसान के अभाव में “अबन्धक” ही कहा है।

उसे पिछले समाधानों में व अन्यत्र शास्त्रों में शुभाशुभ पुण्य-पाप रूप बन्ध करना लिखा है वह अल्पबन्ध अपेक्षणीय है। वह अनन्त संसार का कारण नहीं है। अतः उस बन्ध को बन्ध नहीं माना इसी से चतुर्थादि गुणस्थानों में शुभाशुभ रूप प्रवृत्ति होने तथा अल्पस्थिति, अनुभाग रूप बन्ध होने पर भी अबन्धक ही कहा है। मिथ्यादृष्टि को ही एकमात्र बन्धक कहा है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के प्रभाव से वही अनन्तसंसार के कारण भूत कर्मों का अतिस्थिति रूप, अनुभाग रूप बन्ध करता है।

सारांश यह है ग्रंथ में जो प्रकरण चला है वह मिथ्याध्यवसान को ही “अध्यवसान” मानकर चला है। अतः यहां अध्यवसान शब्द का अर्थ मिथ्यात्व सहित परिणाम ही जानना चाहिए। (पं. जगमोहन लाल, शास्त्री प्रन्वेदा कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।

तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति तत्॥ (171)

इस प्रकार के मिथ्याध्यवसाय से व्यर्थ विमोहित (आत्मा) प्राणी आत्मा को अर्थात् अपने को जिस अधोअवस्था में नहीं पहुँचाता ऐसी अवस्था कोई नहीं है।

विश्वाद् विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावात्।

आत्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।

मौहेककन्दोऽध्यवसायएषः।

नांस्तीह येषां यतयस्त एव। (172)

यह जीव संसार के सम्पूर्ण द्रव्यों से भिन्न है तथापि अपने को विश्व के स्वरूप से एकाकार अभिन्नरूप जानता है अर्थात् मानता है यह उसका अध्यवसाय मोहमूलक है अर्थात् इस प्रकार के अध्यवसाय की जड़ मोहकन्द ही है, जिन प्राणियों को यह नहीं है वे ही यति श्रेष्ठ हैं।

मिथ्यात्व के उदय से जो पर के साथ एकाकार की बुद्धि है, वह मोह परम्परा की जड़ है। उससे अनन्तकाल तक प्राणी पर में मोहित हो भटकता रहेगा।

सर्वत्राध्यवसानमेवमिखलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः।

तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यान्याश्रयस्तयाजितः।

सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किम्,

शुद्धज्ञानधने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिमा। (173)

भगवान् जिनेन्द्र ने पद-पद पर ग्रन्थों में अध्यवसान ही त्याग करने योग्य है ऐसा जो कहा है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि सम्पूर्ण व्यवहार ही छोड़ाया है जो कि अन्य के आश्रय से होता है, निजाश्रय से नहीं होता। जबकि जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है तो ग्रन्थकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि सज्जन पुरुष शुद्ध ज्ञान से घनस्वरूप अर्थात् ठोस अपनी महिमा में ही धैर्य क्यों नहीं बांधते।

भगवान् जिनेन्द्र का उपदेश आचार्यों ने प्रत्येक जैन ग्रन्थों में निबद्ध किया है। प्रत्येक उपदेश का तात्पर्य इतना ही है कि स्वाश्रय करो, पराश्रय छोड़ो। जितना संसार का व्यवहार है वह चाहे मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो, पराश्रय से होता है। पराश्रय के त्याग का उपदेश ही परमार्थ का उपदेश है।

न जातु रागादि निमित्त भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।

तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ (175)

यह शुद्ध चैतन्य मूर्तिस्वरूप आत्मा स्वयं के रागादिपरिणमन में निमित्त अर्थात् कारणरूप नहीं है। किन्तु आत्मा में रागादि उत्पन्न होने का निमित्त कारण पर द्रव्य का सम्बन्ध ही है, वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि वह निमित्तरूप परसंग में ही नैमित्तिक भाव को प्राप्त होता है। उदाहरण देकर समझाते हैं जैसे सूर्यकान्तमणि स्वयं पार्थिव है, वह ज्वालारूप परिणत स्वयं नहीं होता, किन्तु सूर्य के निमित्त को पाकर परिणमता है।

पर वस्त्र-पर महिला-प्रमादकृत दोषों का प्रायश्चित्त

गाथा- परवत्थं पर महिला पमादजोगेण अज्जियं पावं।

अण्णावि अकरणीया मिच्छा मे दुक्कडंहुज्ज॥ (34) कल्याणा.

पद्य- परवस्त्र परमहिला में प्रमादयोग से जो किया पाप।

अन्य भी अकरणीय को किया वे हो मेरे दुष्कृत पाप॥

एकमेव परमशरण सूत्र-I

परम एकमेवशरण शुद्ध परमात्मा

एगो सहावसिद्धो सोहं अप्पा वियप्परिमुक्को।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (35) (कल्याणा.)

पद्य :- जो आत्मा एक है स्वभाव-सिद्ध सो आत्मा विकल्पपरिमुक्त।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

समीक्षा-

कर्म जनीत स्व-शरीर से ले माता-पितादि संसार के सभी प्राणी।

सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि-डिग्री-मंत्र-यंत्र-तंत्र आदि।

कोई नहीं है परम शरण किन्तु चत्तरिशरण है व्यवहारशरण।

निश्चनय से स्व-शुद्धात्मा ही परम शरण जिससे मिले निर्वाण।।

निर्वाण में तो प्रगट होते स्व-अनन्त ज्ञान-दर्शन व सुख वीर्य।

अव्याबाधत्व आदि आत्मिक अनन्त गुण अतः स्व-शुद्धात्मा ही परम शरण।।

नव कोटि से स्वात्म भावना ही सर्वोत्तम

(राग : तुम दिल की धड़कन...)

उत्तमा स्वात्माचिन्तास्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।

अधमा कामचिन्तास्यात् परचिन्ताऽधमाधमा।। (परमानंद स्तोत्र)

हिन्दी- उत्तम स्वात्म चिन्ता है, मोह चिन्ता है मध्यमा।

अधमा काम चिन्ता है, पर चिन्ता अधमा-अधमा।

अविद्याभिदुरं ज्योति, परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।। (49) इष्टोपदेश

हिन्दी-अज्ञान नाशक ज्ञान प्रकाशक, आत्म ज्योति है अति महान्।

उसके लिए ही करो जिज्ञासा, उसे ही चाहो उसे ही पाओ।।

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत्।। इ.उ.

उसे ही बोलो उसे ही पूछो, उसे ही चाहो उसे ही पाओ/(वैसे ही बनो)।

जिससे अज्ञान रूप को त्यागकर, विद्यामय रूप पाओ/(विद्यामय रूप बनो)।।

समीक्षा- आत्मचिन्ता है सबसे उत्तम, जिससे मोह का होता विनाश।

जिससे होता है आत्मविश्वास, ज्ञान चारित्र का भी होता विकास।।

इसे ही कहते हैं रत्नत्रय जो, मोक्ष के कारण महान्।

आत्मज्ञान व आत्मध्यान के माध्यम से मानव बनो है भगवान्।।

मोहचिन्ता को मध्यम कहा, मोह जानकर उसका त्याग।

बिन जानते दोष गुणन को, कैसे ग्रहण व कैसे हो त्याग।।

अधम कामचिन्ता है जिससे, आसक्ति की होती है वृद्धि।

तृष्णा उत्पादक व बंधकारक, संसार चक्र की होती है (है) वृद्धि।।

परचिन्ता है अधमा-अधमा, पर हेतु जो रागद्वेष करे।

पर निन्दा अपमान करे व ईर्ष्या घृणा व मोह करे।।

इससे होते हैं वाद-विवाद, कलह विसंवाद युद्ध हत्या।

होते हैं अनेक अनर्थ काम, अतएव पर चिन्ता अधमाधमा।।

परन्तु अज्ञानी मोही जीव, करते हैं विपरीत भाव व काम।

आत्मचिन्ता तो नहीं करते, शेष तीनों चिन्ता के करते काम।।

अष्टमद सप्त व्यसन सेवते, करते क्रोध लोभ माया/(भोग)।

आत्म चिन्तक को गलत मानकर, बांधते पाप घोरतम्।।

गुण-गुणी-निन्दक होते महापापी, बांधते, वे घोर घाति कर्म।

जिससे संसार में मिले नाना दुःख, अतएव अकरणीय पाप कर्म।।

गुण-गुणी प्रशंसा व अनुमोदना से, होता है पाप कर्म क्षीण।

अतएव आत्मगुण-गुणी प्रशंसा, करने हेतु 'कनक' करे सदा नमन।।

मेरा परिचय

(राग : छोटी-छोटी गैया...)

सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि डिग्री, यह नहीं है मेरा स्व-परिचय।

नाम-ग्राम-जन्म-मरण तिथि, शत्रु-मित्र या कुटुम्ब-परिवार।। (1)

तन-मन-इन्द्रिय न मेरा परिचय, नहीं देश-भाषा राजनीति आदि।

यह सब तो अशुद्ध भौतिकमय, इसी से परे है मेरी स्थिति।। (2)

मैं हूँ सच्चिदानंदमय अमूर्तिक, स्वयंभू-स्वयंपूर्ण शाश्वतिक।

अव्यय अविनाशी अविभागी, नित्य-नूतन व नित्य-पुरातन।। (3)

अतः सत्ता-सम्पत्ति आदि न मेरा रूप, यह तो भौतिकमय पर रूप।

नाम ग्राम आदि सब काल्पनिक, लोक-व्यवहारमय अशुद्ध रूप।। (4)

तन-मन-इन्द्रिय भी है कर्मजन्य, कर्म भी है सब भौतिकमय।

शत्रु- मित्रादि भी सभी कर्मजान्य मेरा शुद्ध रूप है अकर्मजन्य।।(5)

आकाश में दृश्यमान विभिन्न रंग-रूप, आकाश के नहीं होते वे भौतिक रूप।

तथाहि व्यवहार के सभी परिचय, मेरा परिचय नहीं है सभी जड़मय।।(6)

मुनीनां अलौकिक वृत्तिः भवन्ति, लौकिक व्यवहार से परे प्रवृत्ति।

कर्मसह मुनिदशा सहितोऽपि, श्रद्धा-प्रज्ञा में स्वभाव की प्रवृत्ति।। (7)

उक्तंच - सर्वं विवक्तोत्तीर्णं, यदा स चैतन्यमचलमाप्रोतः।

भवति तदा कृतकृत्य, सम्यक् पुरुषार्थ-सिद्धिमापन्नः।। (11) (पुरु. सि)

हिन्दी-समस्त विभावों को पारकर जब, अचल चैतन्य को प्राप्त करे।

तब होता है जीव कृतकृत्यमय, सही पुरुषार्थ को प्राप्त कर।।

श्लोक-नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरूपघातः।

गगनमिव परम पुरुषःपरम-पदे स्फुरति विशदतमः।। (223 पुरु. सि.)

हिन्दी- निरूपलेप होकर अब जीव, स्वरूप में स्थित होता है बिना घात।

आकाश के सम वह परम-पुरुष, परम पद में होता। विशद प्रकाशित।।

श्लोक-कृत्यकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल-विषय विरतात्मा।

परमानंद-निमग्नो, ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। (224 पुरु. सि.)

हिन्दी- सकल विषय से विरक्त परमात्मा, कृतकृत्य (हो) स्थित होता परमपदमें।

परमानंद में ही निमग्न होकर, ज्ञानानंद में ही रमन्ते सदैव।।

ऐसा ही श्रद्धान व ज्ञान से सम्पन्न, मैं हूँ अनंत-गुणों के धाम।

व्यवहार से हूँ मैं 'आचार्य कनक'/(कनकनन्दी), आचार्य कुंथुसागर गुरु

है मम।।

स्व-उपकार की विधि

(राग : तुम दिल की धड़कन...)

श्लोक- परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।

उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्॥ (32 इष्टोपदेश)

हिन्दी-देहादि पर उपकार त्यजकर, स्व-उपकारी भव आत्मन्।

यथा संकीर्ण स्वार्थी जन स्व-उपकार में ही होते लीन॥

रहस्य-स्व-शुद्धात्मा से परे देहादिक, परद्रव्य होते आत्मन्।

स्व आत्मा का उपकार करो, राग-द्वेष-मोह से हो भिन्न॥ (1)

अनादि काल से अनंत भवों में, अनंत शरीर को धारण किया।

उन शरीरों को स्वरूप मानकर, उनका भरण-पोषण किया॥ (2)

उन शरीरों से संबंधित, जो माता-पिता-भाई व बंधु।

पत्नि या पति पुत्र, शत्रु-मित्रादि को अपना माना॥ (3)

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि भोग को, अपना मानकर ग्रहण किया।

इस सबके हेतु नवकोटि से, हर प्रकार के प्रयत्न किया॥ (4)

इन सबके कारण अनंत बार, पंच-पाप व सप्त-व्यसन किया।

पच्चीस कषाय व मोह को किया, जिससे अनंत दुःखों को भोगा॥ (5)

पर दोष व कमियों को देखा, उसके लिए ईर्ष्या द्वेष किया।

उन्हें सुधारने के हेतु राय से, लेकर युद्ध व हत्या किया॥ (6)

इन कारणों से बहुविध पाप किया, उसके फल से दुःखों को भोगा।

पर के लिए कुत्ता या दास धोबी, बनकर नाना काम किया॥ (7)

इन सब हेतु जितना परिश्रम, अनादिकाल से तुमने किया।

उसका अनंतवाँ भाग यदि स्व-उपकार करते तो मोक्ष (हो) जाता॥ (8)

अज्ञानी मोही यथा स्वार्थवश, स्व-उपकार में होता लीन।

तथाही तू आत्मज्ञान से, स्व-उपकार में हो जाओ लीन॥ (9)

आत्महित हेतु न चाहिए, (तुझे) सत्ता-संपत्ति या प्रसिद्धि।

आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए, आत्म पुरुषार्थ से मिलेगी।। (10)

आत्महित में परहित समाहित, स्व-पर प्रकाशक यथा दीपक।

सर्व संक्लेश व विभाव त्यागकर, 'कनक' तू बन आत्म दीपक।। (11)

मेरे अगुरुलघु गुण से प्राप्त मुझे शिक्षाएँ

(राग:छोटी-छोटी गैय्या....)

गाथा-सबभावो हि सहावो गुणेहिं सपज्जएहिं चित्तेहिं।

दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।। (96 प्रवचनसार)

हिन्दी-सद्भाव ही है स्वभाव होता, अनंतगुण-पर्याय सहित।

द्रव्य में ही सर्वकाल में ही, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित।।

गाथा- अपरिच्छित्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसम्बद्धं।

गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं त्ति वुच्चंति।। (95 प्रवचनसार)

हिन्दी-अपरित्यक्त स्वभाव से, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता सम्बन्ध।

गुण व पर्यायों से सहित, जो होता है वह ही होता द्रव्य।।

ये है वैश्विक सत्य सिद्धांत, जीव-अजीव में व्याप्त सिद्धांत।

मैं हूँ चैतन्यमय जीव द्रव्य, अगुरुलघु आदि अनंत गुण।।

अगुरुलघु मेरा एक गुण, सूक्ष्म अमूर्तिक शुद्ध गुण।

सर्वज्ञज्ञानगम्य विचित्र गुण, असितत्व नियामक विशिष्ट गुण।। (1)

अनंत गुण युक्त मैं हूँ जीव, अनंत पर्यायों से भी मैं सहित।

उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य युक्त, अगुरुलघु से ये सब होते नियंत्रित।। (2)

अनादि-अनंत मेरा अस्तित्व, जन्म-मरण व सुख-दुःख सहित।

नरक-निगोद पशु-पक्षी में जन्मा, देव-मानव-कीट-पतंग में जन्मा ।। (3)

नरक में अति भूख-प्यास को सहा, छेदन-भेदन व ताड़न हुआ।

अग्नि से जला व सर्दी को सहा, तथापि मेरा न विनाश हुआ।। (4)

चौरासी लक्ष योनि में (भी) भ्रमण किया, जन्म-मरण-रोग दुःखों को सहा।।

तो भी मेरे असंख्य आत्म-प्रदेश, न कम हुए नहीं हुए अधिक।। (5)

अनंत काल से बंध हुए है कर्म, हर आत्म-प्रदेश में अनंत कर्म।

आत्म-प्रदेश न हुए अनात्ममय, एक गुण भी न हुए मेरे विनाश।। (6)

विकृत हुए भले मेरे गुण अशेष, तथापि एक गुण भी न हुए विनाश।
कर्मनाश से सभी गुण होते प्रगट, शुद्ध-बुद्धमय चैतन्य रूप।। (7)

सिद्ध में भी होता है परिणमन (सदा अगुरुलघु गुण उसका कारण।
षट्गुण हानि-वृद्धि होती सतत, अनंत गुणवृद्धि आदि रूप में तत्र।। (8)

इसी से मुझे मिले शिक्षा अनेक, मेरा स्वभाव है अक्षय अनंत।
मेरा स्वरूप न कभी होगा विनाश, जन्म-मरण या संसार मोक्ष।। (9)

शरीर छोटा-बड़ा हो या जीर्ण-शीर्ण, शरीर सहित हूँ या शरीर से भिन्न।
तो भी न होता मैं छिन्न व न्यून, मुझे अखण्ड रखे अगुरुलघु गुण।। (10)

निन्दा-प्रशंसा या हानि-लाभ से, एकांत-मौन या भीड़ मध्य में।
हीनाधिक मेरा कुछ नहीं होता, भौतिक विकार में यह सब होता।। (11)

अतएव मैं हूँ निर्भय व निःशंक, स्वयंभू स्वयंपूर्ण अक्षय अनंत।
मेरा सर्वस्व सदा अतः मेरा रहेगा, 'कनक' जो तेरा नहीं वह मिटेगा।।(12)

मेरा परम आध्यात्मिक सत्य स्वरूप

मैं स्वरूपतः सत्य एवं स्वभाव से सिद्ध

(चाल : शत-शत वंदन....., सायोनारा.....,आधा है चंद्रमा.....,कसमे-वादे.....,आत्मशक्ति से ओतप्रोत....)

परम सत्य हूँ(मैं) ध्रुव तत्त्व हूँ, अनादि अनिधन (मैं) आत्म तत्त्व हूँ।
अहेतुक स्वयंभू (मैं) स्वयं पूर्ण हूँ, आदि मध्य अंत (से) रहित हूँ।।

परम सत्य (रूप) मैं स्वयं होने से, स्वयं-स्वयंपूर्ण-अहेतुक हूँ।

अतः (मैं) अनादि अनिधन हूँ, अतएव सनातन व ध्रुवरूप हूँ।।

आत्म तत्त्व हूँ अतः चेतन हूँ अनंत ज्ञान दर्शन सुख रूप हूँ।

अतः तन-मन अक्ष न मम रूप, आधि व्याधि दुःखादि न मम रूप है।।(1)

अतएव मेरा न होता जन्म भी, बाल-वृद्ध-मृत्यु पर मैं भी।

मेरे स्वभाव से परे ये भाव हैं कर्मजनित ये विकार भाव हैं।।

यदि ये मम स्वरूप होते, मेरे समान ये भी ध्रुव होते।

अनादि अनिधन शाश्वत होते मोक्ष अवस्था में भी (मेरे) साथ होते।। (2)

अतएव मैं न बना पञ्च तत्त्व से, रज वीर्य या रसायनों से।

D.N.A.,R.N.A.याX,Y(क्रोमोजोम)से,माइक्रोकोण्ड्रिया या स्टेमसेल से।
नहीं है कार्बन मेरा मूल तत्त्व, हाइड्रोजन या ऑक्सीजन (मेरा) तत्त्व।
नहीं है तारों के तत्त्व से बना, नहीं मैं अचानक दुर्घटना से बना।। (3)

नही आगमन (मेरा) उल्कापिण्ड से हुआ, नहीं पृथ्वी पर प्रथम बार हुआ।

एक कोशिय जीव से न प्रारंभ हुआ, मुझे बनाने वाला न कभी भी हुआ।।

मुझे सिद्धि हेतु न यंत्र चाहिए, मेरी सिद्धि हेतु न साक्षी चाहिए।

मैं स्वयं सिद्ध हूँ स्वभाव सिद्ध हूँ, पर निरपेक्ष मैं आत्मसिद्ध हूँ।। (4)

मैं हूँ राजनीति व कानून परे, संविधान लौकिकता से परे।

रीति-रिवाज व संकीर्ण परे, पंथ-मत-जाति-भाषा-राष्ट्र परे।।

यथा आकाश स्वयं में सिद्ध है, बादल विद्युत से न होता सिद्ध है।

बादल आदि भौतिक विकार रूप है, तन जन्म आदि भी कर्मज रूप है।।(5)

सर्वज्ञ ज्ञानगम्य मेरा स्वरूप, आगम वर्णित अतीन्द्रिय स्वरूप।

श्रद्धा प्रज्ञा (व) अनुभवगम्य रूप, 'कनक' का आत्मिक विश्व स्वरूप।।(6)

संदर्भित गाथाएं-

द्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।

सिद्धं तथ आगमदोणेच्छदि जो सो हि परसमओ।। (98) प्रवचन.

उत्तम गुणाण धामं सव्व दव्वाणं उत्तमं दव्वं।

तच्चाण परम तच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदो।। (204) कार्तिकेय.

जीवो आणाइ-णिहवो परिणममाणो हु णव-णवं भाव।

सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा।। (231)

(यह कविता प्रवचनसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, समयसार, अष्टावक्रगीता, उपनिषद, गीता आदि से भी प्रभावित है।)

(आध्यात्मिक शिक्षाप्रद रहस्यमय कविता)

स्वयं का मूल्यांकन मैं स्वयं भी करूँ

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....,शत-शत वंदन....)

स्व मूल्यांकन मैं स्वयं भी करूँ, अन्यथा द्वारा ही नहीं कराऊँ।
जड़ न स्वयं का मूल्यांकन करता, मैं चेतन स्व मूल्यांकन करता।।
मैं सच्चिदानंदमय अमूर्त रूप, स्वयंभू सनातन अखण्ड रूप।
अनंत गुण पर्यायमय स्वरूप, सत्य समता व अव्याबाध स्वरूप।।
स्व-मूल्यांकन मैं इसी से करूँ, तन-मन-इन्द्रियादि रूप न करूँ।
धन-जन-नाम-वय रूप न करूँ, जन्म-मरण-ख्याति-पूजा से न करूँ।।
यह सब कर्मज है विकार रूप, भौतिकमय मिश्र अशुद्ध रूप।
मेरे स्वभाव से ये (सब) होते हैं भिन्न, यथा आकाश से बादल होता
है भिन्न।।

अज्ञानी मोही आसक्त कामुक जन, सत्ता संपत्ति (प्रसिद्धि) से मोहित जन।
भौतिक हानि-लाभ में मोहित जन, कर न पायेगे कभी मेरा मूल्यांकन।।
कूपमण्डुक न जाने अनंत आकाश, जुगनू न दे पायेगा सूर्यसम प्रकाश।
चर्म चक्षु न देखे अमूर्तिक द्रव्य, तथाहि अज्ञानी से न होता मम मूल्यांकन।।
सर्वज्ञ कथित सत्य वचन द्वारा, आत्मा के स्वाभाविक लक्षणों द्वारा।
उपलब्ध क्षायोपशामिक भावों के द्वारा, मूल्यांकन करूँ (समाहित)
अंतःकरण द्वारा।।

श्रुतेनलिंगेन यथाशक्ति समाहितान्तः-करणेन सम्यक्।

समीक्ष कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ते।। (3 समाधितंत्र)
बहिरात्मा शरीरादौ जतात्म भ्रान्तिरान्तरः।

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माति निर्मलः।। (5 समाधितंत्र)

शरीर आदि को स्व-स्वरूप जो माने, वह होता है बहिरात्मा।
शरीर से परे माने (सो) अन्तर आत्मा, अति निर्मल है स्व-परम आत्मा।।
जड़वस्तु का मूल्यांकन करते रागीजन, जिससे होता है आदान-प्रदान।
यह तो सांसारिक लौकिक कर्म, अलौकिक वृत्ति सम्पन्न होते श्रमण।

परमूल्यांकन से होता रागद्वेष, पक्षपात व लेन-देन के दोष।
 आकर्षण-विकर्षण-संक्लेश होते, पर मूल्यांकन अतः निर्दोष।।
 योग्य मूल्यांकन पर द्वारा भी ग्राह्य, आत्म लाभ हेतु योग्य वचन ग्राह्य।
 वीतराग विज्ञान हेतु विश्लेषण ग्राह्य, विज्ञानघन चित्तवमत्कार सम्पन्न।।
 व्यवहार से भी स्व मूल्यांकन करूँ, नैतिक-शालीनता-सदाचार से करूँ।
 निस्पृह-निराडम्बर-निर्द्वन्द्व करूँ, सहज-सरल निष्पक्षता से करूँ।।
 यह मेरी आत्मालोचन आत्मजागृति, स्व मूल्यांकन की मेरी निज प्रवृत्ति।
 आत्मविशुद्धि व आत्मनिष्ठा की वृत्ति, 'कनक' चाहे स्व-शुद्धात्मा की
 उपलब्धि।।

(आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक शोधपूर्ण कविता)
अहंकारी-ममकारी-अंधश्रद्धानी, इससे परे सत्यश्रद्धानी
 (अहंकार-ममकार करने वाले अंधश्रद्धानी (मिथ्यादृष्टि)
 इससे परे सम्यग्दृष्टि)

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

गाथा- जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग ति णिहिट्ठा।

आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।। (94) प्रवचनसार
 टीका- मनुष्यादिरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते मनुष्यादिशरीरं तच्छरीरा-
 धरोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूपम् च ममेति ममकारो भण्यते...मिथ्यादृष्टियो
हिन्दी- जो पर्याय में निरत जीव है, उसे परसमय(मिथ्यादृष्टि) कहते।
 जो आत्मस्वभाव में स्थित जीव(है), उसे स्व-समय(आत्मधर्म)
 कहते।।

रहस्य- सच्चिदानंद है जीव-स्वभाव, यह ही जीव का स्वधर्म है।

इससे भिन्न राग-द्वेष-मोह, शरीर आदि परधर्म है।। (1)

स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान ही, परम निश्चय से सम्यक्त्व है।

इसे ही कहते हैं सम्यग्दर्शन या, आत्मविश्वास सत्य श्रद्धान है।। (2)

मनुष्य आदि अवस्था तो, कर्मजनित अशुद्ध पर्याय है।

इसे अपना स्वरूप, मानना, निश्चय से अंधश्रद्धान है।। (3)

- में हूँ बालक युवक प्रौढ़ काला गोरा सुंदर असुंदर।
मोटा दुबला नाटा-लंबा, मानना अधविश्वास है॥ (4)
- मनुष्यादि शरीर को या उसके, आधारभूत इन्द्रिय सुख का।
मेरा मानकर लीन होना ममत्व, प्रगटायें मोह भाव को॥ (5)
- सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि भोग व, उपभोग में ममत्व करता है।
इसके कारण रागद्वेषमोह व, अन्याय-अत्याचार करता है॥ (6)
- अहंकार-ममकार में लीन जीव, न जानता आत्म-स्वभाव को॥
जिससे जीव होता (है) मिथ्यादृष्टि, न जाने सत्य व आत्मा को॥ (7)
- अहंकार के कारण करता अष्टमद, जो तन-मन-धन आदि आश्रित है।
ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा सहित होकर, करता आडम्बर व दिखावा है॥ (8)
- ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि चाहता, जिस हेतु करता काम है।
पढ़ाई-बढ़ाई चमड़ी-दमड़ी हेतु, करता विभिन्न पाप-काम है॥ (9)
- ममकार से जीव हो जाता आसक्त, न जानता हित-अहित है।
विषय-वासना व फैशन-व्यसनो से, करता आत्म-पतन है॥ (10)
- इससे परे हैं आत्मविश्वास-ज्ञान, व सदाचरण आत्मधर्म है।
आत्मविश्लेषण-आत्मानुसंधान, आत्मकथन-आत्मध्यान है॥ (11)
- स्व-आत्म का अध्ययन ही यथार्थ से, स्वाध्याय-परमतप है।
आत्म-ज्ञान ही है परम-विज्ञान, यह ही ज्ञानामृत भोजन है॥ (12)
- आत्मा का कथन ही परम प्रवचन, अन्य तो सभी प्रपंच है।
आत्मध्यान ही है परमध्यान, अन्य ध्यान सभी दुर्ध्यान है॥ (13)
- ममत्व त्यागकर समत्व धरना, यह ही परम चरण है।
अन्य सभी है मिथ्या-आचरण, संक्लेश-द्वंद्व-पतन है॥ (14)
- यह है सत्पथ आध्यात्मिक पथ, जो सत्य-शिव-सुन्दर है।
आत्म वैभव प्राप्ति के कारण, 'कनक' का निज स्वरूप है॥(15)

सन्दर्भ-

अशरण-अनुप्रेक्षा

संसार में शरण दो प्रकार का है- एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। तथा वे दोनों ही जीव, अजीव, और मिश्र के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। राजा, देवता आदि लौकिक जीवशरण है। कोट,, शहर पनाह आदि लौकिक अजीव शरण है और कोट खाई, सहित गाँव, नगर आदि लौकिक मिश्र शरण है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पाँचों ही गुरु लोकोत्तर जीव शरण हैं। इन अरिहन्त आदि के प्रतिबिम्ब आदि लोकोत्तर अजीव शरण है। धर्म सहित साधुओं का समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्र शरण है। जिस प्रकार किसी एकान्त स्थान में अत्यन्त बलवान भूखा और मांस का लोलुपी बाघ किसी हिरण के बच्चे को पकड़ लेता है और फिर उसे कोई नहीं बचा सकता इसी प्रकार जन्म, जरा (बुढ़ापा) व्याधियाँ, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, इष्ट का लाभ न होना दरिद्रता, दुर्मनस्कता (मन या चंचल रहना) आदि से उत्पन्न हुए, अनेक दुःखों से ग्रसित हुये इन प्राणी को कोई शरण नहीं है अर्थात् इन दुःखों से इसे कोई नहीं बचा सकता। यह अत्यन्त पुष्ट किया हुआ वा पालापोसा हुआ शरीर भी केवल भोजन के लिये सहायक होता है परन्तु, किसी आपत्ति के आ जाने पर यह बिल्कुल सहायता नहीं देता। बड़े यत्न से संचित किया हुआ धन भी दूसरे जन्म में साथ नहीं जाता। सुख-दुःख को बाँटने वाले मित्रगण भी मरने के समय रक्षा नहीं कर सकते और भाई बन्धु सब मिलकर भी उस रोगी पुरुष को नहीं बचा सकते। इस संसार में इस जीव का यदि कोई सहायक है तो अच्छी तरह आचरण किया हुआ धर्म ही है। यह धर्म ही संसार रूपी महासागर से पार होने का साधन है। जिस समय मृत्यु इस जीव को ले जाने लगती है उस समय इन्द्र भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता इसलिये संसार की समस्त आपत्तियों के समय एक धर्म ही शरण है; मित्र और धन भी इस जीव के साथी नहीं है। अतएव संसार में कोई शरण नहीं है। इस प्रकार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिंतवन से “मैं सदा अशरण हूँ अर्थात् मेरा कोई शरण नहीं है।” इस तरह की भावना से इस जीव का चित्त सदा उद्विग्न विरक्त रहता है और फिर विरक्त परिणाम

होने से संसार के समस्त पदार्थों से उसका ममत्व छूट जाता है तथा भगवान् सर्वज्ञ अरिहन्त देव के कहे हुए आगम में उसका चित्त तल्लीन हो जाता है। (चारित्रसार)

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।

मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य।। 697(मूलाचार)

मृत्यु के भय आदि के उपस्थित होने पर घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र औषधि तथा प्रज्ञप्ति आदि नाना प्रकार की विद्यायें शरण नहीं हैं अर्थात् ये कोई भी मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं। निकृति-वंचना, अर्थात् ठगना, नीति-चाणक्य विद्या अथवा 'स्वपक्ष की वृद्धि और परपक्ष की हानि के प्रतिपादन का उपाय नीति है।' वह नीति साम, उपप्रदान, भेद और दण्ड के भेद से चार प्रकार की है। जिसमें प्रिय हित वचन साधन है और आत्मीयता का प्रयोग होता है वह सामनीति है। नाना प्रकार के द्रव्यों का प्रदान करना उपप्रदान नीति है। त्रास देना भर्त्सना आदि करना भेद नीति है तथा ताड़न, छेदन करना दण्डनीति है। भाई-बन्धु आदि निज कहलाते हैं इत्यादि सभी नीतियाँ व बन्धु वर्ग आदि कोई मृत्यु भय के आ जाने पर शरण नहीं हैं ऐसा चिंतवन करना चाहिये।

जन्मजरामरणसमाहिदह्मि सरण ण विज्जदे लोए।

जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा।। 698

जन्म-जरा-मरण से सहित इस जगत् में जरा और मरणरूप महाशत्रु का निवारण करने वाले ऐसे जिनशासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है।

मरणभयह्मि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।

धम्मोत्ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणन्तं।। 699

मरणभय के उपस्थित होने पर देवेन्द्र सहित सुर-असुरगण भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं।

इसलिये जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म ही रक्षक है आश्रय है और वही एक गति है। ऐसा चिन्तवन करो, क्योंकि अन्य कोई भी आश्रयभूत नहीं है किन्तु यह धर्म ही त्राता है। जिनके लिये कोई भी गति नहीं है उनके लिये वही एक गति है ऐसा जानकर एक मात्र धर्म को ही शरण समझो। यह अशरण भावना हुई।

न स को ऽप्यस्ति दुर्बुद्धै शरीरी भुवनत्रये।

यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिश्यति।। 48 ज्ञानार्णव

अशरण-भावना-हे अज्ञानी प्राणी। तीनों लोकों में ऐसा कोई भी शरीर-धारी जीव नहीं है जिसके गले में यम की फाँस न फैलने वाली हो सब ही प्राणी मृत्यु के ग्रास बनने वाले हैं, स्थिर रहने वाला यहाँ कोई भी नहीं है।

समापतति दुवारै यमकण्ठीरवक मे।

त्रायतेऽयं न हि प्राणी सोद्योगैरित्रदशैरपि।। 49

दुर्निवार मृत्युरूप सिंह के पैर के पड़ने पर इस प्राणी को अन्य की तो बात क्या, किन्तु अतिशय प्रयत्नशील देव भी नहीं बचा सकते हैं।

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्धरा।

जीवलोकं क्षणार्धेन वह नाति यमवागुरा।। 50

जिस यमराज की वागुरा- को मृगों को फँसाने वाले व्याघ्र के जाल को इन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती और धरणेन्द्र(या शेषनाग) भी नहीं रोक सकते हैं। वह प्राणी समूह को आधे ही क्षण में बाँध लेती है।

जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तकः स्फुटम्।

इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशैश्वराः।। 51

जिसकी इच्छा मात्र से ये कल्पवासी इन्द्र भी च्युत हो जाते हैं-मरण को प्राप्त होते हैं वह तीनों लोकों को जीतने वाला यमराज ही एक अद्वितीय सुभट है, यह स्पष्ट है जग जाहिर है।

भोचन्ति स्वजनं मूर्खा स्वकर्मफलभोगिनाम्।

नात्ममानं बुद्धि विध्वंसाद्यमदंश्ट्रान्तरस्थितम्।। 52

जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है वे मूर्ख अपने कर्म के फल को भोगने वाले अपने आयुकर्म के क्षीण हो जाने पर मरण को प्राप्त हुए कुटुम्बी जन का तो शोक करते हैं, किन्तु स्वयं अपने आपको यम की दाढ़ों के बीच में स्थित मरणोन्मुख नहीं देखते हैं।

अस्मिन् संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते।

पुराणपुरुशाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः। 53

यमरूप सर्पराज से संचित इस संसार रूप वन के भीतर पहिले अनन्त पुराण पुरुष-पुराणों में वर्णित तीर्थकर एवं चक्रवर्ती आदि मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं, अर्थात् उनकी भी रक्षा नहीं हो सकी है।

प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते।

यत्रायमन्तक पापी नृकीटैस्तत्र का कथा।। 54

इस पापी यमराज को जहाँ सैंकड़ों प्रकार से प्रतीकार का प्रयत्न करके देव भी नहीं रोक सकते हैं, वहाँ क्षुद्र मनुष्य रूप कीड़ों की तो बात ही क्या ? वे तो उसका निवारण किसी प्रकार से भी नहीं कर सकते हैं।

गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितैः।

प्रयाणैः प्राणिनो मूढ कर्मणा यममन्दिरम्।। 55

हे मूर्ख! कर्म के द्वारा ये प्राणी गर्भ से लेकर प्रति समय में स्थिर प्रयाणों (पड़व-बीच में ठहरने के स्थान) के द्वारा यमालय को ले जाये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि अपने-अपने कर्म के अनुसार कोई प्राणी गर्भावस्था में ही, कोई जन्म लेने पर और कोई शैशव आदि (कुमार, युवा, वृद्धत्व) अवस्था में नियम से मरण को प्राप्त होते हैं।

यदि दृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली।

तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैवं चेत्किं वृथा श्रमः।। 56

हे मूर्ख! यदि तूने यम की आज्ञा को ठुकराने वाले, कभी भी न मरने वाले, किसी भी बलवान् को देखा हो या सुना हो तो उसकी आराधना करके स्वास्थ्य की सेवा कर शरीर को स्वस्थ रखने के लिये उसका पोषण भले करे, परन्तु वैसे किसी बलवान् को यदि कहीं पर न देखा है और न सुना है तो फिर उस शरीर को स्थिर रखने के लिये परिश्रम करना व्यर्थ है उचित नहीं है।

परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः।

वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरूस्थवत्।। 57

जिस प्रकार अनेक पशु-पक्षियों से व्याप्त वन में आग के लग जाने पर वृक्ष पर स्थित मनुष्य अन्य प्राणियों को तो जलता हुआ देखता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि इस वृक्ष के जलने पर मैं भी उससे भस्म हो जाने वाला हूँ, इस प्रकार अज्ञानी जीव दूसरे की विपत्ति को तो जानता है, परन्तु उसी के समान मुझे भी वह विपत्ति प्राप्त होने वाली है, इसका विचार नहीं करता है।

यथा बालं तथा वृद्धं यथाढयं दुर्विधं तथा।

यथा भारं तथा भीरुं साम्येन ग्रस्तेऽन्तकः।। 58

यम (मृत्यु) जैसे बालक को ग्रसता है, वैसे ही वह वृद्धि को भी ग्रसता है, जैसे धनवान् मनुष्य को ग्रसता है, वैसे ही निर्धन को भी ग्रसता है तथा जैसे वीर सुभट को ग्रसता है, वैसे ही कायर को भी ग्रसता है। इस प्रकार वह बिना किसी प्रकार के भेदभाव के सभी प्राणियों को समान रूप से ग्रसता है उसके आक्रमण से कोई भी प्राणी नहीं बच सकता है।

गजाश्वनरसैन्यानि मन्त्रोशधबलानि च।

व्यर्थाभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे। 59

उस यम के प्राणियों के विरुद्ध होने पर हाथी घोड़ा, मनुष्य और सेना तथा मन्त्र व औषधि की भी सब शक्तियाँ निरर्थक होती है उसके सामने इनमें से किसी का भी प्रभाव नहीं चलता है।

विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति।

न श्रृणोत्यदयं यावत् कृतान्तहरिगर्जितम्॥ 60

जब तक यमरूप सिंह की निर्दय (भयानक) गर्जना नहीं सुनी जाती तब तक सब ही प्राणी अपने पराक्रम में चूर होते हुए प्रवत्तमान देखे जाते हैं मृत्यु का आक्रमण होने पर सभी का पराक्रम नष्ट हो जाता है।

अक्रताभीष्ट कल्याणमसिद्धारब्धवञ्छितम्।

प्रागेवागत्य निस्त्रिंशो हन्ति लोकं यमः क्षणे॥ 61

जिस प्राणी ने अपने अभिष्ट हित को नहीं किया है तथा जिसकी आरम्भ किये हुए कार्य के पूर्ण करने की इच्छा भी सिद्ध नहीं हो सकी है जो प्रारम्भ हुए कार्य को अभी पूरा भी नहीं कर सका है, ऐसे प्राणी को वह यम पहिले ही आकर क्षणभर में मार डालता है।

रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहग्रहव्यनतरा,

दिवक्यालाः प्रतिशत्रवो हरिबलव्यालेन्द्रचक्रे धराः। 62

ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिनः संभूय सर्वे स्वयं,

नारब्धं यमकिंकरैः क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम्॥ 63

महादेव, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, ग्राह (हिंसक जलजन्तु) ग्रह (शनि आदि) व्यन्तर, दिवपाल, प्रतिनारायण, नारायण, बलदेव, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती तथा अन्य भी वायु तथा सूर्य आदि बलवान् ये सब स्वयं मिल करके भी यम के

दूतों द्वारा ग्रहण करने के लिये प्रारम्भ किये गये (मरणोन्मुख) प्राणी की क्षणभर भी रक्षा करने के लिए समर्थ नहीं है।

अनाथः सर्वसंसारी

गज, अश्व तथा मणि-माणिक्य आदि प्रचुर रत्नों से समृद्ध मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि चैत्य उद्यान में विहार यात्रा के लिये नगर से निकला। वह उद्यान विविध प्रकार के वह वृक्षों एवं लताओं से आकीर्ण था, नाना प्रकार से पक्षियों से परिसेवित था और विविध प्रकार के पुष्पों से भली-भाँति आच्छादित था। किं बहुना, नन्दन वन के समान था। राजा के उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक संयत, समाधि सम्पन्न, सुकुमार एवं सुखोचित एवं सुखोपभोग के योग्य साधु को देखा। साधु के अनुपम सुख को देखकर राजा को उसके प्रति बहुत ही अधिक अतुलनीय विस्मय हुआ। अहो, क्या वर्ण (रंग) है ? क्या रूप (आकार) है। अहो आर्य की कैसी सौम्यता है। अहो! क्या शान्ति है, क्या मुक्ति निर्लोभता है। अहो, भोगों के प्रति कैसी असंगता है। मुनि के चरणों में वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा न अति दूर, न अति निकट अर्थात् योग्य स्थान में खड़ा रहा और हाथ जोड़कर मुनि से पूछने लगा-राजा श्रेणिक- 'हे आर्य! तुम अभी युवा हो। इसका क्या कारण है मैं सुनता चाहता हूँ। महाराज! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ अभिभावक एवं संरक्षक नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई सहृदय मित्र मैं नहीं पा रहा हूँ। यह सुनकर मगधाधिप राजा श्रेणिक जोर से हँसा और मुनि से बोला-“इस प्रकार तुम देखने में ऋद्धि सम्पन्न सौभाग्यशाली लगते हो, फिर भी तुम्हारा कोई कैसे नाथ नहीं है ?” राजा श्रेणिक “भदन्त! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। हे संयत! मित्र और जातिजनों के साथ भोगों को भोगों। यह मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभ है।

अप्यणा वि अणाहो सि सोविया! मगहहिवा।

अप्याणा अणाहो सन्तो कहं नाहो अविस्ससि।। 12

मुनि-श्रेणिक! तुम स्वयं अनाथ हो! मगधाधिप! जब तुम स्वयं अनाथ हो तो किसी के नाथ कैसे हो सकोगे।

राजा पहले ही विस्मित हो रहा था, अब तो मुनि से अश्रुतपूर्व (पहले कभी नहीं सुना गया 'अनाथ' यह वचन सुनकर तो और भी अधिक सभ्रान्त संशयकूल

एवं विस्मित हुआ। राजा श्रेणिक-“मेरे पास अश्व है, हाथी है, नगर हैं और अन्तःपुर है। मैं मनुष्य जीवन के सभी सुख भोगों को भोग रहा हूँ। मेरे पास आज्ञा शासन और ऐश्वर्य प्रभुत्व भी है। इस प्रकार प्रधान श्रेष्ठ सम्पदा जिसके द्वारा कभी काम भोग मुझे समर्पित होते हैं, मुझे प्राप्त हैं। इस स्थिति में भला मैं कैसे अनाथ हूँ ? भदन्त! आप झूठ न बोले। मुनि-पृथ्वीपति नरेश! तुम ‘अनाथ के अर्थ और परमात्मा को नहीं जानते हो कि मानव अनाथ और सनाथ कैसे होता है-महाराज! अत्याक्षिप्त अनाकुल चित्त से मुझसे सुनिये कि यथार्थ से अनाथ कैसे होता, किस भाव से मैंने उसका प्रयोग किया है ? प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नगरी है। वही मेरे पिता थे। उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था। महाराज! प्रथम वय में युवावस्था में मेरी आँखों में अतुल असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव! उससे मेरे सारे शरीर में अत्यन्त जलन होती थी। क्रुद्ध शत्रु जैसे शरीर के मर्म स्थानों में अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र घोंपदे और उससे जैसे वेदना हो, वैसे ही मेरी आँखों में भयंकर वेदना हो रही थी। जैसे इन्द्र के वज्रप्रहार से भयंकर वेदना होती है, वैसे ही मेरे कटिभाग में, अन्तरेच्छ हृदय में और ऊत्तमाभाग-मस्तिष्क में अति वेदना हो रही थी। विद्या और मंत्र से चिकित्सा करने वाले, मंत्र तथा औषधियों के विशारद, अद्वितीय शस्त्रकुशल, आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा के लिये उपस्थित थे। उन्होंने मेरे हितार्थ वैद्य, रोगी, औषध और परिचालक रूप चतुष्पाद चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकें यह मेरी अनाथता है। मेरे पिता ने मेरे लिये चिकित्सक को उपहार रूप सर्वसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दी, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है। महाराज! मेरी माता पुत्र शोक के दुःख से बहुत पीड़ित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है। महाराज! मेरे बड़े और छोटे सभी सगे भाई मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके, यह मेरी अनाथता है। महाराज! मुझ में अनुरक्त और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनों से मेरे उरः स्थल (छाती) को भिगोती रहती थी। वह बाला मेरे प्रत्यक्ष में या परोक्ष में कभी भी अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का उपभोग नहीं करती थी। वह एक क्षण के लिये मुझसे दूर नहीं होती थी। फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं कर सकी। महाराज! यह मेरी अनाथता है। तब मैंने इस प्रकार कहा-विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त संसार में बार-बार

असह्य वेदना का अनुभव करना होता है।

सइं च जइ मुच्चेज्जा वेयणा विउलाइओ।

खन्तोदन्तो निरारम्भी पव्वएअणगारियं।। 32 उत्तराध्ययन

इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ तो मैं क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनगारवृत्ति में प्रव्रजित-दीक्षित हो जाऊँगा।

एवं च चिन्तइत्ताणं पसुत्तोमि नराहिवा।

परियट्टन्तीए राइए वेयणा मे खयं गया।। 33

नराधिप! इस प्रकार विचार करके मैं सो गया। परिवर्तमान (बीती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई।

तओ कल्ले पभायम्मि आपुच्छित्ताण बन्धवे।

खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वइओऽणगारियं।। 34

तदन्तर प्रातः काल में कल्य निरोग होते ही मैं बन्धुजनों को पूछकर क्षान्त दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति में प्रव्रजित हो गया।

ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।

सव्वेसिं चेव भूयाण तसाण थावराण य।। 35

तब मैं अपना और दूसरों का त्रस और स्थावर सभी जीवों का नाथ हो गया।

अप्पा नई वयेरणी अप्पा मे कूडसामली।

अप्पा कामदुआ धेणु अप्पा में नन्दणं वणं।। 36

मेरा अपना आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शाल्मली वृक्ष है, कामदुहा धेनु है और नन्दन वन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तं ममित्तं ध दुप्पट्टिओ।। 37

आत्मा ही अपने सुख दुःख का कर्ता है और विकर्ता विनाशक है। सत् प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्म ही अपना शत्रु है।

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा! तमेगचित्तो निहुओसुणेहि।

नियन्ठधम्मं लहियाण वि जहा सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा।। 38

राजन्! यह एक और भी अनाथता है। शांत एवं एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो! बहुत से ऐसे कायर व्यक्ति होते हैं, जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते हैं स्वीकृत अनगार धर्म का सोत्साह पालन नहीं कर पाते हैं।

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं सम्मं फासयईं पमाया।

अनिग्गप्पा य रसेसु गिद्धे न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से।। 39

जो महाव्रतों को स्वीकार कर प्रमाद के कारण उनका सम्यक् पालन नहीं करता है, आत्मा का निग्रह नहीं करता है रसो में आसक्त है, वह मूल से राग-द्वेष रूप बन्धनों का उच्छेद नहीं कर सकता है।

आउत्तया जस्स न अत्थि काइ इरियाए भासाए तहेसणाए।

आयाण-निक्खेव-दुगुंछणाए न वीरजायं अणुजाइ मग्गं।। 40

जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप में और उच्चार-प्रसवण के परिष्ठापन में आयुक्तता सजगता नहीं है, वह उस मार्ग में अनुगमन नहीं कर सकता, जो वीरयात है अर्थात् जिस पर वीर पुरुष चले हैं।

चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता अथिरव्वए तव नियमेही भट्टे।

चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता न पारए होइ हु संपराए।। 41

जो अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है तप और नियमों से भ्रष्ट है-वह चिरकाल तक मुण्डरुचि(और कुछ साधना न कर केवल सिर मुंडा देने वाला भिक्षु) रहकर और आत्मा को कष्ट देकर भी वह संसार से पार नहीं हो सकता।

पोल्ले व मुट्टी जह से असारे अयन्तिए कूडकहावणे वा।

राढामणी वैरूलियप्पगासे अमहग्धए होय जाणएसु।। 42

जो पोली (खाली) मुट्टी की तरह निस्सार है, खोटे सिक्के की तरह अयन्त्रित अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि कांचमणि है, वह जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि में मूल्यहीन है।

कुसीललिंग इह धारइत्ता इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।

असंजए संजयलप्पमाणे विणिघायमागच्छइ से चिरंपि।। 43

जो कुशील आचार हीनों का वेष और ऋषि ध्वज(रजोहरणादि मुनि चिन्ह) धारण कर जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आपको संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनिघात, विनाश को प्राप्त होता है।

विसं तु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।

एसे व धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥ 44

पिया हुआ कालकूट विष उल्टा पकड़ा हुआ शस्त्र, अनियन्त्रित वेताल जैसे विनाशकारी होता है। वैसे ही विषय विकारों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

जे लक्खणं सुविणं पउजमाणे निमित्त कोऊहलसंपगाढे।

कुहेइविज्जासवदार जीवी न गच्छई सरण तम्मि काले॥ 45

जो लक्षण और स्वप्न-विद्या का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेट विद्याओं से जादूगरी के खेलों से जीविका चलाता है, वह कर्मफल भोग के समय किसी की शरण नहीं पा सकता।

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं अणुसांसण नाणगुणोववेयं।

मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं महानियंठाण वए पहेणं॥ 51

मेधावी साधक इस सुभाषित को एवं ज्ञान गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियों को सब मार्गों को छोड़कर महान् निर्ग्रन्थों के पथ पर चलें।

चरित्तमायार गुणन्निए तओ अणुत्तरं संजम पालियाणं।

निरासवे संखवियाण कम्मं उवेइ ठाणं वि उलुत्तमं धुवं॥ 52

चारित्राचार और ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ निराश्रय होता है। अनुत्तर शुद्ध संयम का पालन कर वह निराश्रय(राग द्वेषादि बन्ध हेतुओं से मुक्त) साधक कर्मों का क्षय कर विपुल उत्तम एवं शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करता है।

एवग्गदन्ते वि महातवोधणे महामुणी महापइन्ने महायसे।

महानियण्ठिज्जमिणं महासुयां से काहए महया वित्थरेणं॥ 53

इस प्रकार उग्र-दान्त, महान, तपोधन, महाप्रतिज्ञ महा यशस्वी उस महामुनि ने इस महा निर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महान् विस्तार से कहा।

तुट्ठो ये सेणिओ राया इणमुदाहु कयजली।

अणाहत्तं जहाभूयं सुट्ठु मे उवदसियं॥ 54

राजा श्रेणिक संतुष्ट हुआ और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला भगवान् अनाथ का यथार्थ स्वरूप आपने मुझे ठीक तरह समझाया है।

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी।

तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य जं मे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं॥ 55

राजा श्रेणिक- हे महर्षि! तुम्हारा मनुष्य जन्म सफल है, तुम्हारी उपलब्धियाँ सफल हैं, तुम सच्चे सनाथ और सबान्धव हो क्योंकि तुम जिनेश्वर के मार्ग में स्थित हो।

तं सि नाहों अणाहाणं सव्वभूयाण संजया।

खामेमि ते महाभाग! इच्छामि अणुसासिउं॥ 56

हे संयत! तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ। मैं तुम से अनुशासित होने की इच्छा रखता हूँ। मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिये निमन्त्रण दिया, उन सबके लिये मुझे क्षमा करो इस प्रकार राजसिंह श्रेणिक अनगार सिंह मुनि के परम भक्ति में स्तुति कर अन्तःपुर(रानियों) तथा अन्य परिजनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया। राजा के रोमकूप आनन्द से उच्छवासित-उल्लसित हो गये। वह मुनि की प्रदक्षिणा और सिर से वन्दना करके लौट गया और वह गुणों से समृद्ध, तीन गुणियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरत, मोह मुक्त मुनि पक्षी की भांति विप्रमुक्त अप्रतिबद्ध होकर भूतल पर विहार करने लगे।

बौद्ध धर्म में वर्णित अशरण भावना

बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।

आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता॥ 10

नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमत्तमुं।

नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ 11

मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, आराम (उद्यान), चैत्य वृक्ष (चौरा) आदि को देवता मान उनकी शरण में जाते हैं; किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छूटकारा नहीं मिलता।

यो च बुद्धच् धम्मञ्च संघञ्च सरणं गतो

चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्यञ्जाय पस्सति॥ 12

दुक्खं दुक्खं समप्पादं दुक्खचस्स च अतिक्शकमं।

अरियञ्चट्ठिकं मग्गं दुक्खुपसमगामिनं॥ 13

एवं खो सरणं खेतं सरण मुत्तमं।

एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति।। 14

जो बुद्ध धर्म और संघ की शरण गया है, जिसने चार आर्य सत्त्यों दुःख-दुःख की उत्पत्ति दुःख से मुक्त मुक्ति और गामी आर्य अष्टांगक मार्ग को सम्यक् प्रज्ञा से देख लिया है, यही मंगलदायक शरण है। यही उत्तम शरण है। इसी शरण को प्राप्त कर (व्यक्ति) सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

दुल्लभो परिसाजज्जो न सो सब्बत्थ जायति।

यत्थ सो जायति धीरो तं कुलं सुखमेधति।। 15

उत्तम पुरुष दुर्लभ, वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता, वह धीर (पुरुष) जहाँ उत्पन्न होता है, उस कुल में सुख की वृद्धि होती है।

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।

सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो।। 16

सुखदायक है बुद्धों का जन्म, सुखदायक है सद्धर्म का उपदेश, संघ में एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकतायुक्त होकर तप करना।

पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके।

पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णेसोकपरिह्वे।।17

पूजनीय बुद्धों, अथवा (उनके) श्रावकों की जो संसार को अतिक्रमण कर गए हैं, शोक, भय को पार कर गए हैं-पूजा के (या) उन ऐसे मुक्त और निर्भय (पुरुषों) की पूजा के, पुण्य का परिणाम “इतना है- यह किसी से भी नहीं कहा जा सकता है। (धम्म पद)

पार्श्व पर उपसर्ग भये, कोई न राखन हार।

जो अपना आश्रय लहे, ताके न मारन हार।। (कनकनन्दी)

एकमेव परम शरण सूत्र II

अरस अरूव अगंधो अच्चावाहो अणंतणाणमओ।

अण्णे ण मज्झ सरण सरणं सो एग परमप्पा।। (36) (कल्याणा.)

पद्य- अरस अरूप अगंध अव्याबाध अनन्त ज्ञानमय।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

आत्मस्वरूप एवं परस्वरूप

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगोन्द्र गोचरः।

बाह्यः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ (27)

I am one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by master ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way!

पुनः शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरु! किस प्रकार निर्ममत्व चिन्तन का उपाय है ? गुरु निर्ममत्व का उपाय बताते हैं-

द्रव्यार्थिक नय से मैं एक हूँ, मैं ही पूर्व परावस्थाओं में अनुश्रुत रूप में रहने के कारण मैं एक हूँ यह मेरा है, मैं इसका हूँ इसी प्रकार अभिप्राय से शून्य होने के कारण निर्मम हूँ। शुद्ध नय की अपेक्षा द्रव्य कर्म, भावकर्म से निर्मुक्त होने के कारण मैं शुद्ध हूँ। स्व-पर प्रकाश होने के कारण मैं ज्ञानी हूँ। अनन्त पर्यायों को युगपत् जानने वाले केवल ज्ञानी और श्रुतकेवली के शुद्धोपयोगस्वरूप ज्ञान का विषय हूँ। मैं स्वसंवेद्य के द्वारा जानने योग्य हूँ। जो द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से प्राप्त भाव तथा देह आदि हैं वे सर्व मेरे से सर्वथा सर्व प्रकार से बाह्य है, भिन्न है।

समीक्षा :- इस श्लोक में आचार्य श्री ने स्वयं को अनुभव करने के/ध्यान करने के/प्राप्त करने के कुछ उपाय बताये हैं। भले व्यवहार नय से द्रव्य कर्म आदि के संयोग से जीव में विभिन्न वैभाविक भाव तथा शरीर आदि पाये जाते हैं तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह आत्मा के स्वभाव नहीं है। ये सब पर संयोगज अशुद्ध भाव है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा भी है-

अहमिक्को खलु सुद्धो णिममओ णाणदंसणमग्गो।

तट्ठिमि ठिओ तच्चिट्ठो सेस सव्वे खय णेमि॥ 73॥

टीका-यह मैं ज्ञाता हूँ सो प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चैतन्यमात्र ज्योति हूँ। अनादि, अनंत, नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभाव रूप से तो एक हूँ और समस्त कर्ता, कर्म, कारण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण स्वरूप जो कारकों का समूह उसकी प्रक्रिया से पार उतरा दूरवर्ती निर्मल, चैतन्य अनुभूति मात्र रूप से शुद्ध हूँ। जिनका द्रव्य स्वामी है ऐसे जो क्रोधादि भाव उनकी विश्व रूपता (समस्तरूपता)उनका स्वामित्व से सदा ही अपने नहीं परिणमने के कारण उनसे ममता रहित हूँ। तथा

वस्तु का स्वभाव सामान्य विशेष स्वरूप है इसलिए चैतन्यमात्र तेज पुंज भी वस्तु है इस कारण सामान्यविशेष स्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूँ। ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थ स्वरूप वस्तु विशेष हूँ। इसलिए मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त पर द्रव्य से प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेष रूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होती थी, उनके विरोध से इस चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न क्रोधादिक भावों का क्षय करता हूँ ऐसा आत्मा में निश्चय कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज या वह जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भंवर की तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित निर्मल आत्मा को अवलम्बन करता विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम्।

आत्मचैतन्य रूपोऽहं महामानन्दचिद् घनः।

आनन्दामृतरूपोऽहं मात्म सं स्भोऽहं गन्तरः

आत्मकामोहमाकाशात्परमात्मेऽशरोऽस्म्यहम्।१२।

ईशानोऽस्म्यहं मीड्योऽहमनुत्रमपुरुषः।

उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाद्रहनुतरोऽस्म्यहम्। १३।

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधियः।

गुहाशयोऽहं गोप्ताऽहं चक्षुषक्षुररम्यहम्।१४।

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्रिद्घनश्रिन्मयोऽस्यमहम्।

ज्योतिर्मयाऽरम्यहं ज्यायान्ज्योतिषांज्योतिररम्यहम्। १५। (उपनिषद्)

मैं आदि मध्य और अन्त से रहित हूँ आकाश के सदृश हूँ, मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ, आनन्द चेतन घन हूँ। मैं आनन्दामृत रूप हूँ, आत्म संस्थित हूँ, अन्तर हूँ, आत्मा काम हूँ और आकाश में परमात्मा परमेश्वर स्वरूप हूँ। मैं ईशान हूँ, पूज्य हूँ, उत्तम पुरुष हूँ, उत्कृष्ट हूँ, उपद्रष्टा हूँ और पर से भी परे हूँ। मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ, कारण का अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ, और नेत्रों नेत्र हूँ, मैं चिदानन्द हूँ, चेतना देने वाला हूँ, चिद्घन और चिन्मय हूँ, मैं ज्योतिर्मय हूँ, और मैं ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति हूँ।

अणोरणीयान तद्वन्।महानदं विश्रमिदं विचित्रम्।

पुरातनोऽहं पूरीषोऽहमीशो हिरण्ययोऽहं शिवरूपमस्मि॥ 20॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिःपश्चयाम्यचक्षु च शृणोम्यकर्णः।

अहंविजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्त सदाहम्॥ 21॥

वेदैरनकैरहमेव वेद्यो वेदान्मकृद्वेदविवेदेव चाहम्॥ 22॥

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति।

न भूमिरापो ममवहिरस्तिन चानिलो मेऽस्ति च चाम्बरं च॥ 23॥ (उप.)

मैं छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा हूँ। इन अद्भुत संसार को मेरा ही स्वरूप मानना चाहिए। मैं ही शिव और ब्रह्मा का स्वरूप हूँ। मैं ही परमात्मा और विराट पुरुष हूँ। वह शक्ति जिसके न हाथ-पैर हैं और न जिसके सम्बन्ध में चिन्तन किया जा सकता है, वह परब्रह्म मैं ही हूँ। सर्वदा चित्त स्वरूप रहता हूँ मुझे कोई जान और समझ नहीं सकता, मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने, स्थूल कानों के बिना सब कुछ सुनने और स्थूल आँखों के बिना सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हूँ। मैं ही देव का उपदेश करता हूँ, मैंने ही वेदान्त की रचना की है और सारे वेद मेरे ही सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। मैं जन्म और नाम से परे हूँ। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से रहित हूँ। मेरे भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश कुछ सम्बन्धि नहीं है।

त्यक्तवो लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च।

आत्मन्येव स्थितो यस्तु याति परमां गतिम्॥ 1॥

नामगोत्रादिवरणं देश काल श्रुतं कुलम्।

वयो व्रतं व्रतंशील ख्यायन्नैव सद्यतिः॥ 2॥

न संभाषोत्त्रियं काचित्पूर्वदृष्टं च न स्मरेत्।

कथां च वर्जयेत्तासां न पश्चयेयल्लिखितामपि॥ 3॥

एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामजरतो यतेः।

चित्त विक्रियतेऽवश्यं यद्विकारात्प्रणश्यति॥ 4॥

तृष्णां क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये।

शिल्प व्याख्यानयोगशः च कामो रागः परिग्रहः॥ 5॥

अहंकारो मत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्।

प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः।

प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥ 6॥

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।

समाननं च न ब्रूयान्मुनिर्माक्षपरायणः॥ 7॥

प्रतिग्रहं न गृह्यीयात्रैव चान्यं प्रदापयेत्।

प्रेरयैद्धा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन॥ 8॥

ज्यायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम्।

श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमीहौ त्यजेद्यतिः॥ 9॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहाः।

अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादा स्थैर्यमार्जवम्॥ 10॥

अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिदर्मः शमः।

उपेक्षा धैर्यमाधुर्यं तितिक्षा करुणा तथा॥ 11॥

हीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगा लध्वशनं धृतिः।

एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्॥ 12॥ (उपनिषद)

जो सन्यासी लोक, वेद, विषयों के भोग और इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर आत्म स्थित रहता है वह परम गति को पाता है। सन्यासी अपने नाम, गोत्र- कुल, देश-काल, अवस्था, शील, व्रत, शास्त्र-ज्ञान आदि के सम्बन्ध में किसी से वार्ता न करे। किसी स्त्री से बात न करे, पूर्व परिचित स्त्री का स्मरण न करे, स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा न सुने। क्योंकि स्त्री सम्बन्धी चर्चा, उनका स्मरण, चित्रावलोकन तथा संभाषण आदि से मन में विकार की उत्पत्ति होती है और वह उसकी योग भ्रष्टता का कारण होता है। सन्यासियों के लिए मोह-ममता, माया-लोभ, तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहंकार भावना, संग्रह, व्याख्यान, शिल्प, चिकित्सा-व्यवसाय, परगृह, निवास, प्रायश्चित्त, औषधि वितरण, मंत्र प्रयोग, धर्मार्थ साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं। जो ऐसा करता है वह अपने धर्म से पतित होता है। मुमुक्षु सन्यासी अपने किसी सुहृद जन

का भी स्वागत, सन्मान न करे और न उसे अपने पास ठहरावे। किसी का दिया हुआ दान न ले। किसी दूसरे को भी न दिलावे। किसी को दान देने या लेने की भी प्रेरणा न करे। स्त्री-पुरुष आदि किसी भी प्रियजन के शुभ या अशुभ समाचार को देख-सुनकर कभी विचलित न हो, हर्ष-शोक का सर्वथा त्याग करे। अहिंसा भाव, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनौद्धत्य शान्ति, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेहाभाव, गुरु-सेवा, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, उदासीनता, धीरता, मधुरता, सहन-शीलता, करुणा, लज्जा, धारणा, स्वल्पाहार और ज्ञान-विज्ञान-परायणता-सन्यासी के लिए यह धर्मरूप से पालनीय है।

एकमेव परमशरण सूत्र III

णोयपमाणं णाणं समए एगेण हुंति ससहावे।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (37)(कल्याणा.)

पद्य- ज्ञेयप्रमाण ज्ञान समय एक में होता है स्व-स्वभाव से।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

सन्दर्भ-

ज्ञेय ज्ञान में वर्तन करते हैं -

जदि तेण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगदं।

सव्वगदं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।। (31) प्र.सा.

If those objects are not within the knowledge, knowledge can not be all-pervasive; the knowledge is all-pervasive, how then objects are not existence in it ?

आगे पूर्व सूत्र में यह बात कही गई कि व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में वर्तन करता है अब यह उपदेश करते हैं कि पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं-

(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ (णाणं) केवलज्ञान में (ण संति) नहीं हो अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकार को समर्पण करने के द्वारा ज्ञान में न झलकते हों तो (णाणं) केवल ज्ञान (सव्वगय) सर्वगत (ण होइ) नहीं होवे(वा) अथवा यदि व्यवहार से (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मति से है तो व्यवहार नय से (अट्ठा) पदार्थ

अर्थात् अपने ज्ञेयाकार को ज्ञान में समर्पण करने वाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्टिया) केवल ज्ञान में स्थित है किन्तु ज्ञान में अवश्य तिष्ठते हैं। ऐसा मानना होगा।

यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहार नय से ही जब ज्ञेयों के ज्ञानकार को ग्रहण करने के द्वारा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है। इसलिए ही सब ज्ञेयों के ज्ञानाकार समर्पण द्वार से पदार्थ भी व्यवहार से ज्ञान में प्राप्त हैं, ऐसा कह सकते हैं। पदार्थों के आकार को जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञान को देते हैं, यह कहना होगा।

समीक्षा- जैसे प्रकाश पदार्थ को प्रकाशित करता है एवं पदार्थ प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेय को प्रकाशित करता है एवं ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है ज्ञान व्यवहार से ज्ञेयाकार रूप में परिणमन करता है, जैसे कैमरा में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं कैमरे का लेन्स एवं प्लेट प्रतिबिम्ब रूप में परिणमन करता है, तब जाकर कैमरा में उस वस्तु का चित्रांकन होता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो चित्रांकन नहीं होगा। इसी प्रकार केवल ज्ञान रूपी कैमरा में ज्ञानरूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस प्रतिबिम्ब रूप केवलज्ञान परिणमन करता है। यदि ऐसा नहीं होता तब लोकालोक व्याप्त ज्ञेय को केवलज्ञान नहीं जान सकता और केवलज्ञान सर्वव्यापी भी नहीं होता परन्तु केवलज्ञान सर्वव्यापी है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से ज्ञेय, ज्ञानाकार रूप परिणमन करता है और ज्ञान, ज्ञेयाकार रूप परिणमन करता है।

केवली ज्ञेय को जानता न कि ज्ञेय रूप होता

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।

पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।। (32)

The omniscient lord neither accepts nor abandons. nor transforms the external objectivity; he sees all around and knows everything completely.

आगे यह समझाते हैं कि यद्यपि व्यवहार से ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थों के साथ ग्राह्य ग्राहक अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि निश्चय से स्पर्श आदि का सम्बन्ध नहीं है इसलिये ज्ञानी को ज्ञेय पदार्थों के साथ भिन्नपना ही है-

(केवली) केवली भगवान् सर्वज्ञ (परं) पर द्रव्य रूप ज्ञेय पदार्थों को (गेव गिण्हदि) न तो ग्रहण करते हैं, (ण मुञ्चदि) न छोड़ते हैं (न परिणमदि) न उस रूप परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है उनकी पर द्रव्य से भिन्नता ही है। तब वे क्या वे पर द्रव्य को नहीं जानते ? उसके लिये कहते हैं कि यद्यपि भिन्न हैं तथापि व्यवहार नय से (सो) वह भगवान् (णिरवसेसं सव्वं) बिना अवशेष के सबको (समंतदो) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के साथ (पेच्छदि) देखते हैं तथा (जाणदि) जानते हैं।

अथवा इसी का दूसरा व्याख्यान यह है कि केवली भगवान् भीतर तो काम, क्रोधादि भावों को और बाहर में पांचों इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, न अपने आत्मा के अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते हैं। यही कारण है जो केवलज्ञानी आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल में ही एक साथ सर्व को देखते-जानते हुए भी अन्य विकल्प रूप परिणमन नहीं करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते हैं ? अपने स्वभाव रूप केवलज्ञान की ज्योति से निर्मल स्फटिक मणि के समान निश्चल चैतन्य प्रकाश रूप होकर अपने आत्मा के द्वारा आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं। इसी कारण से उनकी परद्रव्यों के साथ एकता नहीं है, भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

समीक्षा-उपरोक्त अनेक गाथाओं में वर्णित विषय एवं उदाहरण से सिद्ध होता है केवलज्ञान रूपी दर्पण/ज्योति ज्ञेय रूपी वस्तुओं को प्रतिबिम्बित प्रकाशित करती है, तो भी न ज्ञेय को ग्रहण करती है, न छोड़ती है, न परिणमन करती है। यदि ज्ञान अन्य रूप परिणमन करेगा तो आत्मा अचेतन हो जायेगा अथवा शून्य हो जायेगा क्योंकि ज्ञानगुण के अभाव से आत्मा ज्ञानशून्य होने के कारण अचेतन हो जायेगा अथवा ज्ञान गुण के अभाव से आत्मा गुणी का भी अभाव हो जायेगा। जैसे दीपक समीपस्थ योग्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ भी वस्तु रूप नहीं होता है, उसको ग्रहण नहीं करता, उसका त्याग भी नहीं करता है। उसी प्रकार केवलज्ञान रूपी आदित्य के बारे में जान लेना चाहिए।

ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद

जो जाणदि सो गाणं णहवदि णाणेण जाणगो आदा।

णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठि सव्वे।। (35)

He who knows is knowledge; the self does not become a knower with knowledge(as an extraneous instrument) The very self develops knowledge, and all the objects stand (reflected) in the knowledge.

आगे कहते हैं कि आत्मा अपने से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा ज्ञानी होता है अर्थात् ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद नहीं है किसी अपेक्षा से भेद है, वास्तव में ज्ञान और आत्मा अभिन्न है।

(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा है। जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके उष्ण गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिणमति हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है। 'जानातीति ज्ञानमात्मा' जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है। (आदा) आत्मा(णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणगो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है। किसी का ऐसा मत है कि जैसे दंतीले से देवदत्त घास का काटनेवाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञाता होवे तो कोई दोष नहीं है। उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध में दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तैसे ही ज्ञान की क्रिया में उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हों, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुंभ, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं। (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्ति में मिट्टी का पिंड स्वयं उपादन कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ(णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित हैं अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय

पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा- ज्ञान गुण एवं गुणी कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है। इसलिए कथंचित् ज्ञान-ज्ञानी हैं और कथंचित् ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण स्वरूप भी है। अथवा आत्मा स्वयं से भिन्न अन्य किसी ज्ञान गुण के संयोग से ज्ञेय को जानता है ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान के संयोग से पहले आत्मा अचेतन रहेगा। तथा ज्ञान के संयोग से चेतन होगा। और भी एक अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा वह यह है कि ज्ञान गुण सत्ता कैसे संभव है ? कोई दार्शनिक ज्ञान एवं ज्ञान का फल ही मानते हैं और कोई अभिन्न ही है ऐसा मानते हैं परन्तु ज्ञान एवं उसका फल कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, यह वस्तु स्वरूप है। प्रमेयरत्नमाला में कहा भी है-

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (1)

अज्ञान की निवृत्ति हान, उपादान और अपेक्षा से प्रमाण के फल है।

फल दो प्रकार का होता है-साक्षात्फल और पारम्पर्यफल। वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्पराफल हैं, क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च। (2)

यह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः।(3)

जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽमिधायि यत्।

देवैर्भिन्नाभिन्नं च प्रमाणात्तहोदितम्॥ (11)

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है उसके फलरूप से परिणाम देखा जाता है, इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करण रूप परिणाम है और फल

क्रियारूप परिणाम है इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक् नहीं कहा है।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और अभिन्न भी है, वही यहाँ पर मैंने कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञेय स्वरूप

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।

दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं॥ (36)

There for the self is knowledge; the object of knowledge is the substance, which is said to be threefold; the substance comprise the soul and the (five) other (substances) which are prone to modification.

आगे बताते हैं कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते हैं। क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूप से ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थों को जानता है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञान स्वरूप आत्मा का ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्याय में परिणमन रूप से या द्रव्य गुण पर्याय रूप से उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप से ऐसे तीन प्रकार(समक्खाद) कहा गया है। (पुणो) तथा (परिणाम संबद्ध) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वं ति) द्रव्य है तथा क्योंकि ज्ञान दीपक के समान अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहाँ पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है। उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी

अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है, उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्वपर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायेगा तो अनंत आकाश में फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायेगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिये ज्ञान स्व-पर प्रकाशित है ऐसा सूत्र का अर्थ है।

समीक्षा- जैसे दीपक स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् स्वयं प्रकाशित होता है एवं पर को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् ज्ञान गुण के द्वारा स्वयं को जानता है और दूसरों को भी जानता है। जब आत्मा स्वयं को जानता है उस समय वह कथंचित् ज्ञेय भी हो जाता है अन्य दृष्टि से भी आत्मा ज्ञेय भी है क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य गुण भी ज्ञान ही के विषय बनते हैं। इसलिए अन्यगुणों की अपेक्षा आत्मा ज्ञेय भी बन जाता है। अन्य अचेतन द्रव्य केवल ज्ञेय ही होते हैं कभी ज्ञान नहीं होते क्योंकि उसमें चैतन्य शक्ति नहीं होती है। जैसे-जो द्रव्य स्वयं अप्रकाशी है वह द्रव्य को प्रकाश नहीं दे सकता परन्तु अन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है। जैसे विज्ञान की अपेक्षा सूर्यप्रकाशी एवं परप्रकाशी भी है। क्योंकि जब सूर्य उदय होता है तब सूर्य को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। कोई यह नहीं कहता कि मुझे उदित सूर्य को देखता है एक टार्च लेकर आओ परन्तु अंधकार में कोई भी अप्रकाशित वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला(जैन न्याय शास्त्र) में कहा भी है-

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (1)

स्व अर्थात् अपने आपको और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से पूर्व में जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। (6)

स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय हैं। अपने आपके जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वोन्मुखता कहिए स्वानुभव रूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया। (7)

जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है। सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण किया गया। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवस्था कहते हैं, उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने-आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

घटमहमात्मना वेद्मि।(8)

मैं घटको अपने आपके द्वारा जानता हूँ। यहाँ पर 'अहं' पद कर्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरुष अपने आपके द्वारा घटको जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

प्रदीपवत्। (12)

दीपक के समान। जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिये। यहाँ तात्पर्य है- ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है, क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट-अनुयायी करने वाला है, जैसे दीपक का भासुराकार। नियम सार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है-

'यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक्॥

यथार्थ रूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और पर अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति-जानने रूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है।'।

जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।

तो ण वि किं पि विणेयं विणा क्हं णाणं।। (247)

यदि सब वस्तु ज्ञानरूप ही हैं और एक ज्ञान ही नाना पदार्थों के रूप में

स्थित है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं रहा। ऐसी स्थिति में बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है ?

ज्ञानद्वैतवादी बाह्य घट, पट आदि पदार्थों को असत् मानता है और एक ज्ञान को ही सत् मानता है। उसका कहना है कि अनादि वासना के कारण हमें बाहर में ये पदार्थ दिखाई देते हैं। किन्तु वे वैसे ही असत्य हैं जैसे स्वप्न में दिखाई देने वाली बातें असत्य होती हैं। इस पर आचार्य का कहना है कि यदि सब ज्ञानरूप ही है तो ज्ञेय तो कुछ भी नहीं रहा और जब ज्ञेय ही नहीं है तो बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है, क्योंकि जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं और जो जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं। जब जानने के लिये कोई है ही नहीं, तो ज्ञान कैसे हो सकता है?

घट-पट-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।

णाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्णरूवाणि।। (248)

घट पट आदि जड़ द्रव्य ज्ञेयरूप से सुप्रसिद्ध हैं। उनको ज्ञान जानता है। अतः ज्ञान से वे भिन्न रूप हैं।

जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं-गेहादि-बाहिरं अत्थं।

जो त पि णाण मण्णदि ण मुणदि सो णाण-णामं पि।। (249)

जो शरीर मकान वगैरह बाह्य पदार्थ समस्त लोक में प्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञानरूप मानता है वह ज्ञान का नाम भी नहीं जानता।

ज्ञान त्रिकाल की अवस्थाओं को जानता

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। (37)

All modifications, present and absent, of all those types of substances, atand essentially(reflected) in the knowelege, as if in the present.

आगे कहते हैं कि आत्मा के वर्तमान ज्ञान में अतीत और अनागत पर्यायें वर्तमान के समान दिखती हैं-

(तासिं दव्वजादीणं) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्यों की व अन्य द्रव्यों की (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सदसब्भूदा) सब्भूत और असब्भूत अर्थात् वर्तमान,

भूत तथा भविष्य काल की (पञ्जया) पर्यायें (हि) निश्चय से या स्पष्ट रूप से (णाणे) केवलज्ञान में (विसेसदो) विशेष करके अर्थात् अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार भेदों के साथ संकर, व्यतिकर दोष के बिना (तक्कलिगेव) वर्तमान पर्यायों के समान (वट्टंते) वर्तती हैं अर्थात् प्रतिभासती हैं या स्फुरायमान होती हैं।

भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मति श्रुतज्ञानी पुरुष के भी अंतरंग में मन से विचारते हुए पदार्थों की भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमयी भीत पर बाहुबली भरत आदि के भूतकाल के रूप तथा श्रेणिक तीर्थकर आदि भावीकाल के रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं तैसे-भीत के चित्र समान केवलीज्ञान में भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे केवली भगवान् पर द्रव्यों की पर्यायों को उनके ज्ञानाकार मात्र से जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणों का आधारभूत अपनी ही सिद्ध पर्याय को ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूप से तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीव को भी उचित है कि अन्य द्रव्यों का ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म द्रव्य की सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चरित्र रूप निश्चयरत्नत्रयमयी अवस्था को ही सर्व तरह से तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

समीक्षा- त्रैकालिक पर्यायों का समूहभूत द्रव्य है। किसी न किसी समय में द्रव्य किसी न किसी अवस्था में रहेगा ही। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय रहती है। भूत एवं भावी पर्यायें वर्तमान द्रव्य में प्राग्भाव एवं प्रध्वंसाभाव रूप में रहती हैं। केवलज्ञान विशद् निरपेक्ष, प्रत्यक्ष, अनंतानंत ज्ञान प्रतिच्छेद से युक्त होने के कारण वह केवलज्ञान वर्तमान पर्याय के माध्यम से भूत एवं भविष्यत् पर्यायों को भी जान लेता है। एक लौकिक उदाहरण से प्रस्तुत इस महान् गूढ रहस्य का विशदकरण कर रहा हूँ। जैसे-अल्पज्ञ (छद्मस्थ) व्यक्ति एक किशोर को देखकर अपने क्षयोपशमिक ज्ञान से यह अनुमान लगाता है कि यह किशोर पहले माता के गर्भ में था, जन्म लेकर शिशु से बढ़ता-बढ़ता किशोर हुआ है एवं यह आयुक्रम से बढ़ता हुआ, युवक, प्रौढ वृद्ध होकर मृत्यु को भी प्राप्त करेगा। यदि इसकी आयु कम है तो युवक, प्रौढ, वृद्ध बने या न बने पर निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त करेगा। और भी एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ-रोटी को

देखकर हमें पहले यह ज्ञान होता है कि पहले गेहूँ को खेत में बोया गया था, फिर अंकुर होकर पौधा बनकर गेहूँ आया तथा पका हुआ उस गेहूँ को काट-छाँट कर गेहूँ को अलग किया गया, पश्चात् गेहूँ को (पीसकर) रोटी बनाई गई यह हुआ भूत से वर्तमान का ज्ञान। वह अनुमान से जानता है कि यदि कोई इसका भक्षण करेगा तो यह रूधिर रूप में परिवर्तित होगी और यदि कोई भक्षण नहीं करेगा तो सड़-गल जायेगी। छद्मस्थ व्यक्ति अल्पज्ञ होने के कारण द्रव्य की कुछ पर्यायों को जान सकता है परन्तु सर्वज्ञ अनन्त ज्ञानी होने से सम्पूर्ण द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं। दिगम्बर महाश्रमण आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है-

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व पर्यायेषु अ.1, तत्त्वार्थ सूत्र (26)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

रूपिष्ववधेः। (27) अ. 1

अवधि ज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।

तदन्तन्तभागे मनःपर्ययस्य।(28)

मनः पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।

सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य। (29)

केवल की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।

कलिकाल सर्वज्ञ, तार्किक चूडामणि, बहुभाषा विद् 'महाप्रज्ञ' वीरसेन स्वामी ने जयधवला तथा धवला में इस सिद्धान्त का वर्णन बहुत ही तर्कसबद्ध आगमोक्त रूप में किया है-

असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि यह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनो व्यापार की अपेक्षा से रहित होता है।

शंका- केवलज्ञान आत्मा के सहायता से होता है, इसलिए उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं ?

समाधान- नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता है, इसलिए केवलज्ञान को केवल अर्थात् असहाय कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका-केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं ?

समाधान- नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और उत्पन्न हुए अनागत पदार्थों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थ की सहायता से होता है यह नहीं कहा जा सकता है।

शंका- यदि विनष्ट और अनुत्पन्न रूप से असत् पदार्थ में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खर विषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होओ ?

समाधान- नहीं, क्योंकि खर विषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है उसी प्रकार उस का भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता है। अर्थात् जैसे वर्तमान पदार्थ में उसकी अतीत पर्यायें, जो कि पहले हो चुकी हैं, भूत शक्ति रूप से विद्यमान हैं और अनागत पर्यायें, जो कि आगे होने वाली हैं, भविष्यत् शक्ति रूप से विद्यमान हैं उस तरह खर विषाण-गधे का सींग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूत शक्ति रूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान होती अथवा वह आगे होने वाला होता तो भविष्यत् शक्ति रूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान रहती। किन्तु खर-विषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा अतः उस में केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

शंका- जबकि अर्थ में भूत पर्यायें और भविष्यत् पर्यायें भी शक्ति रूप से विद्यमान रहती हैं तो केवल वर्तमान पर्यायों को ही अर्थ क्यों कहा जाता है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में ही अर्थपना पाया जाता है।

शंका- यह व्युत्पत्त्यर्थ अनागत और अतीत पर्यायों में भी समान है अर्थात् जिस प्रकार पूर्व में कही गई व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में अर्थपना पाया जाता है उसी प्रकार अनागत और अतीत पर्यायों में भी अर्थपना संभव है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि अनागत और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायों भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें 'अर्थ' यह संज्ञा नहीं दी जा सकती हैं। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय हैं। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना

चाहिये। जय धवाला, पु. 121

केवलणाणं णाम, सव्व दव्वाणि अदीदाणागय-वट्टमाणाणि
सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।। धवाला, पृ. 1

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों सहित सम्पूर्ण द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

नमःश्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।। (1) श्रावकाचार
जिनकी आत्मा ने कर्म रूप कलङ्क को नष्ट कर दिया है अर्थात् जो वीतराग है, अथवा जिनकी आत्मा ने हितोपदेश देकर अन्य आत्माओं-जीवों को कर्म कलङ्क से रहित किया है अर्थात् जो हितोपदेशी हैं और जिनका केवलज्ञान अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में दर्पण के समान आचरण करता है अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं उन अन्तिम तीर्थकर श्री वर्द्धमान स्वामी को अथवा अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त होने वाले चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार करता हूँ।

असद्भुत पर्यायों को भी ज्ञान जानता

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलघिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं दिव्वं णाणंत्ति हि के परूवेत्ति।। (39)

if that omniscience would not directly visualise the future and past modifications, who than would call that knowledge super-natural?

आगे इसी बात को दृढ़ करते हैं कि असद्भुत पर्यायें ज्ञान में प्रत्यक्ष हैं- (जदि) यदि (अजादं) अनुत्पन्न जो अभी पैदा नहीं हुई हैं ऐसी भावी (च पलघयं) तथा जो चली गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञान के (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो (तं णाणं) उस ज्ञान को (दिव्वत्ति) दिव्य अर्थात् अलौकिक अतिशय रूप (हि) निश्चय से (के) कौन (परूवेत्ति) कहें ? अर्थात् कोई भी न कहें। भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्याय की तरह भूत और भावी पर्याय को केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञान के विधान से रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे। जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्य व

उसकी पर्यायों को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनंदमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयीपने से ज्ञान क्रिया करते हैं तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य और उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते हैं तथापि निश्चय से विकार रहित स्वसंवेदन पर्याय में अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्र तात्पर्य है।

समीक्षा- इस गाथा के पहले-पहले आचार्य कुंदकुंद देव ने केवलज्ञान की अलौकिकता, विशिष्टता, दिव्यता, अनंतशक्ति सम्पन्नता, त्रिकालज्ञता, प्रत्यक्षता का वर्णन, आगमोक्त सतर्क रूप से करने के बाद यहाँ प्रश्नात्मक रूप से उसको ही दृढीकरण किया है। उनका प्रश्नात्मक रूप में उत्तर देना यह है कि यदि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान के समान केवलज्ञान भी कुछ निश्चित पर्यायों द्रव्यों को जानेगा और भावी एवं भूत पर्यायों को समग्रता से नहीं जानेगा तो केवलज्ञानी, दिव्यज्ञानी कैसे होगा ? अर्थात् ऐसा ज्ञान दिव्यज्ञान या केवलज्ञान नहीं हो सकता है इसलिये केवलज्ञान निश्चय से समस्त ज्ञेय एवं उनकी समस्त पर्यायों को जानता है।

एकमेव परमशरण सूत्र IV

एयाणेयवियप्पसाहणे सयसहावसुद्धगदी।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (38) (कल्याणा.)

पद्य- एकानेक विकल्प से सिद्ध हो विभिन्न स्वभाव तो भी एकरूप।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

“मेरा स्व-शुद्धात्मा के अनन्त वैभव का स्मरण”

(राग: जय हनुमान...नरेन्द्र छन्द...आत्मशक्ति से...)

दोहा- मैं मेरा शुद्ध स्वरूप का...कर रहा हूँ स्मरण।

सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात है....आचार्यों ने किया वर्णन।।

मैं हूँ आत्मा सबसे महान्...सबसे महान् मेरे गुण।

द्रव्य में हूँ श्रेष्ठ द्रव्य...तथाहि तत्त्व पदार्थ महान्।।

मुझमें गुण (गण) अनन्त होते...तथाहि पर्याय होती अनन्त।

अतः सर्वज्ञ ही मुझे जानते...विज्ञानी भी न जानते मेरा रूप।।

सर्वगुण भी अभी मुझे है न ज्ञात...स्मरण करूँ जो सूरी प्रणीत।
 स्व-स्मरण रूपी स्व-आत्म ध्यान...करने हेतु मैं यहाँ किया वर्णन।।
 चैतन्यभाव धारण करने योग्य...“जीवत्व” शक्ति से मैं संयुक्त।
 जड़रहित मेरा होना स्वभाव...“चिति” शक्ति से हूँ मैं संयुक्त।।
 अनाकार उपयोगमय मेरा रूप...“दर्शन” शक्ति से मैं हूँ मण्डित।
 साकार उपयोगमय मेरा रूप...“ज्ञान” शक्ति से मैं हूँ पण्डित।।
 अनाकुलतामय है “सुख” शक्ति...स्व-स्वरूप रचने की “वीर्य” शक्ति
 अखण्डित प्रतापशाली “प्रभुत्व” शक्ति...सर्वभावों में व्यापक “विभुत्व” शक्ति।
 लोकालोक के “अवलोकन” शक्ति...सत्तामात्र दर्श “सर्वदर्शी” शक्ति।
 विश्व-प्रतिविश्व “ज्ञायक” शक्ति...अविशेष जानना “सर्वज्ञ” शक्ति।।
 विश्व प्रतिबिम्बित “स्वच्छत्व” शक्ति...स्वयं प्रकाशमान “प्रकाश” शक्ति।
 क्षेत्रकालादि “असंकुचितविकास” शक्ति...अव्याबाधा अमोघ परम शक्ति।।
 “अकार्य-करणत्व” विशेष शक्ति...स्वयंभू अन्य अकारक स्वतंत्र शक्ति।
 “परिणाम्य-परिणामकत्व” जो शक्ति...ज्ञेय-ज्ञानाकार ग्रहण शक्ति।।
 “त्याग-उपादान शून्यत्व” शक्ति...हीनाधिकरहित स्वरूप /(नियत) शक्ति।
 षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि परिणति...‘अगुरुलघुत्व’ यह विशेष शक्ति।।
 “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व” की शक्ति...क्रमवर्ती पर्याय व गुणों की शक्ति।
 इससे युक्त है, “परिणाम” शक्ति...कर्मबन्ध रहित “अमूर्तत्व” शक्ति।।
 “अकर्तृत्व” शक्ति से मैं हूँ सम्पन्न...अन्य का नहीं हूँ मैं कर्ता निदान।
 “अभोक्तत्व” शक्ति से मैं हूँ पूर्ण...स्व का भोक्ता हूँ न अन्य सम्पूर्ण।।
 “निष्क्रियत्व” शक्ति से मैं हूँ युक्त...कर्मरहित से निश्चल युक्त।
 असंख्यात ही हैं मेरे आत्मप्रदेश...अतएव मेरे हैं नियतप्रदेश।।
 सर्वशरीरों में है एक स्वरूप...“स्वधर्मव्यापकत्व” यह स्वरूप
 “अनन्तधर्मत्व” है मेरी शक्ति...विलक्षण स्वभावों की मैं (हूँ) समिष्टी।
 “विरुद्धधर्मत्व” है मेरी शक्ति...तद्-अतद्गुणों की मैं (हूँ) समिष्टी।
 मैं हूँ “तत्त्व” मैं हूँ “अतत्त्व”... मैं हूँ “एकत्व” तथा “अनेकत्व”।।
 मैं हूँ “भाव” तथा “अभाव”...“भावाभाव” व “अभाव भाव”।
 मैं हूँ “क्रिया” मैं हूँ “कर्म”...मैं हूँ “कर्तृ” मैं हूँ “करण”।।

“सम्प्रदान” व “अपादान” मैं हूँ... “अधिकरण” व “सम्बन्ध” मैं हूँ।
 “अस्तित्व” “वस्तुत्व” “प्रमेयत्व” मैं हूँ... “ज्ञाता” “ज्ञेय” “उपादेय” मैं हूँ।
 “अस्तित्व” “वस्तुत्व” “प्रमेयत्व” मैं हूँ... “ज्ञाता” “ज्ञेय” उपादेय” मैं हूँ।
 “सच्चिदानन्द” “ब्रह्मरूप” हूँ... “ज्ञानानन्द” सिद्ध स्वरूप हूँ।
 देव मानव व नारकी तिर्यच...कर्मजनित न शुद्ध स्वरूप।।
 नीलावर्ण नहीं आकाशरूप...कर्मजनित नहीं मम स्वरूप।
 राजा-महाराजा- व चक्री वैभव...कर्मजनित है जड़ स्वभाव।।
 मेरा वैभव है चैतन्य भाव...अनन्त अविनाशी आत्म-वैभव।
 इसी हेतु चक्री बनते मुनि...आत्म वैभव हेतु बनते ध्यानी।।
 मैं भी इसका ही करता ध्यान...आत्म-वैभव इच्छुक ‘कनक’ मुनि।

संदर्भ-गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। (41) मो.शा.

Gunas or attributes depend upon substance and are never without it. An attribute as such cannot be the substratum of another attribute although of course, many attribute can co-exist in one and the same substances at one and the same time and place. Three can not be a attribute of an attribute.

जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और गुणरहित हैं वे गुण हैं।

जिसमें गुण आश्रय लेते हैं अर्थात् जिसमें गुण रहते हैं वह आश्रय है। गुणों को कोई न कोई आश्रय चाहिये, गुण आश्रय के बिना नहीं रह सकते और द्रव्य को छोड़कर अन्य आधार हो नहीं सकता।

जो नित्य द्रव्य के आश्रय से रहता है वह गुण है। यद्यपि पर्यायें भी द्रव्य में रहती हैं, परन्तु पर्यायें कादाचित्क है अतः ‘द्रव्याश्रयाः’ इस पद से पर्यायों का ग्रहण नहीं होता है। अतः ‘द्रव्याश्रयाः’ इस पद से अन्वयी धर्म गुण है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि, जीव के अस्तित्वादि और ज्ञान, दर्शन आदि गुण है और पुद्गल के अचेतनत्व आदि रूप-रसादि गुण हैं।

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो या गुणा व दव्वदो अण्णे।

दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति।। (44) (पंचास्तिकाय,)

प्रदेशों की अपेक्षा भी यदि द्रव्य से गुण-अलग हो तो जो अनन्तगुण द्रव्य में एक साथ रहते हैं वे अलग-अलग होकर अनन्त द्रव्य हो जावेंगे और द्रव्य से जब सब गुण भिन्न हो गए तब द्रव्य का नाश हो जावेगा। यहाँ पूछते हैं कि गुण किसी के आश्रय या आधार से रहते या वे आश्रय बिना होते हैं ? यदि वे आश्रय से रहते हैं ऐसा कोई माने और उसको और कोई दोष दे तो यह कहना होगा कि, जो अनन्त ज्ञान आदि गुण जिस किसी एक शुद्ध आत्म द्रव्य में आश्रय रूप है उस आत्म द्रव्य से यदि वे गुण भिन्न-भिन्न हो जावें, इसी तरह दूसरे शुद्ध जीव द्रव्य में भी जो अनन्त गुण हैं वे भी जुदे-जुदे हो जावे तब यह फल होगा कि शुद्धात्मा द्रव्यों से अनन्तगुणों के जुदा होने पर शुद्ध आत्म द्रव्य अनन्त हो जावेगा। जैसे ग्रहण करने योग्य परमात्म द्रव्य में गुण और गुणी का भेद होने पर द्रव्य की अनन्तता कही गई वैसी ही त्यागने योग्य अशुद्ध जीव द्रव्य में तथा पुद्गलादि द्रव्यों में भी समझ लेनी चाहिए अर्थात् गुण और गुणी का भेद होते हुए मुख्य या गौण रूप एक-एक गुण का मुख्य या गौण एक-एक द्रव्य आधार होते हुए द्रव्य अनन्त हो जावेगा तथा द्रव्य के पास से जब गुणों का समुदाय द्रव्य है। यदि ऐसे गुण समुदाय रूप द्रव्य से गुणों का एकांत से सर्वथा; भेद माना जाएगा तो गुण समुदाय स्वरूप का अस्तित्व द्रव्य कहाँ रहेगा ? किसी भी तरह नहीं रह सकता है।

अविभक्तमणणत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं

णिच्छंति णिच्च्यण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं।। (45)

जैसे-परमाणु का वर्णादि गुणों के साथ अभिन्नपना है अर्थात् उनमें परस्पर प्रदेशों जैसे-परमाणु का वर्णादि गुणों के साथ अभिन्नपना है अर्थात् उनमें परस्पर प्रदेशों का भेद नहीं है तैसे शुद्ध जीव द्रव्य का केवलज्ञानादि प्रगटरूप स्वाभाविक गुणों के साथ और अशुद्ध जीव का मतिज्ञान आदि प्रगट रूप विभाव गुणों के साथ तथा शेष द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ यथासंभव एकपना है अर्थात् द्रव्य और गुणों के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का अभाव जानना चाहिए। निश्चय स्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जैसे हिमाचल और विंध्याचल पर्वत में भिन्नपना है अथवा एक क्षेत्र में रहते हुए जल और दूध का भिन्न प्रदेशपना है ऐसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों का नहीं मानते हैं तो भी एकांत से द्रव्य और गुणों का अन्यपने से विपरीत एकपना भी नहीं मानते हैं अर्थात् जैसे द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा अभिन्नपना है तैसे संज्ञा

आदि की अपेक्षा से भी एकपना है ऐसा नहीं मानते हैं अर्थात् एकांत से द्रव्य और गुणों का न एकपना मानते हैं न भिन्नपना मानते हैं। बिना अपेक्षा के एकत्व व अन्यत्व दोनों को नहीं मानते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भेदाभेद दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की एकता से एकपना है। संज्ञादिकी अपेक्षा द्रव्य और गुणों का अन्यपना है ऐसा आचार्य मानते हैं।

**ववदेसा संठाणा सख विसया य होंति ते बहुगा।
ते तेसिमणण्णते अण्णत्ते चावि विज्जंते।। (46)**

कथन या संज्ञा के भेद आकार के भेद संख्या या गणना और विषय या आधार ये बहुत प्रकार के होते हैं। ये चारों उन द्रव्य और गुणों की एकता में तैसे ही उसकी भिन्नता में होते हैं।

**णाणं घणं कुव्वदि घणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू।।(47)**

जैसे धन का अस्तित्व भिन्न है और धनी पुरुष का अस्तित्व भिन्न है इसलिये धन और धनी का नाम भिन्न है, धन का आकार भिन्न है, धनी पुरुष का आकार भिन्न है, धन की संख्या भिन्न है, धनी पुरुष की संख्या भिन्न है, धन का आधार भिन्न है धनी का आधार भिन्न है तो भी धन को रखने वाला धनी है ऐसा जो कहता है सो भेद या पृथक्त्व व्यवहार है। तैसे ही ज्ञान का अस्तित्व ज्ञानी से अभिन्न है ऐसे ज्ञान का अभिन्न अस्तित्व रखने वाले ज्ञानी आत्मा के साथ अभेद कथन है। ज्ञान का नाम ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञानी का नाम ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान का संस्थान ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञान का आधार ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञानी का आधार ज्ञान से अभिन्न है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानी में अपृथक्त्व या अभेद कथन है। इन दोनों दृष्टान्तों के अनुसार द्राष्टांत विचार लेना चाहिए जहाँ भिन्न-भिन्न द्रव्य हो उनके नामादि भिन्न जानना चाहिए।

**णाणी णाणं च सदा अत्यंतरिदा दु अण्णमण्णस्स।। (48)
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।**

जैसे यदि अग्नि गुणी अपने गुण उष्णपने से अत्यन्त भिन्न हो जाये तो अग्नि दग्ध करने के कार्य को न कर सकने से निश्चय से शीतल हो जावे। उसी प्रकार जीव गुणी अपने ज्ञान गुण से भिन्न हो जावे तो पदार्थ को जानने में असमर्थ होने से

जड़ हो जावे। जैसे उष्ण गुण से अग्नि अत्यन्त भिन्न यदि मानी जावे तो दहन क्रिया के प्रति असमर्थ होने से शीतल हो जावे तैसे ही ज्ञान गुण से अत्यन्त भिन्न यदि ज्ञानी जीव माना जावे तो वह पदार्थ के जानने को असमर्थता को होता हुआ अचेतन जड़ हो जावे तब ऐसा हो जावे जैसे देवदत्त घसियारे से उसका घास काटने का दतीला भिन्न है वैसे ज्ञान से ज्ञानी भिन्न हो जावे तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दतीला तो छेदने के कार्य में मात्र बाहरी उपकरण है परन्तु भीतरी उपकरण तो वीर्यातराय के क्षयोपशम से उत्पन्न पुरुष का वीर्य विशेष है। यदि भीतर शक्ति न हो तो दतीला हाथ में होते हुए भी छेदने का काम नहीं हो सकता है। तैसे ही प्रकाश, गुरु आदि बाहरी सहकारी कारणों के होते हुए यदि पुरुष में भीतर ज्ञान का उपकरण न हो तो वह पदार्थ को जानने रूप कार्य नहीं कर सकता है।

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।

तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धिंत्ति णिदिट्ठा।। (50)

जैन मत में समवाय उसी को कहते हैं जो साथ-साथ रहते हो अर्थात् जो किसी अपेक्षा एकरूप से अनादिकाल से तादात्म्य सम्बन्ध या न छूटने वाला सम्बन्ध रखते हो ऐसा साथ वर्तन गुण और गुणी का होता है इससे दूसरा कोई अन्य से कल्पित समवाय नहीं है। यद्यपि गुण और गुणी में संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद है तथापि प्रदेशों का भेद नहीं है इससे वे अभिन्न है तथा-जैसे दंड और दंडी पुरुष का भिन्न-भिन्न प्रदेशपनारूप भेद है तथा वे दोनों मिल जाते हैं ऐसा भेद गुण और गुणी में नहीं है। इससे इनमें अयुतसिद्धपना (अभेदपना) या एकपना कहा जाता है। इस कारण द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना सदा से सिद्ध है। इस व्याख्यान में यह अभिप्राय है कि जैसे जीव के साथ ज्ञान गुण का अनादि तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है तथा वह श्रद्धान करने योग्य है वैसे ही जो अव्याबाध, अप्रमाण, अविनाशी व स्वाभाविक रागादि दोष रहित परमानन्दमई एक स्वभाव रूप पारमार्थिक सुख है इसको आदि लेकर जो अनन्त गुण केवलज्ञान में अन्तर्भूत हैं उनके साथ ही जीव का तादात्म्य सम्बन्ध जानना योग्य है तथा उसी ही जीव को रागादि विकल्पों को त्यागकर निरन्तर ध्याना चाहिए।

वण्णरसगंधफासा परमाणुरूविदा विसेसेहिं।

दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति।। (51)

दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि पण्णभूदाणि।

ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो।। (52)

निश्चय से वर्ण, रस, गंध स्पर्श परमाणु में कहे हुए गुण पुद्गल द्रव्य से अभिन्न है तो भी व्यवहार से संज्ञादि की अपेक्षा भेदपने के प्रकाशक है तैसे जीव से तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले दर्शन और ज्ञान गुण जीव से अभिन्न है सो संज्ञा आदि से परस्पर भिन्नपना करते है। निश्चय से स्वभाव से पृथक्पना नहीं करते है। क्योंकि द्रव्य और गुणों का अभिन्न अन्वय रूप से सम्बन्ध है।

“चेतनमय जीवों में भी होते हैं अनेक अचेतन गुण”

(“द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः” की समीक्षा)

(आगम एवं अनेकान्त की रहस्यपूर्ण कविता)

(राग : 1. इतनी शक्ति हमें....., 2. धन्य हमारे भाग्य जगे....)

जीव में अनन्त होते हैं गुण, प्रमुख होता है चेतना गुण।

चेतना है ज्ञान दर्शनमय, अन्य गुण हैं अचेतनमय ॥ ध्रु॥

अनेकान्त से होता है सिद्ध, ‘द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः’ प्रसिद्ध।

हर गुण स्वतंत्र मौलिक होता, द्रव्य आश्रय से निवास करता।। (1)

अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व गुण, अगुरुलघु अव्याबाधत्व गुण।

सूक्ष्मत्व अवगाहनत्व गुण, सामान्य व अचेतनत्व गुण।। (2)

‘प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा’, अकलंक स्वामी ने कहा।

‘ज्ञानदर्शनतस्तस्मात्चेतना’, चेतन-अचेतनमय भी कहा।। (3)

नानास्वभाव (होने) से एकानेक (भी) भाव, अचिन्त्य अनन्त विचित्र भाव।

सर्वज्ञज्ञान गम्य यह स्वभाव, आगम वर्णित स्वभाव भाव।। (4)

तथापि जीव न होता अचेतन, चैतन्य अनुश्रुत सम्पूर्ण गुण।

एकक्षेत्रावगाही अनादिनिधन, भिन्न होते संज्ञा संख्यादि लक्षण।। (5)

चेतन से ज्ञात होते अन्य गुण, ज्ञान-ज्ञेय भाव आत्मा का गुण।

अस्तित्वादि होते सामान्य गुण, जीवाजीव व्यापी स्वभाव गुण।। (6)

यथा स्पर्श रस गन्ध व वर्ण, पुद्गल के होते प्रमुख गुण।
 तथापि स्पर्श रसादि न होता, रस भी स्पर्शादि गुण न होता।। (7)
 तथापि पुद्गलद्रव्य में होते, एक ही क्षेत्र में सदा रहते।
 तथाहि चेतन-अचेतन गुण, अभिन्न-भिन्न प्रत्येक गुण।। (8)
 अतएव कर्म भी विभिन्न होते, दो-तीन आठ संख्यात होते।
 असंख्यात आदि अनन्त होते, जीव के अनन्त गुण को ढाकते/(नाशते)।।(9)
 अनुजीवी नशते घाती कर्म से, प्रतिजीवी गुण-अघाती से नशते।
 केवली बनते घाती कर्म नाश से, मुक्त बनते सर्व कर्म नाश से।। (10)
 (अष्ट/(सर्व) कर्म नाश हेतु हो प्रयत्न, जिससे प्रगट होंगे गुण अनन्त।
 इसी हेतु 'कनक' प्रयासरत, सर्व जीव प्राप्त करे मोक्ष।। (11)

“द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणः”

का यथार्थ एवं व्यंग्यात्मक कथन

(राग : शत-शत वन्दन...नरेन्द्र दन्द)

“द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः”...मुझे सिखाता है पाठ अनेक।
 हर द्रव्य में होते ही हैं...स्वभाव से गुण अनेक ।। ध्रु.।।
 एक गुण अन्य न होता...हर गुण स्वतन्त्र होता है।
 हर द्रव्य में अनन्त गुण...गुणसमूह ही द्रव्य होता है।।
 अनादिकाल से हर द्रव्य हैं...रहेगा भी अनन्त तक।
 ऐसा ही है हर गुण रहता...अनादिकाल से अनन्त तक।। (1)
 अस्तित्व वस्तुत्व आदि गुण...हर द्रव्य में होते हैं स्थित।
 चेतनादि जीव गुण हैं तो...अजीव में अचेतन स्थित।।
 यह वर्णन आगम कथित है...जो है वस्तु स्वभावगत।
 कुछ वर्णन करूँ व्यंग्यात्मक...जिसका वर्णन है निम्नोक्त।। (2)
 द्रव्य अर्थात् धन आश्रय से...निर्गुणी भी गुणी होता है।
 “सर्वगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते”...लौकिक में देखा भी जाता।।
 धनवान् निर्गुणी जन भी...समाज राष्ट्र में मान्य होता।

धनरहित सुगुणी जन भी...समाज राष्ट्र में अमान्य / (तुच्छ) होता।। (3)

शरीर रूपी द्रव्य जिसका...सुन्दर लचीला होता है।

अश्लील-कामुक नाच-गान से...लाखों लोगों को दास बनाता है।

उसे देखने-सुनने को तो...लाखों की भीड़ उमड़ जाती है।

समय साधन धन खर्च कर...नैतिकता को खोती है।। (4)

हीरो-हिरोईन खिलाड़ी नेता...जो सुगुण से भी रहित होते।

ऐसे निर्गुणी कुजन भी...सुगुणी से अधिक मान्य भी होते।।

सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री...मोही मानवों के गुण ही होते।

सत्य अहिंसा क्षमा मार्दव...आत्मिक गुण भी अमान्य होते।। (5)

षट् द्रव्यसंग्रह नहीं द्रव्यसंग्रह...धनसंग्रह है द्रव्यसंग्रह।

इन कुप्रवृत्ति के कारण ही जीव...संसारचक्र में करे भ्रमण।।

सत्य-तथ्य के परिज्ञान हेतु...‘कनकनन्दी’ द्वारा यह रचना हुई।

हेय त्याग कर उपादेय गहे...जिनकी मति सुमति हुई।। (6)

“ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय”

(आगम निष्ठ कविता)

(राग: 1. आरती कीजे हनुमान लला की...2. चौपाई

3. शत-शत वन्दन... 4. नरेन्द्र छन्द...) प्रथम तुला...

विश्व के चतुर्विध तत्त्व को जानो, ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय को मानो।

ज्ञान स्वरूप है जीव स्वरूप, ज्ञेय स्वरूप है विश्व स्वरूप।।

ध्येय स्वरूप है मोक्ष स्वरूप, हेय स्वरूप है अनात्म रूप।

ज्ञेय को जानना ज्ञान-स्वभाव, ज्ञान होता है चेतना रूप।। (1)

सुज्ञान-कुज्ञान ज्ञान के भेद, पाँच व तीन क्रमशः प्रभेद।

सम्यक्त्व सहित होता सुज्ञान, मिथ्यात्व सहित होता कुज्ञान।।

ज्ञेय ध्येय हेय जाने सुज्ञान, अयथार्थ जाने वह कुज्ञान।

ध्येय प्राप्ति में सुज्ञान हेतु, कुज्ञान संसार भ्रमण हेतु।। (2)

जीव-अजीव होता है ज्ञेय, ज्ञान भी होता है स्वयं भी ज्ञेय।

अजीव के होते पंच प्रभेद, जीव के संसारी मुक्त प्रभेद।।
 ध्येय होता है मोक्ष स्वरूप, जीव द्रव्य का शुद्ध स्वभाव।
 हेय से युक्त होता अशुद्ध, हेय रहित होता है शुद्ध।। (3)
 राग-द्वेष मोह होते हैं ज्ञेय, पंच पाप सप्त व्यसन हेय।
 भाव-द्रव्यकर्म होते हैं हेय, हेय त्याग से मिलता ध्येय।।
 हेय त्याग हेतु उपाय करो, रत्नत्रय रूपी मार्ग स्वीकारो।
 ध्यान अध्ययन समता धरो' "कनक" आत्मा में रमण करो।। (4)

“नय के भेद-प्रभेद”

(वैश्विक कथन पद्धति)

(आगम द्रव्य आध्यात्मिक एवं व्यवहार दृष्टि से)

(जैन सिद्धान्त की वर्णमाला)

(राग : चौपाई)

निश्चय व्यवहार स्वरूप को जानो...अनेकान्त स्याद्वाद रूप पहचानो।
 प्रमाण-नयमय सत्य पहचानों...सत्यार्थ ज्ञान हेतु उपाय मानों।। (1)

सत्य है अनन्त द्रव्य गुणमय...केवलज्ञान का ज्ञेय विषय।
 असर्वज्ञ का ज्ञान सीमित होता...नयज्ञान से वह सत्य को जानता।। (2)

अनन्त होते हैं नय प्रभेद...हर द्रव्य-गुण-पर्याय भेद।
 ज्ञातु अभिप्राय होते हैं नय...अतएव नय के तद्रूप भेद।। (3)

वर्णन हेतु नय संक्षेप कथन...निश्चय-व्यवहार आत्म कथन।
 द्रव्य-पर्यायार्थिक विभिन्न नय...शुद्ध अशुद्धमय अनेक भेद।। (4)

निश्चयनय अभेद कथन को करता...भेदन कथन को व्यवहार करता।
 आत्मा का कथन आध्यात्म करता...द्रव्यार्थिक नय द्रव्यों का करता।। (5)

पर्यायार्थिक नय पर्यायों को कहता-शुद्धनय शुद्ध भावों को कहता।
 अशुद्ध भावों को अशुद्ध कहता...दृष्टि सापेक्ष कथन ही होता।। (6)

- भेद-अभेद को नैगम कहता...अभेद रूप को संग्रह कहता।
 व्यवहारनय भेद को बोलता...संग्रह ग्राह्य को भेद में कहता।। (7)
- ऋजुसूत्रनय सरल को कहता...एक समयवर्ती पर्याय को मानता।
 शब्दनय शुद्ध शब्द को कहता...समभिरूढ़ अभिरूढ़ को मानता।। (8)
- वर्तमान क्रिया (को) एवंभूत मानता...उत्तरोत्तर सूक्ष्म ग्राहित होता।
 सापेक्ष दृष्टि से सत्य भी होता...निरपेक्ष से मिथ्या भी होता।। (9)
- यथा निश्चय से जीव है चेतन...व्यवहार से शुद्ध-अशुद्ध चेतन।
 शुद्ध चेतन है मुक्त जीव...अशुद्ध चेतन संसारी जीव।। (10)
- द्रव्यनय से जीव एक द्रव्य...पर्याय से संसारी मुक्त जीव।
 उत्तरोत्तर-भेद-प्रभेद होते...संख्यात असंख्य अनन्त होते।। (11)
- नयो से सत्य का ज्ञान होता...आत्म-परमात्मा का भान होता।
 नयज्ञान अतः करणीय होता...'कनकनन्दी' सत् प्रयास करता।। (12)

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः। (42)

The becoming of that is modification parinama or modification of a substance is the change in the character of its attributes.

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है।

धर्मादिक द्रव्य जिस रूप से होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व हैं। धर्मादि द्रव्यों का जो निज स्वरूप है वह उसका भाव तद्भाव कहलाता है। द्रव्यों के उस भाव को परिणाम कहते हैं अर्थात् द्रव्य जिस रूप में है उसके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं।

वह परिणाम सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। धर्मादि द्रव्यों के गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह, अवकाश दान, वर्तना आदि परिणाम अनादि है, क्योंकि जब से धर्मादि द्रव्य है तभी से इनके परिणाम है। धर्मादि द्रव्य पहले हो और गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह बाद में किसी समय में हुए हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि धर्मादि के साथ इनका सम्बन्ध अनादि है। धर्मादि अनादि है अतः गति उपग्रह आदि

परिणाम अनादि है। बाह्य कारणों/निमित्त से जो उत्पाद होता है, जो द्रव्यों के परिणाम (पर्यायें) उत्पन्न होते हैं, वे परिणाम आदिमान् (सादि) हैं।

दोनों नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि होती है अर्थात् पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सर्व धर्मादि द्रव्यों में परिणाम सादि है और द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से सभी द्रव्यों के परिणाम अनादि है। यह विशेषता है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान् परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव तथा पुद्गलों का परिणाम कथंचित् प्रत्यक्षगम्य भी होता है।

एकमेव परमशरण सूत्र V

देहपमाणो णिच्चो लोयपमाणो वि धम्मदो होदि।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (39)(कल्याणा.)

पद्य-देह प्रमाण नित्य व लोक प्रमाण प्रदेशमय परमात्मा।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

सन्दर्भ -

जीव का प्रदेशत्व स्वभाव

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।

असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।। (10)

According to Vyavahara Naya, the conscious jiva, being without Samudghata. becomes equal in extent to a small or a large body, by contraction and expansion:but according to Nischaya Naya(it) exist in innumerable Pradesas.

व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव, संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चयनय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

जीव में संकोच-विस्तार करने की शक्ति है, जिस प्रकार रबड़, प्लास्टिक आदि में संकोच-विस्तार की शक्ति होती है। इस संकोच-विस्तार की शक्ति के कारण ही जीव संसार अवस्था में शरीर-नाम कर्म के उदय से जिस छोटे-बड़े शरीर को प्राप्त करता है उस शरीर के आकार रूप यह जीव हो जाता है। जिस

प्रकार दीपक का प्रकाश छोटे-बड़े कमरे के कारण संकोच-विस्तार को प्राप्त हो जाता है।

आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है-

प्रदेशसंहार विसर्पाभ्याम् प्रदीपवत्। अ. 5

प्रदेश संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति।

क्योंकि प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है। लोकाकाश में जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही प्रदेश एक जीव द्रव्य में होते हैं। यहाँ प्रश्न स्वाभाविक है कि दोनों के प्रदेश समान हैं तो एक लोकाकाश में एक जीव रह सकता है, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, अनंत नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

कार्माण शरीर के वश से ग्रहण किए गए सूक्ष्म एवं बादर शरीर के अनुसार अनुवर्तन होना संहार और विसर्प है। अमूर्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि संबंध के प्रति एकत्व होने से कथंचित मूर्तता को धारण किए हुए है और लोकाकाश के बराबर इसके प्रदेश हैं फिर भी जब यह कार्माण शरीर के कारण ग्रहण किए गए सूक्ष्म शरीर में रहता है तथा इसके प्रदेशों का शुष्क चर्म के समान संकोचित होकर प्रदेशों का संहार हो जाता है। जब कार्माण शरीर के कारण बादर शरीर में रहता है तब जल में तेल के समान प्रदेशों का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है।

उस संकोच-विस्तार के कारण प्रदीप के समान लोक के असंख्येयादि भागों में जीव रहता है। जैसे-निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए प्रदीप का आकाश बहुदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा, मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिमाण वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश सिकोरा आदि आवरण में संकुचित होकर जहाँ रखा गया है, उसी प्रमाण हो जाता है अर्थात् उतने में ही सीमित हो जाता है, उसी प्रकार संहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असंख्येय एक भागादि में परिछिन्न वृत्ति जाननी चाहिए।

जह पउमरायरयणं खित्त खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि।। पं.का.

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर अपने से अभिन्न प्रभा समूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादिकाल से कषाय द्वारा मलिनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभा समूह में उफान आता है। अर्थात् वह विस्तार को प्राप्त होता है और दूध बैठ जाने पर प्रभा समूह भी बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश में उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनः जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में व्याप्त होता है उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभासमूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है उसी प्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि अमूर्त जीव का संकोच-विस्तार कैसे संभव है ?
उसका समाधान किया जाता है।

अमूर्त के संकोच-विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से साध्य है, क्योंकि सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि जीव स्थूल तथा कृश शरीर में तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है। जीव के जो प्रदेश मोटे शरीर में फैले हुए थे, वे ही शरीर के पतले हो जाने पर सिकुड गए तथा बालक के शरीर में जो जीव के प्रदेश सिकुड़े हुए थे वे ही फैल जाते हैं। इस प्रकार से जीव के प्रदेशों का संकोच तथा विस्तार सिद्ध होता है। पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेश मान होने से यथोक्त पूर्व कथित प्रकार अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेश आदि द्वयणुक आदि स्कंधों के हेतुभूत तथाविध उस प्रकार के स्निग्ध और रुक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्ति रूप स्वभाव के कारण उस पुद्गल के प्रदेशों का बहुप्रदेशत्व का उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्व की भी संभावना होने से पुद्गल द्विप्रदेशत्व से

लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेशत्व भी न्याय युक्त है।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।

अप्पदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो।। 584 गो.जी.

एक जीव अपने प्रदेशों के संहार-विसर्प की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर रहता है।

आत्मा में प्रदेश संहार-विसर्पत्व गुण है। इसके निमित्त से उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं। इसलिए एक क्षेत्र शरीर प्रमाण की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर हजार योजन तक का होता है। इसके आगे समुद्घात की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग तथा संपूर्ण लोक प्रमाण भी होता है।

समुद्घात के समय आत्मप्रदेश कार्माण शरीर एवं तैजस शरीर के साथ मूल औदारिक शरीर को छोड़कर बाहर निकलते हैं, जिसके कारण गाथा में कहा गया है कि असमुद्घात के समय में जीव स्वशरीर के बराबर रहता है। समुद्घात का स्वरूप एवं उसके भेद का वर्णन नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में निम्न प्रकार से किया है-

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।

णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घाद णामं तु।। 667

मूल शरीर को न छोड़ कर, उत्तरदेह के व जीवपिण्ड के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो समुद्घात है।

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणांतियो समुग्घादो।

तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु।। 668

वह समुद्घात वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली इस तरह सात प्रकार का होता है।

यहाँ पर “अणु” शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवे भाग परिमाण जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदशरीर है, उसका ग्रहण करना चाहिए और पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिए और “गुरु” शरीर यहाँ पर “गुरु” शब्द से एक हजार योजन परिमाण जो महामत्स्य का शरीर है, उसको ग्रहण करना चाहिए और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों का ग्रहण है।

एकमेव परमशरण सूत्र VI

केवलदंसणणाणं समये एगेण दुण्णिणउवओगा।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (40)(कल्याणा.)

पद्य- एक समय में दोनों उपयोग केवल दर्शन व ज्ञानमय।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

सन्दर्भ -

जैनमत में ज्ञान को कथंचित सविकल्प और कथंचित और निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते हैं कि जैसे विषयों में आनंद रूप जो स्वसंवेदन है वहा राग के जानने रूप विकल्प स्वरूप होने से सविकल्प है, तो भी बाकी के नहीं चाहे हुए जो सूक्ष्म विकल्प है उनका सद्भाव होने पर भी उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, इस कारण से उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। इस प्रकार निज शुद्ध आत्मा से उस ज्ञान रूप जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है और निजसंवित्ति के आकार रूप के जानने रूप के जानने रूप एक विकल्प के होने से यद्यपि सविकल्प है, तथापि बाह्य विषयों के नहीं चाहे हुए विकल्पों का उस ज्ञान में सद्भाव होने पर भी उनकी उस ज्ञान में मुख्यता नहीं है। इस कारण से उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं और जिस ही कारण से यहाँ अपूर्व स्वसंवित्ति के आकार रूप अंतरंग में मुख्य प्रतिभास के होने से भी बाह्य विषय वाले नहीं चाहे हुए सूक्ष्म विकल्प भी है, उस ही कारण से ज्ञान निज तथा पर जो प्रकाश करने वाला भी सिद्ध हुआ।

सत्तावलोकन रूप दर्शन का स्वरूप

जं समाणं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।

अविसेसिदूण अट्टे दंसणमिदि भण्णए समए।। 43 द्र.स.

That preception of the generalities of things without particularities which there is no grasping of details, is called Darsana in (Jaina) scriptures.

यह शुक्त है, यह कृष्ण है इत्यादि रूप से पदार्थ को भिन्न भिन्न न करके और विकल्प को न करके जो पदार्थों का सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकन रूप से

ग्रहण करना है उसको परमागम में दर्शन कहा गया है।

आचार्य श्री ने इस गाथा में जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु सामान्य सत्ता अवलोकन रूप निर्विकल्प दर्शन है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहा भी है-

जं सामणं गहणं दंसणमेयं।

अर्थात् किसी भी वस्तु का सामान्य रूप से जानना दर्शन है। सम्यग्दर्शन तो “तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन” अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना/प्रतीति करना/विश्वास करना/मानना सम्यग्दर्शन है।

इसीलिये श्रद्धान सम्यग्दर्शन तो विकल्प रूप है परंतु सत्तावलोकन रूप जो दर्शन है वह निर्विकल्प रूप है। क्योंकि जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है और जब तक देखने वाला विकल्प न करे तब तक जो सत्तामात्र का ग्रहण है उसको “दर्शन” कहते हैं। जैसे-एक व्यक्ति का उपयोग अध्ययन में लगा हुआ था। कोई व्यक्ति उसके सामने आया तब वह अध्ययनशील व्यक्ति आगुंतक व्यक्ति को जानने के लिए अपने उपयोग को अध्ययन से हटाता है और उस व्यक्ति की ओर लगाता है उसे ही “दर्शन” कहेंगे। उस समय में सामान्य रूप से उस व्यक्ति की सत्ता/मौजूदगी/उपस्थिति/ का तो आभास होता है। परंतु वह व्यक्ति छोटा है या बड़ा, गोरा है या काला, जान-पहचान का है या अनजान इसका ज्ञान नहीं होता है और फिर जब यह काला है या गोरा, छोटा है या बड़ा, जान-पहचान का है या अनजान ऐसा विकल्प होता है तब उस समय से ज्ञान प्रारंभ हो जाता है अर्थात् दर्शन के बाद ज्ञान की विभिन्न अवस्थायें अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा यथायोग्य प्रारंभ हो जाती हैं। यह दर्शन इतना सूक्ष्म है और इसकी अवधि इतनी कम है जिससे इसका परिज्ञान छद्मस्थ को स्पष्ट रूप से प्रतिभासित नहीं होता है। विशेष ज्ञातव्य यह है कि दर्शन मोहनीय कर्म के यथायोग्य क्षयादि से सम्यग्दर्शन होता है परंतु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमादि से सत्तावलोकन दर्शन होता है।

छद्मस्थ एवं केवली के दर्शनोपयोग का क्रम

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।

जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि।। 44।।

In Samsari jivas, jnana is preceded by Darshana For this reason (in him), the two Upayagas(viz) jnana and Darshana) do not(arise) simultaneously But in Kevalis both of these two (arise) simultaneously.

छद्मस्थ जीवों को दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समय में नहीं होते तथा जो केवली भगवान है उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक समय में होते हैं।

छद्मस्थ=छद्म+स्थ अर्थात् छद्म में रहने वाला। छद्म का अर्थ ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म। इन तीनों कर्मों से आवृत्त होने वाला छद्मस्थ है अर्थात् 1. गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक ऐसा जो छद्मस्थ जीव है वह दर्शनपूर्वक ज्ञान करता है। इसलिये छद्मस्थ जीव के दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती है। एक साथ प्रवृत्ति न होने के कारण ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म रूपी विरोधी कारण का सद्भाव है। परंतु जीव जब संपूर्ण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय के साथ-साथ मोहनीय और अंतराय कर्म का नाश करके सकल परमात्मा (13वें, 14वें गुणस्थानवर्ती) बनता है व संपूर्ण कर्म को नष्ट करके निकल परमात्मा सिद्ध भगवान् बनता है तब उसके दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग की प्रवृत्ति युगपत् अर्थात् एक साथ होती है। क्योंकि दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग की प्रवृत्ति युगपत्, अर्थात् एक साथ होती है। क्योंकि युगपत् प्रवृत्ति को रोकने के कारण भूत ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म है उसका समूल विनाश हो गया। जैसे-मध्याह्न के सूर्य के सामने स्थित बादल के पूर्ण हटने के कारण सूर्य की किरणें तथा सूर्य का ताप एक साथ गमन करते हैं।

कुछ श्वेताम्बर आचार्य केवलियों के भी केवलज्ञान केवल दर्शन पूर्वक होता है ऐसा मानते हैं परंतु ऐसा मानने पर अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। यथा-ज्ञेय अनंत होने के कारण दर्शन पूर्वक ज्ञान होने पर संपूर्ण वस्तु का दर्शन एवं ज्ञान केवलज्ञानियों को भी नहीं हो सकता है। ज्ञानावरणीय कर्म एवं दर्शनावरणीय कर्म जब एक साथ नष्ट होते हैं तब दोनों उपयोग एक साथ प्रवृत्त क्यों न हो ? क्रम से प्रवृत्त होने के कारण क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर आगमोक्त रीति से देने में श्वेताम्बर जैन निरूत्तर हैं। क्योंकि दिग्म्बर एवं श्वेताम्बर दोनों आचार्य मानते हैं कि-

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। 1. सभाष्य तत्वार्थ
मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ करता है।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।। 30

केवलज्ञान का विषय निबंध संपूर्ण द्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायों में है क्योंकि वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव विशिष्ट तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप सभी पदार्थों को ग्रहण करता है, संपूर्ण लोक और अलोक को विषय किया करता है। इससे बड़ा और कोई भी ज्ञान नहीं है, और न ऐसा ज्ञेय ही है जो कि केवलज्ञान का विषय होने से बाकी बचा रहे। इस ज्ञान को केवल-परिपूर्ण-समग्र-असाधारण निरपेक्ष-विशुद्ध-सर्वभावज्ञापक-लोकालोकविषयक और अनंत पर्याय ऐसे नामों से कहा करते हैं।

महान् दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर को दोनों संप्रदाय वाले अपना-अपना आचार्य मानते हैं। ऐसे सिद्धसेन आचार्य ने भी “सन्मति सूत्र” में केवल ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग की प्रवृत्ति एक साथ होती है ऐसा कहा है। यथा-

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।

केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं।। 3

ज्ञान और दर्शन के समय की भिन्नता मनः पर्ययज्ञान तक होती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, पहले दर्शन होता है और उसके पश्चात् ज्ञान होता है। किंतु केवलज्ञान की अवस्था में ज्ञान और दर्शन में क्रम नहीं होता है। केवलज्ञान या पूर्णज्ञान होने पर दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं क्योंकि दर्शन और ज्ञानक्रम छद्मस्थों (अल्पज्ञानियों) में पाया जाता है। केवलज्ञान में और दर्शन के उपयोग-काल में भिन्नता नहीं है।

दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि।

तेण सुविणिच्छियामो दंसणणाणा ण अण्णतं।। 22

यह तो अत्यंत स्पष्ट है कि दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, ज्ञानपूर्वक दर्शन नहीं होता। इससे ही हम निश्चय करते हैं कि दर्शन और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। किंतु दर्शन और ज्ञान का यह भेद व्यवहार अल्पज्ञ जीवों में होता है। सर्वज्ञ भगवान् में इसका

भेद व्यवहार नहीं है। उनके तो एक ही उपयोग होता है। उस केवल उपयोग के दो अंश हैं- एक अंश का नाम केवलदर्शन और दूसरे का नाम केवलज्ञान है।

मइसुयणाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो।

एगयरम्मि वि तेसिं णं दंसणं दंसणं कत्तो।। 27

अल्पज्ञों को पदार्थ का ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के निमित्त से होता है। मतिज्ञान से होने वाला वस्तु ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। किंतु श्रुत (आगम) से होने वाला पदार्थ-ज्ञान-दर्शन पूर्वक नहीं होता है। अतः शास्त्र की इस मर्यादा को ध्यान में रखकर दर्शनोपयोग की स्वतंत्र सिद्धि हेतु इस गाथा में कहा गया है कि यदि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों में से किसी एक के पहले दर्शन का होना माना जाए तो फिर दर्शन कब और कैसे हो सकता है ?

जं अप्पुट्टे भावे जाणइ पासइ च केवली णियमा।

तम्हां तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं।। 30

केवली भगवान् नियम से अस्पृष्ट पदार्थ को जानते, देखते हैं इसलिए उनमें ज्ञान, दर्शन, भेदविहीन सिद्ध होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि केवल परमात्मा संपूर्ण पदार्थों को युगपत् जानते, देखते हैं, इसलिए तीनों लोकों के पदार्थ उनके ज्ञान से स्पष्ट होते हैं। वे समस्त पदार्थों को साक्षात् रूप से ग्रहण करते हैं जिससे उनमें अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान रूप एक ही उपयोग सिद्ध होता है।

साई अपज्जवसियं ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।

परतित्थियवत्तव्वं च एगसमयंतरुप्पाओ।। 13।

अनंतदर्शन और अनंतज्ञान रूप दोनों उपयोग आदि अनंत है। यही स्वसमय है। जो यह कथन करते हैं कि इन दोनों उपयोग की उत्पत्ति केवली परमात्मा में एक समय के अंतर से होती है। प्रथम अनंतदर्शन होता है फिर एक समय पश्चात् अनंतज्ञान होता है-यह वक्तव्य परसमय है।

प्रश्न- छद्मस्थ जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है जैसे-मतिज्ञान के पहले चक्षु दर्शन एवं अचक्षु दर्शन, अवधिज्ञान के पहले अवधिदर्शन। इसी प्रकार श्रुतज्ञान के पहले कौन सा दर्शन होता है ?

उत्तर- श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है। जैसा कि आचार्य श्री उमास्वामी ने कहा कि श्रुतज्ञान यथायोग्य चक्षुदर्शन एवं अचक्षुदर्शन पूर्वक होता है। इस दृष्टि से

विचार करने पर जैसे मनःपर्ययज्ञान ईहा नामक मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान परंपरा से चक्षुदर्शन एवं अचक्षुदर्शन पूर्वक होता है। प्रत्यक्ष रूप से श्रुत के पहले कोई दर्शन नहीं होता है इसीलिये जैसे मनःपर्यय दर्शन नहीं है उसी तरह श्रुतदर्शन नहीं है। जैसा कि सिद्धसेन दिवाकर ने कहा भी है-

जं पच्चक्खग्गहणं पर इंति सुयणाणसम्मिया अत्था।

तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयणाणे।। 28

शास्त्र-ज्ञान से जिन पदार्थों को जाना जाता है, वे सब इन्द्रियों से अस्पृष्ट तथा अग्राह्य होते हैं। अतः अन्य ज्ञानों के साथ जैसे दर्शन शब्द संयुक्त होता है, वैसे ही श्रुतज्ञान के साथ दर्शन शब्द प्रयुक्त नहीं होता है। इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष की भांति रूप से उनका ग्रहण नहीं करता। दर्शन से उनका ग्रहण स्पष्ट रूप से होता है जबकि श्रुतज्ञान से अस्पष्ट रूप से एवं परोक्ष रूप से ग्रहण होता है। जब मानसिक चिंतन शब्दोल्लेख सहित हो तब वह श्रुतज्ञान है और जब शब्दोल्लेख रहित हो तब मतिज्ञान है।

श्रुतज्ञान दो प्रकार का है एक तो लिंगज और दूसरा शब्दज। उनमें एक पदार्थ को जानकर उसके जरिये से जो दूसरे पदार्थ को जान लेता है वह तो लिंगज श्रुतज्ञान है और शब्दों के सुनने से जो ज्ञान होता है वह शब्द श्रुतज्ञान है और अवधि दर्शन पहले जो होता है तब अवधिज्ञान होता है, और जो मनःपर्ययज्ञान है वह ईहा नामक मतिज्ञान पूर्वक होता है।

यहां पर श्रुतज्ञान को उत्पन्न करने वाला अवग्रह और मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करने वाला ईहा, आदिरूप जो मतिज्ञान कहा है अर्थात् श्रुतज्ञान को उत्पन्न करने वाला अवग्रह रूप मतिज्ञान और मनःपर्यय को उत्पन्न करने वाला ईहा रूप मतिज्ञान कहा गया है, वह मतिज्ञान भी दर्शन पहले हो लेता है तभी होता है। इसलिये मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है। इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनों को भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिये।

अब इसके आगे सिद्धांत के अभिप्राय से कहते हैं। सो ही दिखाते हैं, आगे के काल में होने वाला जो ज्ञान है उसकी उत्पत्ति निमित्त जो प्रयत्न उस स्वरूप जो निज आत्मा का परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन देखना वह दर्शन कहलाता है और पीछे जो बाह्य विषय में विकल्प रूप से पदार्थ का ग्रहण है वह ज्ञान है वह वार्तिक

है। जैसे कोई पुरुष पहले घट के विषय का विकल्प करता हुआ बैठा है फिर उसी पुरुष का चित्त जब पट के जानने के लिए होता है तब वह पुरुष घट के विकल्प से हटकर जो स्वरूप में प्रयत्न अर्थात् अवलोकन परिच्छेदन करता है, उसको दर्शन कहते हैं। उसके अनंतर यह पट है इसी प्रकार से निश्चय रूप जो बाह्य विषय रूप से पदार्थ के ग्रहणस्वरूप विकल्प को करता है वह विकल्प ज्ञान कहलाता है।

एकमेव परमशरण सूत्र VII

सगरूव सहजसिद्धो विहावगुणमुक्कम्मवावारो।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (41)(कल्याणा.)

पद्य- स्व-स्वरूप से सहज सिद्ध विभावगुण मुक्त कर्म व्यापार से।
वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

एकमेव परमशरण सूत्र VIII

सुण्णो णोय असुण्णो णोकम्मो कम्मवज्जिओ णाणां।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (42)(कल्याणा.)

पद्य- कर्म नोकर्म रहित से शून्य ज्ञान से सहित होने से पूर्ण।
वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

एकमेव परमशरण सूत्र IX

णाणाउजोण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुखमओ।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (43) (कल्याणा.)

पद्य- ज्ञान से न भिन्न विकल्प से भिन्न स्वभाव सुखमय।
वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

एकमेव परमशरण सूत्र X

अच्छिण्णोवच्छिण्णो पमेय रुवत्तमगुरुलहू चेव।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (44)(कल्याणा.)

पद्य- अच्छिन्न व अविच्छिन्न प्रमेयरूप व अगुरुलघुत्व आदि।
वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

एकमेव परमशरण सूत्र XI

सुहअसुहभावविगहो सुद्धसहावेण तम्मयं पत्तो।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (45)(कल्याणा.)

पद्य- शुभ-अशुभ भाव रहित शुद्ध-स्वभाव से तन्मय प्राप्त।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

अब आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं। 'अतः' निरंतर गमन करने रूप अर्थ में वर्तता है और सब गमनरूप अर्थ के धारक धातु ज्ञान अर्थ के धारक है। इस वचन से यहाँ पर गमन शब्द करके ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान, सुख आदि गुणों में पूर्णरूप से वर्तता है वह आत्मा है अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन वचन, काय के व्यापार है उन करके यथा सम्भव तीव्र मन्द आदि रूप से जो पूर्ण रूप से वर्तता है वह आत्मा कहलाता है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों करके जो पूर्ण रूप से वर्तता है उसको आत्मा कहते हैं।

'सोऽहं' से 'अऽहं' बनने की साधना

(सोऽहं की दृढ़ भावना का फल आत्मा में स्थिरता व आत्मलाभ)

सोहमित्यात्त संस्कार स्तस्मिन् भावनया पुनः।

तत्रैव दृढ़ संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥ 28

पद्य भावानुवाद-

जो परमात्मा वे ही 'मैं' हूँ, ऐसी दृढ़ भावना करने से।

आत्मा में स्थिरता आती है, दृढ़ संस्कार के वश से।। (1)

समीक्षा-

जो परमात्मा वे ही 'मैं' हूँ, शुद्ध रूप से 'मैं' परमात्मा।

ऐसे दृढ़ संस्कार के कारण, स्व-आत्मस्वरूप में आती स्थिरता।। (2)

श्रद्धा-प्रज्ञा से जब जानता अन्तरात्मा 'मैं' भी बनूँगा परमात्मा।
पर्याय रूप में अभी 'मैं' अन्तरात्मा साधना से बनूँगा परमात्मा।। (3)

ऐसी भावना व साधना से जब अन्तरात्मा स्वं में करता दृढ़ संस्कार।
जिससे वह स्वयं में ही लीन (स्थिर) होकर, नाश करता है कर्म संस्कार।।(4)

घाती कर्म के नाश से बनते अरिहंत अघाती नाश से बनते सिद्ध
जिससे वह स्वयं से 'अहं' (मैं) बनते, ऐसा है 'सोऽहं' ध्यान का फल।। (5)

यथा जल ही शीतल होकर, बन जाता स्थिर-ठोस बर्फ।

यथा ईन्धन ही ताप व प्राणवायु पाकर बन जाती स्वयं ही अनल।। (6)

भावना से भावी निर्माण होता, परमात्मा ध्यान से तथा परमात्मा।

साधना से सिद्धि की प्राप्ति होती, अन्तरात्मा ही बनते परमात्मा।। (7)

आत्म-संवित्तवान का लक्षण

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।

स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।। (41) इष्टो.

He who has firmly established himself in the knowledge of the self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing!

“आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धो धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात्किं चिद्वाग्कायाभ्यामतत्परः।। ”(50)

तथा भोजनार्थव्रजन्नपि न व्रजत्यपि तथा

सिद्धप्रतिमादिकावलोकयन्नपि नावलोकयत्येव तुरेवार्थः।।

स्व पर आवश्यक करणीय भोजनादि यत्किञ्चित् श्रावक से साधु प्राप्त करता है उससे भी वह खेद को प्राप्त होता है। आवश्यकतानुसार श्रावक को कुछ कहकर मुनि उसे तत्क्षण भूल जाता है। श्रावक मुनि को कुछ पूछने पर कुछ नहीं है ऐसे कहकर उससे भी विरक्त हो जाते हैं। यथा- जिस योगी ने स्वस्वरूप में स्वयं के चित्त को स्थिर कर लिया है ऐसा योगी संस्कार वशात् दूसरों के अनुरोध से धर्मादि सम्बन्धी कुछ उपदेश करते हैं तथापि उपदेश के बाद पुनः वे स्व स्वरूप में आ जाते हैं क्योंकि उपदेश करना उनकी मुख्यता नहीं है। समाधि तन्त्र में ग्रन्थ कर्ता ने कहा भी है-

आत्माकाँक्षी योगियों को आत्म ध्यान से भिन्न किसी भी कार्य को चिरकाल तक धारण नहीं करना चाहिये। किसी कारण वशात् वचन और काय से कार्य करना पड़े तो उसमें आसक्त न होवे।

इसी प्रकार साधु शरीर को धारण के लिये भोजन करते हैं और उसके लिये गमन करने पर भी उस में आसक्त न होने के कारण गमन गमन के लिये नहीं होता है। इसी प्रकार सिद्ध प्रतिमा आदि के दर्शन करते हैं तथापि उनका दर्शन अवलोकन नहीं है।

समीक्षा- यह प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक सिद्ध सिद्धान्त है कि जब किसी व्यक्ति का चित्त एक विषय में स्थिर हो जाता है तब उसके आस-पास जो घटनाएँ घटती है उसे न वह देख पाता है न सुन पाता है भले उसकी आँखे कान खुले रहते हैं। सामान्य व्यक्तियों को जो ज्ञान होता है उसके लिए लब्धि, उपयोग एवं उपकरण चाहिये। जब कोई एक व्यक्ति एक वस्तु को देखता है तब वह अपनी लब्धि को उपकरण के माध्यम से उस वस्तु में अपना उपयोग लगाता है। उस समय उपयोग क्षेत्र से बाह्य क्षेत्र में जो वस्तु है उसे वह नहीं देख सकता है। कदाचित् कोई वस्तु उसकी दृष्टि क्षेत्र के मध्य में आ जावे तो भी अच्छा पूर्ण ज्ञान उसको नहीं होगा। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जान लेना चाहिये। अर्थात् जो स्व आत्मा में रूचि लेता है, लीन होता है उसे अन्य वस्तु का ज्ञान, भान नहीं होता है।

आत्म-संवित्तवान् का लक्षण

किमिदं कीदृशं, कस्मात्केवेत्यविशेषयन्।

स्वेदहमपि नावैति योगि योगपरायणः॥ 42॥ (इष्टो)

तदा च परमैकाग्रयाद् बहिरर्थेषु सत्स्वपि।

अन्यत्र किंचनाभाति, स्वमेवात्मनि पश्यतः॥ त. शा.

वह अध्यात्म अनुभूयमान तत्व का रूप क्या है ? किस प्रकार का है ? किसके समान है ? इसका स्वामी कौन है ? किसका है ? किसके निमित्त से है ? कहाँ उसकी स्थिति है ? किसके द्वारा है ? इत्यादि विशेषणों से विचार करता हुआ योग परायण योगी समरसी भाव से सम्पन्न स्वदेह को भी अनुभव नहीं करता है तब फिर अन्य वस्तु की बात ही क्या है ? आत्मानुशासन में कहा भी है जिस

समय योगी योग में तत्पर हो जाता है उस समय वह स्वयं को छोड़कर अन्य को नहीं जानता है, नहीं देखता है न ही अनुभव करता है।

स्थिरता का कारण

सो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्।

यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र न गच्छति॥ 43॥ (इष्टो.)

he who abides in a place, become attached to the place he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere!

जो व्यक्ति जिस ग्राम, नगरादि में स्वार्थ से निर्बन्ध होकर निवास करता है उस में उसका चित्त रति को प्राप्त कर लेता है और अन्य स्थान से निवृत्त हो जाता है। जो वहाँ पर रूचि से निवास करता है वह अन्यत्र नहीं जाता है; यह अनुभव जन्य प्रसिद्धि प्रतीति है। इससे सिद्ध होता है-जो योगी स्व आत्मा में निवास करता है और अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव करता है वह अर्थात् विषय भोग में गमन नहीं करता है।

आत्मा-स्थिरता का फल

अगच्छं स्तद्विशेषाणामनभिश्य जायते।

अज्ञाततद्विशेषस्तु, बध्यते न विमुच्यते॥ (44) (इष्टो.)

The ascetic, not stirring out of his self and not attending to the particular natures of the non-self, does not become their enjoyer; by not enjoying the not-self he is not bound by karmas, but becomes released from them.

जो योगी स्व आत्मा में स्थिर हो जाता है वह स्व आत्मा से भिन्न अन्य देहादि की सुन्दरता असुन्दरता रूपी धर्म से निवृत्त हो जाता है। जब उनसे निवृत्त हो जाता है उस सम्बन्धी वह अनभिज्ञ हो जाता है जिससे उस सम्बन्धी राग-द्वेष से उत्पन्न कर्मों से नहीं बँधता है तब वह व्रतादि अनुष्ठान से कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

समीक्षा इसी श्लोक में आचार्य ने 43वां श्लोक में जिस विषय को प्रतिपादन किया था उसी विषय का विशेष वर्णन करते हुए उसका फल भी बताया है। जब योगी स्वआत्मा में रति करता हुआ अन्य से निवृत्त हो जाता है तब वह

पर जनित राग-द्वेष से भी निवृत्त होता हुआ राग-द्वेष से बँधने वाले कर्मों से भी निवृत्त हो जाता है। अमृतचन्द्र सूरी ने कहा भी है -

एक ज्ञायक भावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्,
स्वादन्द्वन्दमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्॥
आत्मात्मानु भवानभावविवभो भ्रस्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयक्तिलवे सकलं ज्ञानं नयत्येकेताम्॥

‘यह आत्मा-ज्ञायकभाव से परिपूर्ण ज्ञान के एक महा स्वाद को लेता हुआ, और दो भिन्न वस्तुओं में मिले हुए मिश्र स्वाद को लेने में असमर्थ, किन्तु अपनी वस्तु की प्रवृत्ति को जानता है अनुभव करता है, क्योंकि वह आत्मा अपने आत्मानुभव के प्रभाव से विनाश होता हुआ और ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ मात्र सामान्य ज्ञान का अभ्यास करता है और सर्वज्ञान की एकता को प्राप्त करता है। ज्ञानी के आत्म स्वरूप के मधुर रस स्वाद के सामने अन्य सब रस फीके हो जाते हैं पदार्थों का भेदभाव मिट जाता है। ज्ञान के विशेष(भेद) ज्ञेयों के निमित्त से होते हैं। सो जब ज्ञान सामान्य का आस्वाद होने लगता है तब ज्ञान के विशेष स्वयं गौण हो जाते हैं किन्तु एक ज्ञान ही ज्ञेय रह जाता है। तब आत्मा अद्वैत भाव को प्राप्त होता है तब कर्म बन्धन न होकर केवल कर्म निर्जरा ही होती है। जैसा भावै सो तैसा हो जावै। अविनाशी अनंत अतीन्द्रिय सुख का निरंतर लाभ आत्मा की शुद्ध अवस्था में होता है। उस अवस्था की प्राप्ति का उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोग में तन्मय होकर निर्विकल्प समाधि में वर्तन करता है। तथापि परम्परा से उसका उपाय अरहंत और सिद्ध आदि परमेष्ठी उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है।

**जो अरिहंत के माध्यम से स्वयं को जानता है
उसका मोह नाश होता है**

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ (80) प्र.सा.

He, who knows the Arihanta with respect to substantiality, quality, and modification, realize himself, and his dulusion, in fact, dwindles into destruction

आगे 'चतापावारम्भ' इत्यादि सूत्र से जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोग के बिना मोह आदि का नाश होता है और मोहादि के नाश के बिना शुद्धात्मा का लाभ-नहीं होता है, उस ही शुद्धात्मा के लाभ के लिए अब उपाय बताते हैं।

(जो) जो कोई (अरहंत) अरहंत भगवान् को (द्वत्तगुणतपज्जतेहिं) द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपने से (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि)अर्हंत के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्म ज्ञान के प्रताप से (तस्समोहा) उस पुरुष का दर्शन मोह (खलु लयं जादि) निश्चय क्षय हो जाता है।

इसका विस्तार यह है कि अर्हंत आत्मा के केवल ज्ञान आदि विशेषगुण हैं। अस्तित्व आदि सामान्य गुण है परम औदारिक शरीर के आकार जो आत्मा के प्रदेशों का होना सो व्यजन पर्याय है। अगुरुलघु गुण द्वारा षट् प्रकार वृद्धि हानि से वर्तन करने वाली अर्थपर्याय है। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायों के आधाररूप, अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशों, शुद्ध चैतन्यमई अन्वय रूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्मा को पहले जानकर फिर निश्चयनय से उसी द्रव्यगुण पर्याय को आगम का सारभूत जो आध्यात्मिक भाषा है उसके द्वारा शुद्ध आत्मा की भावना के संमुख होकर अर्थात् विकल्प सहित स्वसवेदन ज्ञान में परिणमन करते हुए तैसे ही आगम की भाषा से अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नाम के परिणामविशेषों के बल से जो विशेष भाव दर्शन मोह के अभाव करने में समर्थ है, अपने आत्मा से जोड़ता है। उसके बाद निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति के लिए जैसे पर्याय रूप से मोती के दाने, गुण रूप से सफेदी आदि अभेद नय से एक हार रूप ही मालूम होते हैं तैसे ही पूर्व में कहे हुए द्रव्यगुण पर्याय अभेदनय से आत्मा ही है, इस तरह भावना करते करते दर्शन मोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य रूप से गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों (अरहंत और अपनी आत्मा) में निश्चय अन्तर नहीं है। अरहंत का रूप भी अंतिम ताप को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति परिस्पष्ट (शुद्ध) आत्मा का रूप ही है, इस कारण से उनका (अरहंत का) ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ (अरहंत

में) अन्वय रूप द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, और अन्वय के व्यतिरेक (भिन्न-भिन्न, क्रम से होने वाली)पर्यायें हैं। वहाँ सर्वतः विशुद्ध भगवान् अरहन्त में (जीव) तीनों प्रकार युक्त समय को भी (द्रव्य गुण पर्याय मय निज आत्मा को भी) अपने मन से देख लेता है। जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है, जो अन्वय के आश्रय रहने वाल चैतन्य है, यह विशेषण है, वह गुण है, और जो एक समय मात्र मर्यादित काल परिणाम के कारण से परम्पर भिन्न-भिन्न अन्वय के व्यतिरेक हैं वे पर्यायें हैं जो- कि चिद्विचरतन की (आत्मा के परिणामन की) ग्रन्थियाँ (गांठे) है। इस प्रकार अरहंत के द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है।

अब (1) इस प्रकार त्रैकालिक को भी (त्तिकाल इसी स्वभाव को धारण करने वाली अपनी आत्मा को भी) एक काल में समझ लेने वाले, (2) झूलते हुए हार में मोतियों की तरह (जैसे पर्यायों को) चेतन में ही अन्तर्गत करके तथा विशेषणों विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान से, हार में सफेदी की तरह (जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार) चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके केवल हार की तरह(जैसे मोती व सफेदी आदि के विकल्प को छोड़कर मात्र हार को जानता है, उसी प्रकार) केवल आत्मा को जानने वाले, (3) उसके उत्तर क्षण में कर्ता-कर्म क्रिया का विभाग नाश को प्राप्त हो जाने से निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होने वाले, (4) उत्तम मणि की भाँति अकम्परूप से प्रवर्त रहा है निर्मल प्रकाश जिसका, ऐसे उस जीव के अवश्य ही निराश्रयता के कारण से मोहाधंकार नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है तो मेरे द्वारा मोह की सेना को जीतने के लिये उपाय प्राप्त कर लिया गया।

समीक्षा- जीव एक द्रव्य है। जीव द्रव्य होने के कारण उसमें गुण भी है और पर्याय भी है। शुद्ध जीव का स्वरूप एक समान होते हुए भी संसारी जीव की अवस्थायें कर्म सापेक्ष होने से विभिन्न प्रकार की हैं। गुणस्थान की अपेक्षा मध्यम प्रतिपत्ति से इसके 14 भेद हैं। संक्षिप्त रूप से अन्य प्रकार से देखने पर इसके 3 भेद भी हैं यथा-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।

उपायोत्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥ (14) समाधि, त.

सर्वप्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार है। परमात्मा के उन तीन भेदों में से अन्तरात्मा के उपाय द्वारा परमात्मा को अंगीकार करें- अपनावें और बहिरात्मा को छोड़ें।

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।

परमातम को ध्याय निरन्तर, ज्यो नित आनंद पूजै।। (छहढाला)

अरिहंत भगवान् भी चैतन्य द्रव्य है उनके अनंत ज्ञानादि अनंत गुण हैं एवं 13 वें गुणस्थानवर्ती शुद्धावस्थारूप पर्याय भी है। जो व्यक्ति अरिहंत भगवान् को द्रव्यदृष्टि, गुणदृष्टि एवं पर्यायदृष्टि से अवलोकन करते हुए स्वयं के स्वरूप का अवलोकन करता है वह स्वस्वरूप को भी जान लेता है। इसीलिए आचार्य स्वामी पूज्यपाद ने कहा है-

‘श्री मुखालोकना देव श्री मुखावलोकनं भवेत्’

अर्थात् जो भगवान् के श्री मुख का दर्शन करता है वह श्री अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी का दर्शन करता है। इसलिए जिन दर्शन निज दर्शन है।

भक्त जब भगवान् के पास जाता है तब भगवान् के स्वरूप दर्पण से अपने स्वरूप का दर्शन करता है। जब वह दिव्य दृष्टि से स्वयं को एवं भगवान् को देखता है तब दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि पूज्य भी जीव द्रव्य है तथा पूजक भी जीव द्रव्य है। गुण दृष्टि से भी कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता है किन्तु जब पर्याय दृष्टि से अवलोकन करता है तब दोनों में महान् अन्तर परिलक्षित होता है क्योंकि भगवान् पर्याय दृष्टि से अनन्त ज्ञान, दर्शन सुखवीर्य के अक्षय भण्डार है एवं पूजक स्वयं अनन्त अज्ञान दुःखादि को भोगने वाला है। अंग्रेजी में एक नीति वाक्य है-

There is no difference between God and us.

But there is so difference between God and us.

अर्थात् दिव्य दृष्टि से भगवान् और हमारे में कोई अन्तर नहीं है किन्तु अवस्था दृष्टि(पर्याय दृष्टि) से भगवान् और हमारे में महान् अन्तर है। भक्त भगवान् के पास एक अलौकिक उपादेय प्रशस्त स्वार्थ को लेकर जाता है। उसका स्वार्थ यह है कि मेरा स्वरूप भगवान् स्वरूप होते हुए भी मैं अभी दीन-हीन भिखारी के समान हूँ। मैं भगवान् के पास उनसे वही शिक्षा प्राप्त करूँ जिस मार्ग

पर चलते हुए भगवान् ने इस परमोत्कृष्ट नित्यानंद अवस्था को प्राप्त कर लिया है। इसलिए भक्त की आद्यन्त भावना एवं परिणति निम्न प्रकार की होती है-

दासोऽहं रटता प्रभो! आया जब तुम पास।

‘द’ दर्शात हट गयो, सोऽहं रहो प्रकाश।

सोऽहं सोऽहं ध्यावतो रह न सको साकार।

दीप ‘अहं’ मय हो गयो अविनाशी अविकार।।

जब भक्त भगवान् के पास आता है तब वह स्वयं को दास (पूजक) एवं भगवान् को प्रभु(पूज्य) मानता है। जब भगवान् का दर्शन करके भगवान् का स्वरूप एवं स्वस्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण करता है तदनन्तर जब वह पूज्य के गुणों को अनुकरण करके आध्यात्मिक साधना करता है तो उस साधना के फलस्वरूप निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही पूजा का परमोत्कृष्ट फल है। आचार्यप्रवर उमास्वामी ने कहा है - ‘वन्दे तद्गुण लब्धये’ अर्थात् मैं वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान् की उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

वीरसेन स्वामी ने कहा है कि जो अरहंत की प्रतिमा के भी दर्शन करता है उनका मोहनीय कर्म क्षय होता है जिससे जिनबिंब दर्शन से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कहा है। जैसे-अंकुर की मूल पर्याय बीज है और भविष्यत् पर्याय वृक्ष है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भूत पर्याय मिथ्यात्वावस्था है और भविष्यत् पर्याय भगवान् अवस्था है। भव्यभावी भगवान् है तो भगवान् भूत भव्य है जैसे- बालक भावी प्रौढ़ अवस्था है और प्रौढ़ मानव भूत बालक है। इसलिए जो आत्मा है वही परमात्मा है।

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।

तेहउ णिवसइ बंधु परू देहहं मं करि भेउ।। (26)

जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म नोकर्मरूप मल से रहित केवल ज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकर शक्तिरूप परमात्मा

शरीर में तिष्ठता है, इसलिए हे प्रभाकर भट्ट, तू सिद्ध भगवान् में और अपने में भेद मत कर।

जें दिट्टें तुट्ठंति लहु कम्मई पुव्व कियाइँ।

सो परू जाणाहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ।। (27)

जिस आत्मा को सदा आनंद रूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रों का देखने से शीघ्र ही निर्वाण को रोकने वाले पूर्व जीवोपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान के अभाव से जो पहले शुभ अशुभ कर्म कमाये थे वे निजस्वरूप के देखने से ही नाश हो जाते हैं, उस सदानन्दरूप परमात्मा को देह में बसते हुए भी हे योगी! तू क्यों नहीं जानता।

देहादेवलि जो वसइ दउ अणाइ-अणंतु।

केवल-णाण-फुरंत-तणु लो परमप्पु णिभंतु।। (33)

जो व्यवहारनयकर देवालय में बसता है, निश्चयनयकर देह से भिन्न है, देह की तरह मूर्तिक तथा अशुचिमय नहीं है, महापवित्र है, आराधने योग्य है, पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है, जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है, तथा देह आदि अंतकार सहित है, जो आत्मा निश्चयनयकर लोक अलोक को प्रकाशने वाले केवल ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् केवल ज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह जड़ है, वही परमात्मा निःसदेह है, उसमें कुछ संशय नहीं समझना।

बुज्झंतहँ परमत्थु जिय गुरू लहु अथि ण कोई।

जीवा सयल वि बंभू परू जेण वियाणइ सोइ।।94

हे जीव, परमार्थ को समझने वालों के लिए कोई जीव बड़ा छोटा नहीं है, सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप है, क्योंकि निश्चयनय से वह सम्यग्दृष्टि जीव सबको एक समान जानता है।

जो भतउ-रयण-त्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ।

अच्छउ कहिं वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ।। (95)

जो मुनि रत्नत्रय की आराधना करने वाला है, उसके यह लक्षण जानना कि किसी शरीर में जीव रहे, वह ज्ञानी उस जीव का भेद नहीं करता अर्थात् देह के भेद से गुरुता लघुता का भेद करता है, परन्तु ज्ञान दृष्टि से सबको समान देखता है।

जीवहँ तिहुयण संठियहँ मूढ़ा भेउ करंति।

केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति।। (96)

तीन भुवन में रहने वाले जीवों का मूर्ख ही भेद करते हैं, और ज्ञानी जीव केवल ज्ञान से प्रकट सब जीवों को समान जानते हैं।

जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण विमुक्का।

जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणाहिँ एक्का।। (97)

सभी जीव ज्ञानमयी है और अपने-अपने प्रदेशों से सब समान हैं, सब जीव अपने केवल ज्ञानादि गुणों से समान हैं।

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु।

तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु।। (98)

जीवों का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने दर्शन और ज्ञान कहा है, इसीलिए उन जीवों में भेद मत कर, अगर तेरे मन में ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है, अर्थात् हे शिष्य! तू सबको जान।

बंभहँ भुवणि बसंताहँ जे णवि भेउ करंति।

ते परमप्य-पयासयर जोइय विमलु मुणंति।। (99)

इस लोक में रहने वाले जीवों का भेद नहीं करते हैं, वे परमात्मा के प्रकाश करने वाले योगी, अपने निर्मल आत्मा को जानते हैं।

देह-विभेयहँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचितु।

सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु।। (102)

जो शरीरों के भेद से जीवों को नानारूप भेद करता है, वह उन जीवों का दर्शन ज्ञान चरित्र लक्षण नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणों की परीक्षा पहचान नहीं है।

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।

तेण सरूविं परिणवइ जह-फलिहउ-मणि मंतु।। (73)

यह प्रत्यक्षरूप अविनाशी आत्मा जिस स्वरूप से ध्याया जाता है, उसी स्वरूप परिणमता है, जैसे एक स्फटिक मणि और गरुड़ी मंत्र है।

एहु जु अप्पा सो परमप्या कम्म-विसेसें जायउ जप्पा।

जामई जाणइ अप्पँ अप्पा तामई सो जि देउ परमप्या।। (174)

यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञान कर प्रत्यक्ष जो आत्मा वही शुद्धनिश्चयनयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहारनयकर अनादि कर्मबंध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है, परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कर अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मा देव है।

जो परमप्या णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।

जो हउँ सो परमप्यु परू एहउ भावि णिभंतु॥ (175)

जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वही मैं ही हूँ, जो कि अविनाशी देवस्वरूप हूँ जो मैं हूँ वही उत्कृष्ट परमात्मा है। निस्सन्देह तू भावना कर।

जो जिणु सो अप्या मुणहु इहु सिद्धंतहँ सारू।

इउ जाणेविण जोइयहो छंडहु मायाचारू॥ (21) योगसार

जो जिन भगवान् है वही आत्मा है- यही सिद्धान्त का सार समझो, इसे समझकर हे योगीजनों! मायाचार को छोड़ो।

जो परमप्या सो जि हउँ जो हउँ सो परमप्यु।

इउ जाणेविणु जोइया अणु म करहु विसयप्यु॥ (22)

जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है, यह समझकर हे योगिन्! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो।

जो तइलोयहँ ज्रेउ जिणु सो अप्या णिरू वुतु।

णिच्छय-णइँ एमउ भणुउ एहउ जाणि विभंतु॥ (28)

जो तीन लोकों के ध्येय भगवान् हैं, निश्चय से उन्हें ही आत्मा कहा है-यह कथन निश्चयनय से है। इसमें भ्रान्ति न करना चाहिए।

जं वउमज्झहँ बीउ फुडु बीयहं वडु वि हु जाणु।

तं देहहँ देउ वि मुणहि, जो तइलोय पहाणु॥ (74)

जैसे बड़ के वृक्ष में बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही बीज में भी बड़ वृक्ष रहता है। इसी तरह देह में भी उस देव को विराजमान समझो, जो तीनों लोकों में मुख्य है।

जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाऊ णिभंतु।

मोक्खहँ कारण जोइया अणु ण तंतु ण मंतु॥ (75)

जो जिनदेव है वह मैं हूँ- इसकी भ्रान्ति रहित होकर भावना कर। हे योगिन्! मोक्ष का कारण कोई अन्य मंत्र नहीं है।

एकमेव परमशरण सूत्र XII

णो इत्थी ण णउंसो णो पुंसो णेव पुण्णपावमओ।

अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।। (46)(कल्याणा.)

पद्य- न स्त्री न नपुंसक न पुरुष नहीं पुण्य व पाप मय।

वह परमात्मा ही मम एकमेव शरण अन्य न कोई मम शरण।।

सन्दर्भ -

सर्व विवत्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोतिः।

भवति तदा कृतकृत्य, सम्यक् पुरुषार्थ-सिद्धिमापन्नः।। (11) पु.सि.उ.

जिस समय समस्त वैभाविक भावों से उत्तीर्ण या रहित होकर वह पुरुष निष्कम्प चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, उस समय समीचीन-पुरुषार्थसिद्धि-पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को पात हुआ कृतकृत्य हो जाता है।

नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरूपघातः।

गमनमिव परम पुरुषः परम पदे स्फुरति विशदतमः।। (23) पु. सि.उ.

सदा ही कर्मरज से रहित अपने निज रूप में भले प्रकार ठहरा हुआ उपघात रहित अर्थात् जो किसी से घाता न जाय अत्यंत निर्मल ऐसा उत्कृष्ट पुरुष परमात्मा आकाश के समान उत्कृष्ट पद में लोक शिखर के अग्रतम स्थान में अथवा उत्कृष्ट स्थान निज स्वरूप के पूर्ण विकास में स्फुरायमान होता है।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विरतात्मा।

परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। (224) पु.सि.उ.

कर्मरज से सर्वथा विमुक्त शुद्धात्मा उत्कृष्ट निज स्वरूप पद में कृतकृत्य होकर ठहरता है, समस्त पदार्थों को विषय करने वाला बन जाता है, परमानन्द में निमग्न हो जाता है। ज्ञान स्वरूप ही उसका निजरूप है ऐसा वह परमात्मा सदैव आनन्द रूप से रहता है।

‘मैं’ ‘तुम’ व ‘अन्य’ में अनेकता

‘मैं’ ‘तुम’ व ‘अन्य’ को एक मानना अनेक दोषप्रद

(चाल: तुम दिल की धड़कन..., भातुकली(मराठी)....)

‘मैं’ ‘तुम’ व ‘अन्य’ में नहीं...है समानता सर्वथा...

भाषा(व्याकरण) व्यवहार व सिद्धांत...आध्यात्म में अन्यथा...(स्थायी)...

‘मैं’ तो उत्तम पुरुष ‘तुम’...मध्यम ‘अन्य’ है तृतीय पुरुष...

‘मैं’ तो एकला ‘तुम’ से भिन्न...‘अन्य’ तो दूरस्थ पुरुष...

‘मैं’ का व्यवहार भी नहीं होता है...‘तुम’ व ‘अन्य’ से...

‘मैं’ द्वारा ही खाने पर नहीं...खाया जाता ‘तुम’ व ‘अन्य’ से...(1)...

तथाहि ‘मैं’ के मरने पर नहीं...मरते ‘तुम’ व ‘अन्य’...

तथाहि सोना-जागना अच्छा...या बुरा आदि के काम...

हर जीव है पृथक-पृथक...तथा उनके कर्म व धर्म...

पुण्य-पाप सुख-दुःख व...भाव भी है भिन्न-भिन्न...(2)...

‘मैं’ सही या गलत होने पर...सभी न होते सही-गलत...

सभी सही या गलत कहना...जानना-मानना होता गलत...

अतएव स्वयं-अहं के लिए...‘मैं’ प्रयोग ही विधेय...

‘मैं’ के स्थान में ‘तुम’/(आप) या...‘अन्य’/(हम’) नहीं विधेय...(3)...

और भी अनेकानेक दोष...होते हैं गलत प्रयोग से...

दोषों से बचने हेतु ‘कनक’...प्रयोग करते सम्यक् से...(4)

मैं हूँ धर्म...मैं हूँ धर्मी...

(चाल : चन्दा है तू...मेरा सूरज है तू...)

सत्य हूँ मैं व...द्रव्य हूँ मैं...अनंत गुणधारी आत्मा हूँ मैं...

ज्ञानी हूँ मैं व...श्रद्धानी हूँ मैं...चारित्र गुणधारी सिद्ध हूँ मैं...(ध्रुवपद)...

धर्म हूँ मैं...धर्मी हूँ मैं...गुण हूँ मैं...गुणी हूँ मैं...

मोक्षमार्गी...रत्नत्रयमय...दशधर्ममय...आत्मा...

बारह भावना...स्वरूप हूँ मैं...सोलह कारण...भावना हूँ मैं...सत्य हूँ मैं...(1)...

उत्तम क्षमा...स्वरूप हूँ मैं...उत्तम मार्दव...रूप मैं...
 उत्तम आर्जव...रूप हूँ मैं...उत्तम शौच रूप मैं...
 उत्तम सत्य...स्वरूप हूँ मैं...उत्तम संयम...स्वरूप हूँ मैं...सत्य हूँ मैं...(2)...

उत्तम तप...स्वरूप हूँ मैं...उत्तम त्याग...रूप मैं...
 उत्तम आकिञ्चन्य...रूप मैं...उत्तम ब्रह्मचर्य मैं...
 समता-शांति...स्वरूप हूँ मैं...'कनक' ज्ञानानंद रूप हूँ मैं...सत्य हूँ मैं...(3)

सन्दर्भ :

ध्यान सूत्राणि (आचार्य माघनन्दीकृत)

अनन्तगुण स्वरूपोऽहम् - मैं अनंत गुण स्वरूप हूँ।

अनन्तज्ञान स्वरूपोऽहम् - मैं अनंत ज्ञान स्वरूप हूँ।

स्वभाविक ज्ञान-दर्शन स्वरूपोऽहम् - मैं स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन स्वरूप हूँ। (आदि अनेक सूत्र)

अहं हूँ मैं- आत्मा हूँ मैं

(चाल: चंदा है तु...भातुकली...)

अहं मैं, आत्मा हूँ मैं...द्रव्य स्वरूप जीव हूँ मैं।

निज स्वरूप जिन हूँ मैं...शुद्ध-बुद्धमय सिद्ध हूँ मैं।। (ध्रुव)

द्रव्य-भावकर्म शून्य मैं...तन-मन अक्ष रिक्त मैं...

राग-द्वेष मोह शून्य मैं...चिदानन्द अमूर्त है...

पुण्य-पाप से भी रहित मैं...जन्म-मरण से परे भी है...(1) अहं हूँ मैं...

अनादिकर्म बंधयुक्त मैं...बना हूँ देहयुक्त मैं...

राग-द्वेष-मोह सहित मैं...पुण्य-पाप सहित मैं...

यह तो अशुद्ध मूर्तिक रूप...निश्चय से नहीं मेरा स्वरूप...(2) अहं हूँ मैं...

अशुद्ध को (ही) न मानूँ मम रूप...तन आदि (ही) नहीं निज रूप...

इसे ही स्वरूप मानना मिथ्यात्व...ज्ञान चरण(भी) होते विरुद्ध...

व्यवहार निश्चय को सही मानता...दोनों सापेक्ष से सम्यक् होता...(3)

व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग से...रत्नत्रय आत्म भाव से...
 समता-शांति आत्मध्यान से...कर्मक्षय (से) पाऊँ निजरूप मैं...
 यह ही मोक्ष आत्म स्वरूप...‘कनक’ का लक्ष्य है स्व-स्वरूप...(4)

स्व-शुद्धात्मा ही परम शरण-मंगल-उत्तम

(चाल : मेरे शाश्वत शरण...सच्चे तारण...तरण..., तुमसे लागी लगन...)

मेरे परम शरण...श्रेष्ठ/(पावन) मंगल-उत्तम!...
 आतम मेरे! तेरे ध्यान में हो ज्ञान सारे...(ध्रुव)...
 तेरे ज्ञान हेतु पढूँ आगम...तेरे ध्यान हेतु करूँ ज्ञान...
 तेरी शान्ति हेतु...समता मैं धरूँ...आतम मेरे!...(1)...
 इसी हेतु शोध-बोध करूँ...व्रत-नियम-समिति भी पालूँ...
 आहार-विहार व विचार करूँ...आतम मेरे!...(2)...
 ब्रह्मचर्य-अचौर्य-तप-त्याग...क्षमा-मार्दव व संयम-धैर्य...
 ये सब होते हैं...तेरे निमित्त...आतम मेरे!...(3)...
 तेरी शुद्धता से ही है सिद्धि...वह ही मेरी परम उपलब्धि...
 यह ही मेरी परम...सत्ता व संपत्ति...आतम मेरे!...(4)...
 तेरी प्राप्ति हेतु...समाधि करूँ...तेरे हेतु यत्नचार करूँ...
 आत्म प्रसिद्धि...‘कनक’ का लक्ष्य...आतम मेरे!...(5)...

मेरा विश्व स्वरूप चिन्तन

(चाल : चन्दा है तू...मेरा सूरज है तू...)

तत्त्व है तू...मेरा...द्रव्य है तू...मेरा सर्वस्व आत्मा है तू...
 पाप है तू...मेरा...पुण्य है तू...शुद्ध स्वरूप आत्मा है तू...(ध्रुवपद)...
 स्वर्ग है तू...नर्क है तू...मोक्ष स्वरूप है तू...
 श्रद्धा है तू...प्रज्ञा है तू...चारित्रमय आत्मा तू...
 व्रत है तू...अव्रत है तू...दोनों से रहित...शुद्ध है तू...तत्त्व है तू...(1)...
 ज्ञान है तू...ज्ञेय है तू...ध्यान है तू...ध्येय तू...

गुण है तू...पर्याय तू...उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तू...
 सत् है तू चित्त है तू...आनन्द स्वरूप...आध्यात्म तू...तत्त्व है तू...(2)...
 अस्तित्व तू...वस्तुत्व तू...अगुरुलघु गुण है तू...
 प्रमेय तू...प्रमेयत्व तू...अमूर्तिक व सूक्ष्म तू...
 तन-मन व अक्ष रहित...द्रव्य-भाव-नोकर्म रिक्त (तू)...तत्त्व है तू...(3)...
 स्वयंभू-सनातन...सम्पूर्ण तू...जन्म-मरण रिक्त तू...
 मित्र है तू...अमित्र तू...सुपथ-कुपथगामी तू...
 शिष्य है तू व गुरु है तू...‘कनकनन्दी’ आत्मा है तू...तत्त्व है तू...(4)

विरोध-अविरोधात्मक स्वरूपी हूँ!

(चाल : आत्मशक्ति....., सायोनारा....)

मैं हूँ आत्मा...परमात्मा हूँ...अनंत गुण-गण सहित हूँ...
 स्वयंभू-सनातन-अमूर्तिक हूँ...सत्य-शिव-सुन्दर स्वरूप हूँ...(ध्रुवपद)...
 उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप हूँ...टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वरूप हूँ...
 गुण-पर्यायों से सहित हूँ...अखण्ड-अविभागी स्वरूप हूँ...(1)...
 ज्ञाता-ज्ञेय स्वरूप हूँ...निर्विकल्प चैतन्य हूँ...
 ध्यान-ध्याता स्वरूप हूँ...अखण्ड चिन्मय स्वरूप हूँ...(2)
 कर्ता-भोक्ता स्वरूप हूँ...एक अद्वितीय स्वरूप हूँ...
 ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप हूँ...स्वात्म स्थित अविकारी हूँ...(3)...
 कर्म-नोकर्म से रहित हूँ...कृतकृत्य शिवरूप हूँ...
 तन-मन-अक्ष रहित हूँ...दर्शन-ज्ञान-चारित्र हूँ...(4)...
 द्रव्य-तत्त्व व पदार्थ हूँ...परम सत्य स्वरूप हूँ...
 अस्तित्व-वस्तुत्व स्वरूप हूँ...‘कनक’ अनेकान्तमय हूँ...(5)...

भारतीय आध्यात्मिक-संस्कृति को वंदन-अभिनंदन

(चाल : चाँद -सी मेहबूबा मैंने सोचा था....)

विश्व वंदित-अभिनंदित, भारतीय संस्कृति महान् है।

आत्मा को परमात्मा बनाने वाली, आध्यात्मिक संस्कृति महान् है।। (धृ.)
आत्मविकास के माध्यम से, आत्मविश्वास जागृत करे।

आत्मज्ञान व आचरण द्वारा, विश्व विज्ञानी सर्वज्ञ करे²
जिससे आत्मा बने परमात्मा, सच्चिदानन्द स्वरूप बने आत्मा।। (1)

अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, सत्य शिव सुंदर आनंद बने।
जन्म-जरा-मृत्यु-रोग से परे, राग द्वेष मोह काम से परे²
ईर्ष्या-तृष्णा घृणा तनाव परे, अनंत आत्मिक गुणों को पाले।। (2)

इसी संस्कृति ने जन्म दिया है, भाषा गणित कला सभ्यता।
आयुर्वेद व भौतिक विज्ञान, अणु से लेकर ब्रह्माण्ड (की) विद्या ²
न्याय राजनीति व अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान व संगीत शास्त्र/(ज्ञान) आत्मा।।

विश्व मैत्री व विश्व शांति, आत्म संस्कृति के आनुषंगिक ज्ञान।
ऐसी महान् संस्कृति को अभी, भारतीय नहीं मानते, जानते/(अपनाते)²
अप संस्कृति को अपना करके, हर दृष्टि से पतित भी होते।। (4)

इसी संस्कृति से भारत पहले, विश्व गुरुत्व का पद पाया।
उसी संस्कृति को भारतीय अभी, त्याग करके पतित हुआ²
भारतीय अभी तुम भी जागो, आत्मविकास से महान् बनो
विश्व में आत्मिक संस्कृति फैलाओ, 'कनकनन्दी' के आशीष पाओ।। (5)

जैन धर्म की विशेषता : आत्मा ही बनता है परमात्मा

(राग : आत्मशक्ति....)

कितना पावन कितना महान् जैन धर्म है मेरा।
आत्मा को परमात्मा बनाने का, उपदेश देने वाला।। (स्थायी)

आत्मा ही है परमात्मा, कहता है जैन धर्म।
निश्चयनय से शुद्ध दृष्टि से, वर्णन करे आत्म धर्म।।

'सर्वेसुद्धा हु सुद्धणया' से, हर जीव है शुद्ध।
चौरासी लाख योनि मध्य के, हर जीव है शुद्ध।। (1)

कर्म के कारण जीवों के मध्य में, होता है भेद-प्रभेद।

यथा लाल-पीला-काला रंग, मिश्रित पानी में भेद-प्रभेद।।
 हर जीव है स्वयंभू सनातन, अविनाशी व अविभागी।
 अनंत ज्ञान दर्शन सुख-वीर्यमय, सच्चिदानन्द-स्वभावी।। (2)
 हर जीव स्वयं का ही कर्त्ता-धर्त्ता, स्वतंत्र व स्वयं पूर्ण।
 आत्मपतन व आत्मविकास, स्वयं ही है उपादान।।
 आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र द्वारा, करता स्वयं का विकास।
 इसी से विपरीत आत्म अविश्वास, आदि से करता स्व विनाश।। (3)
 इसी हेतु बाह्य द्रव्य क्षेत्र काल, आदि भी होते निमित्त।
 यथा आरोहण वह अवतरण हेतु, निशेणी (सोपान) होती निमित्त।।
 आत्म विकास द्वारा शुद्ध-बुद्ध बन, बनता है, परमात्मा।
 परमात्मा बनने के हेतु ही, 'कनकनन्दी ध्याता स्व आत्मा।। (4)

जैन धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों से लाभ विभिन्न ज्ञान एवं विश्वास से लाभ

(रग : तुम दिल की धड़कन....)

'आत्मा ही बनता है परमात्मा', ऐसा ज्ञान होने से।
 'आत्मविश्वास' 'स्वाभिमान/(आत्मगौरव), सोऽहं' 'अहं' का ज्ञान।। (1)
 'पाप-पुण्य व मोक्ष का कर्त्ता', स्वयं जीव के ज्ञान से।
 पाप त्याग से पुण्य आचरण से, मोक्ष प्राप्ति का होता ज्ञान।। (2)
 'वस्तु स्वरूप के ज्ञान' (होने) से, आत्मा का होता सही ज्ञान।
 विश्व व्यवस्था से लेकर बंध, मोक्ष का ही होता सही ज्ञान।। (3)
 'अनेकान्त के ज्ञान' (होने) से, सभी ज्ञान होते सही-सही।
 सापेक्ष व सार्वभौम सर्वांगीण, ज्ञान होता है सही-सही।। (4)
 'स्याद्वाद के ज्ञान' से हर, कथन होता है सच्चा-सच्चा।
 सापेक्ष व समन्वयकारी, हित-मित-प्रिय सच्चा अच्छा।।(5)

- ‘नय प्रमाण व निक्षेप’ से, होता है ज्ञान, प्रामाणिक।
 आंशिक-पूर्ण व्यवहार-निश्चय, से ज्ञान होता सम्यक्॥ (6)
- ‘मार्गणा के ज्ञान’ से जीवों का, होता है शोध-बोध।
 चौरासी लाख योनि व, चार गति के जीवों के बोध॥ (7)
- ‘गुणस्थान के ज्ञान’ से होता, आत्म विकास का सही ज्ञान।
 आत्मा का परमात्मा बनने का, क्रम विकास सही ज्ञान॥ (8)
- ‘सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र’ ही, मोक्ष मार्ग तथा मोक्ष भी।
 इसी ज्ञान से होता है ज्ञान, हर सफलता के सूत्र भी॥ (9)
- उपरोक्त ज्ञान से होता है सही, ज्ञान पूर्ण ब्रह्माण्ड का।
 लौकिक से लेकर अलौकिक व, आत्मा से परमात्मा का॥ (10)

शुद्धात्मा स्वभाव ही जीवधर्म/(आत्मधर्म)

(चाल : आत्मशक्ति.....)

- वस्तु स्वरूप धर्म होने से, जीव का शुद्ध रूप/(स्वरूप) ही जीवधर्म।
 तन मन इन्द्रिय राग द्वेष मोह शून्य, ‘सच्चिदानन्दमय’ आत्मधर्म॥ (1)
- यथा आकाश अमूर्तिक होता, अनंत विस्तार वाला शाश्वत द्रव्य।
 तथाहि जीव भी अमूर्तिक होता, अनंत गुणमय शाश्वत द्रव्य॥ (2)
- काला पीला लाल आदि रंग नहीं है, आकाश के ये तो भौतिकमय।
 तथाहि तन-मनादि नहीं है जीव गुण, ये तो कर्मजनित भौतिकमय॥ (3)
- तन-मनादि को जीव जानना, राग-द्वेषादि को जीव गुण मानना।
 ये सब असत्य होने के कारण, होता है मिथ्यात्व व अज्ञान॥ (4)
- ऐसे मिथ्यात्व (व) अज्ञान के कारण, जीव करता है राग-द्वेष-मोह।
 काम-क्रोध-ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा, हिंसा-चोरी व अति संग्रह॥ (5)
- अन्याय अत्याचार व फैशन-व्यसन, शोषण भ्रष्टाचार-आतंकवाद
 पक्षपातपूर्ण भेदभाव करता है, नहीं जानता/(मानता) सत्य-असत्य (6)

ऐसा जीव किसी भी धर्म को माने, या न माने (होता) है निश्चय से अधर्मी।
उसके सभी धार्मिक कार्य से भी, नहीं बनता है निश्चय से सुधर्मी।। (7)

आत्मविश्वास व आत्मज्ञान, आत्म-आचरण ही है सत्यार्थ धर्म।
इसी के अरिरिक्त सभी अधर्म, कनकनन्दी का लक्ष्य आत्मधर्म।। (8)

श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व क्लिष्ट से क्लिष्ट ज्ञान

(शब्द ज्ञान वाक्य ज्ञान रहस्य ज्ञान...अनुभव ज्ञान)

(चाल : तुम दिल की धड़कन...)

शब्द सुनने/(पढ़ने) मात्र से, न अर्थ ज्ञान हो जाता।

शाब्दिक अर्थ ज्ञान से न कोई, वाक्य का ज्ञान हो जाता।

वाक्य ज्ञान मात्र से कोई, रहस्य का ज्ञान न हो जाता।

रहस्य ज्ञान से न कोई, अनुभव ज्ञान हो जाता।।(1)

तथाहि पद व्युत्पत्ति व, आगम-नय-निक्षेप।

आध्यात्मिक का ज्ञान होना, दुर्लभ से भी दुर्लभ।।

आगे-आगे के ये ज्ञान, कठिन से कठिन होते जाते।

अनुभव/(आध्यात्मिक) ज्ञान से सभी ज्ञान, सरल से सरल होते जाते।।(2)

यथा 'भगवान' शब्द या 'आत्मा'(या) 'परमात्मा' शब्द।

'अनेकांत' 'स्याद्वाद' या 'वस्तु व्यवस्था' 'कर्मसिद्धांत' शब्द।

'धर्मद्रव्य' 'अधर्मद्रव्य' या 'आकाश' काल' शब्द।

'आस्रव' 'बंध', 'संवर', 'निर्जरा' या 'मोक्ष' शब्द।।(3)

'नाणो' 'न देवा' के शाब्दिक-वाक्य-अर्थ होते निम्न प्रकार।

'न अणु होता' न देव होते' जो कि यथार्थ (होते) गलत अर्थ।।

'शक्कर' को चखे बिना शक्कर, शब्द से न होता मीठा (शक्कर अनुभव) ज्ञान।

तथाहि सर्वत्र करो ऐसा ही, शब्द आदि का ज्ञान।।(4)

आत्मा का सही ज्ञान होता है स्व-अनुभव के द्वारा।

आत्मा का सही ज्ञान न होता (है),शब्द इन्द्रिय यंत्र आदि के द्वारा।।

यथा आकाश को इन्द्रिय या यंत्रादि नहीं देख सकते।

तथाहि आत्मा भी इन्द्रिय या, यंत्रादि भी नहीं देख सकते।। (5)

आत्मानुभव होता है आत्मश्रद्धान व ज्ञान आचरण के द्वारा।

समता-शांति व ध्यान आत्म-विशुद्धि द्वारा।।

ऐसा ही यथायोग्य हर विषय में भी जानना विधेय।

आत्मा की ही उपलब्धि है 'कनक' का अंतिम ध्येय।। (6)

परमागमानुसार स्वशुद्धात्मा ध्यानी ही श्रेष्ठ-ज्येष्ठ

(चाल : क्या मौसम आया है...)

ज्ञानानन्द पाया है/सहजानन्द पाया है/(आत्मानन्द आया है)।

गाते गाथा जिसकी (है) पावन आगम।

गाते जिसके गुण(वह) दिव्य परमागम।

गणधर भी जिसके करते है ध्यान।

परमात्मा वही है परम ध्येय मम।। (धृ.) आत्मानन्द...

वह परमात्मा ही है(मेरा) परम शुद्ध स्वरूप।

सच्चिदानन्दमय मेरा निज स्वरूप।

मैं नहीं हूँ तन-मन-इन्द्रिय स्वरूप।

मैं नहीं हूँ राग (द्वेष) मोह स्वरूप।

मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप। ज्ञानानन्द...(1)

आगम में वर्णन है मम संसारी स्वरूप।

चौरासी लक्ष्या योनि चतुर्गति स्वरूप।

मार्गणा गुणस्थान में विविध रूप।

आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा रूप।

इसी से परे, मेरा निज, शुद्ध स्वरूप।

परमागम में वर्णित, अध्यात्म रूप।। सहजानन्द...(2)

निज शुद्धात्मा श्रद्धान से होता है सुज्ञान।

जिसके कारण होता है सम्यक् आचरण।

तीनों की एकाग्रता (से) होते श्रमण।

एकाग्रता से होता है आत्मा का ध्यान।
आत्मध्यानी होते हैं श्रेष्ठ व ज्येष्ठ।
आत्मध्यानी होते हैं आगम निष्ठ।। आत्मानन्द....(3)

स्व-अध्ययन हेतु अतः आगम स्वाध्याय।

परम तप अतः, होता(है) स्वाध्याय।

तीन लोक तथा तीन काल में।

(स्व) - शुद्ध आत्म ज्ञान श्रेष्ठ सभी में।

स्वयं की उपलब्धि (ही) है परिनिर्वाण।

इसी हेतु ही 'कनक' बना श्रमण।। आत्मानन्द...(4)

सन्दर्भ-

एयगगदो समणो एयगं णिच्छिदस्स अत्थेसु।

णिच्छिती आगमदो आगमचेट्ठा-तदो जेट्ठा।। (232) प्र.सार

गाथार्थ- जो रत्नत्रय की तन्मयता को प्राप्त है वह साधु है। जिसके पदार्थों में श्रद्धा है उसके एकाग्रता होती है। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है। इसलिये शास्त्र ज्ञान में उद्यम करना उत्तम है/प्रधान है।

एकाकी स्व-आत्मा ही स्वजन है अन्य कोई नहीं

गाथा- ते को ण होदि सुजणो तं कस्स ण बंधवो ण सुजणो वा।

अप्पा हवेह अप्पा एगागी जाणगो सुद्धो।। (47) कल्याण.

पद्य- तेरे न अन्य कोई स्वजन है तू न किसी के बन्धु स्वजन।

आत्मा ही होता आत्मा का ही एकाकी ज्ञायक व शुद्ध।।

मोही पर को अपनाता-

वपुर्गृहं धनं दाराःपुत्रा मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।। 8

All the objects, the body, the house, the wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own!

स्व-पर विवेकहीन मूढ़ मोही जीव शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र यहाँ तक कि शत्रु को भी जो सर्वथा स्वयं से भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। सर्वथा सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से जो स्व स्वरूप से अन्य है, भिन्न है ऐसे परद्रव्य को भी दृढ़तर मोह से आविष्ट जीव अपना मान लेता है। शरीर जो कि अचेतन परमाणुओं से (रक्त, मांस, हड्डी, चर्म आदि) निर्मित होने के कारण अचेतन स्वरूप है उसे भी अपना मान लेता है। इसी प्रकार घर, धन स्पष्ट रूप से भौतिक जड़ वस्तु से निर्मित है उसे भी अपना मान लेता है। भार्या, पुत्र, मित्र तथा शत्रु जो कि शारीरिक दृष्टि से तथा आत्मिक दृष्टि से भी भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। यहाँ पर शरीर आदि को हितकारी मानता है और शत्रु आदि को मेरा अहितकारी मानकर उसमें भी मेरा शत्रु है ऐसा अपनापन रखता है।

समीक्षा- शुद्ध निश्चयनय से स्वशुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ही स्व-चतुष्टय है और इससे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन द्रव्य-क्षेत्र, काल भाव से भिन्न है, पर है तथापि मोही जीव मोह के कारण पर आत्म स्वरूप को भी स्व-स्वरूप मान लेता है, जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती हो, इन्द्रियजनित सुख मिलता हो उसको अपना हितकारी मानकर अपना मानता है और राग करता है तथा जिससे स्वार्थसिद्धि नहीं होती है, इन्द्रियजनित सुख नहीं मिलता हो उसको अपकारी मानकर उससे द्वेष करता है। एक के प्रति रागात्मक संबंध है तो दूसरे के प्रति द्वेषात्मक संबंध है। मिथ्यादृष्टिजीव दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म के कारण श्रद्धा रूप से तथा आचरण रूप से शरीर आदि पर वस्तु में मोह करता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा रूप से परद्रव्य को पर मानते हुए भी जब तक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक वह पर द्रव्य को व्यवहार रूप से, आचरण रूप से अपना मानता है।

बन्धुओं की दशा

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे।

स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे।। 9

The birds gather together to pass the night, on a tree from various places in different direction in the evening. but at the earliest

moment at the break of day they depart in the pursuit of their fliverse pursoses, for different places in all directions!

जिस प्रकार पूर्वादि दशों दिशाओं से अंग-बंग आदि दशों दिशाओं से पक्षी आकर वृक्ष में रात को निवास करते हैं तथा प्रातःकाल स्व-स्वकार्य के वश से विभिन्न दिशा-विदिशाओं में प्रयाण कर जाते हैं। इसी प्रकार संसार के जीव नरकादि गति स्थान से आकर स्व आयुकाल पर्यन्त परिवार आदि में एक स्थान में रहकर पुनःनिज-निज कर्म परतन्त्रता के कारण देवगति आदि स्थान में प्रयाण कर लेते हैं। इसलिये हे भद्र! किस प्रकार स्त्री पुत्रादि जो सर्वथा अन्य स्वभाव है, उसमें आत्मीय भाव करना चाहिये ? यदि वे निश्चय से आत्मा के होते तब तो तुम्हारे रहते हुए वे प्रयोग के बिना कैसे अन्यत्र चले जाते ? अतः मोह को दूर हटाकर यथावत् वस्तु स्वरूप को तुम्हें देखना चाहिये।

समीक्षा- मोही जीव शरीर और शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुरुष, मित्रादि को अपना मानकर इससे राग-द्वेष-मोह करके दुःख के कारण स्वरूप कर्म को बाँधता है। परन्तु वस्तुस्वरूप यह है कि जो जिसका स्वरूप होता है वह उसको कभी भी त्याग नहीं करता है। परन्तु बन्धु आदि तो स्व कर्मानुसार विभिन्न गति से आते हैं और कर्मानुसार विभिन्न गति में चले जाते हैं। इतना ही नहीं, एक ही भव में अनेक सम्बन्ध हो जाते हैं और वियोग हो जाते हैं। कहा भी है-

पुत्तो विभाउ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि।

माया होदि सक्ती जणणो विय होदि भत्तारो।।

एयम्मि भवे एदे सम्बन्धो होंति एय-जीवस्स।

अण्ण-भवे कि भण्णई जीवाणं धम्म-रहिदाणां।।

पुत्र भी भाई होता है। वह भाई भी देवर होता है। माता-सौत होती है। पिता भी पति होता है। जब एक जीव के एक ही भव में ये नाते होते हैं, तो धर्म रहित जीवों के दूसरे भव में कहना ही क्या है ?

जैन शास्त्रों में अठारह नाते की कथा प्रसिद्ध है। उस कथा के प्रमुख पात्र धनदेव और पात्री वसन्ततिलका वेश्या तथा उसकी पुत्री कमला के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर उक्त बातें कहीं गई हैं। कथा इस प्रकार है-मालव देश की उज्जैनी नगरी में राजा विश्वसेन, सेठ सुदत्त और वसन्ततिलका वेश्या रहती थी।

सेठ सुदत्त सोलह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। उसने वसन्ततिलका वेश्या को अपने घर में रख लिया। वह गर्भवती हुई और खाज, खाँसी, श्वास आदि रोगों ने उसे घेर लिया। तब सेठ ने उसे अपने घर से निकाल दिया। अपने घर में जाकर वसन्ततिलका ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। खिन्न होकर उसने रत्नकम्बल में लपेट कर कमला नाम की पुत्री को तो दक्षिण दिशा की गली में डाल दिया। उसे प्रयाग का व्यापारी सुकेत ले गया और उसने उसे अपनी सपुत्री नाम की पत्नी को सौंप दिया तथा धनदेव को उसी तरह रत्नकम्बल से लपेट कर उत्तर दिशा की गली में रख दिया। उसे अयोध्यावासी साथ ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नाम की पत्नी को सौंप दिया। पूर्वजन्म में उपार्जित पापकर्म के उदय से धनदेव और कमला का आपस में विवाह हो गया। एक बार धनदेव व्यापार के लिये उज्जैन गया। वहाँ वसन्ततिलका वेश्या से उसका सम्बन्ध हो गया। दोनों के सम्बन्ध से वरुण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार कमला ने श्री मुनिदत्त से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त पूछा। श्री मुनिदत्त ने यह सम्बन्ध बतलाया, जो इस प्रकार है। उज्जैनी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम कश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूमि नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने जिनमति आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशल क्षेम पूछते हुये देखा तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनि से कुशल क्षेम पूछते हुए देखा। इस पर दोनों भाईयों ने उपहास किया। जवान की स्त्री बूढ़ी और बूढ़े की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा उलट फेर किया है। कुछ समय पश्चात् अपने पूर्व उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मर कर उज्जैनी में ही वसन्तसेना की पुत्री वसन्ततिलका हुई और अग्निभूति और सोमभूति दोनों मरकर उनके धनदेव और कमला के नाम के पुत्र और पुत्री हुए। ब्राह्मण की पत्नी व्याभिचारिणी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसन्ततिलका के वरुण नाम का पुत्र हुआ। इस कथा को सुनकर कमला को जाति स्मरण हो आया। उसने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये ओर उज्जैनी जाकर वसन्ततिलका के घर में घुसकर पालने में पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी-

(1) मेरे पति के पुत्र होने से तुम मेरे पुत्र हो। (2) मेरे भाई धनदेव के पुत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो। (3) तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः मेरे भाई हो।

(4) धनदेव के छोटे भाई होने से तुम मेरे देवर हो। (5) धनदेव मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसीलिए धनदेव मेरा पिता है। उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो। (6) मैं वसन्ततिलका वेश्या की सौत हूँ अतः धनदेव मेरा पुत्र है! तुम उसके भी पुत्र हो, अतः तुम मेरे पौत्र हो। यह छः नाते बच्चे के साथ हुये। आगे - (1) वसन्ततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पति है। (2) तुम मेरे काका और धनदेव तुम्हारा भी पिता है अतः वह मेरा दादा है। (3) तथा वह मेरा पति भी है। (4) उसकी और मेरी माता एक ही है, अतः धनदेव मेरा भाई है। (5) मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूँ और वेश्या का वह पुत्र है, अतः मेरा भी पुत्र है। (6) वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्र-वधु हूँ और धनदेव वेश्या का पति है, अतः वह मेरा ससुर है। ये छः नाते धनदेव के साथ हुए आगे- (1) मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है। (2) तेरे मेरे दोनों के धनदेव पिता है और वेश्या उनकी माता है, अतः वह मेरी दादी है। (3) धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी भी माता है। (4) मेरे पति धनदेव की भार्या होने से वह मेरी सौत है। (5) धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी पत्नी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधु है। (6) मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है, अतः मेरी सास है। इन अठारह नातों को सुनकर वेश्या, धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञान हो जाने से जाति स्मरण हो आया। सभी ने जिनदीक्षा ले ली मरकर स्वर्ग चले गए। इस प्रकार एक ही भव में अठारह नाते तक हो जाते हैं, तो दूसरे भव की तो कथा ही क्या है ?

प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो अण्णे।

ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विससेसु।। (150) (प्र.सा.)

The soul tainted with Karma, so long as it does not give up attachment towards external objects the foremost of which is the body, possesses other lifeessentials again and again.

(कम्ममलिमसो) कर्मों से मैला(आदा) आत्मा (पुणो-पुणो) बार-बार(अण्णेपाणे) अन्य-अन्य नवीन प्राणों को (धरदि) धारण करता रहता है।

(जाव) जब तक (देहपधानेसु विसएसु) शरीर आदि विषयों में (ममत्तं ण जहदि) ममता को नहीं छोड़ता है।

जो आत्मा स्वभाव से भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्म रूपी मैल से रहित होने के कारण अत्यंत निर्मल है तो भी व्यवहारनय से अनादि कर्मबंध के वश से मैला हो रहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक बार-बार इन आयु आदि प्राणों को प्रत्येक शरीर में नवीन-नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इन्द्रिय विषयों से रहित परम चैतन्यमई प्रकाश की परिणति से विपरीत देह आदि पंचेन्द्रियों के विषयों में स्नेह रहित चैतन्य चमत्कार की परिणति से विपरीत ममता को नहीं त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय आदि प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण देह आदि में ममत्व करना ही है।

समीक्षा- जिस प्रकार बीज में अंकुर होने की शक्ति होने पर योग्य जलवायु के संबंध से बीज अंकुरित होकर वृक्ष रूप में परिणामन करता है वह वृक्ष अनेक शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि को धारण करता है। उसी प्रकार जीव में संसार उत्पादक शक्ति(राग द्वेष,मोह ममत्व) होने पर वह शरीर, धन, भोगादि से संबंधित होकर द्रव्यकर्म को ग्रहण करता है जिससे उसे पुनःपुनः अनेक प्राणों को धारण करना पड़ता है। इन प्राणों का मूलभूत कारण द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म का मूल कारण भावकर्म है। अतः भाव कर्म ही प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण है।

जिस प्रकार बीज को जला देने से न अंकुर उत्पन्न होता है, न वृक्ष बनता है, न पत्र-पुष्पादि आते हैं उसी प्रकार भावकर्म (ममत्वादि) को जला देने से न द्रव्यकर्म का आस्रव होता है न शरीर उत्पन्न होता है न प्राण ही जन्म लेते हैं। अतः समस्त अनर्थ के मूल कारण भूत आसक्ति को संपूर्ण से नष्ट करना चाहिए।

पौद्गलिक प्राणों के नाश के कारण

जो इंदियादिविजइ भवीय उवओगमप्पगं झादि।

कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरति।। (151)

He, who has conquered his senses etc. and meditates the pure manifestation of consciousness of himself, will not be tainted by karmas, how then can the life-essentials follow him ?

(जो) जो कोई (इंदियादि विजयी) इन्द्रिय आदि का जीतने वाला (भवीय) होकर (उवओगं) उपयोगमई(अप्पगं) आत्मा को (ज्ञादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मोहिं) कर्मों से (ण रज्जदि) लिप्त नहीं होता है अर्थात् नहीं बंधता है (किह) तब किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीव को (अणुचरंति) आश्रय करेंगे ?

जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत में संतोष के बल से जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय-रहित निर्मल आत्मानुभव के बल से कषाय को जीतने से पंचेन्द्रिय को जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमई अपनी ही आत्मा को ध्याता है वह चैतन्य चमत्कारमई आत्मा के गुणों के विघ्न करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों से नहीं बंधता है। कर्मबन्ध के न होने पर ये इन्द्रियादि द्रव्य प्राण किस तरह उस जीव का आश्रय कर सकते हैं ? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नहीं करेंगे। इसी से जाना जाता है कि कषाय और इन्द्रियों के विषयों का जीतना ही पचेन्द्रिय आदि प्राणों के विनाश का कारण है।

समीक्षा-इन्द्रियों की प्रवृत्ति अंतरंग में कषायों की प्रवृत्ति परक होती है इसलिए इन्द्रिय-विजय-कषाय-विजय पूर्वक ही होगी, इसलिए जो इन्द्रिय विजयी है कषाय विजयी भी होगा। अतः इन्द्रिय विजयी (कषाय विजयी भी) होकर स्व-शुद्धात्मा का ध्यान करता है वह कर्म को नहीं बाँधता है। जब कर्म ही नहीं बाँधता है तब कर्म के कार्य स्वरूप प्राणों का संबंध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार वृक्ष को पानी, खाद, भोजन देना बंद कर देने पर वृक्ष सूख जाता है, जिसके कारण उसमें पुष्प, फलादि नहीं आते हैं उसी प्रकार कषाय की निवृत्ति से इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती और आत्मा का ध्यान होता है जिससे कर्मास्रव नहीं होते हैं कर्मास्रव के अभाव से शरीर भी नहीं मिलता है। (क्योंकि कर्माभाव से मोक्ष हो जाता है।) शरीर के अभाव से प्राणों का भी अभाव हो जाता है।

मनुष्यादि व्यवहार से जीव है

अत्थित्तिणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरमिह संभूदो।

अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।। (152) प्र.सा.

The Transformation of one condition into another, in the case of the soul when coming into contact with matter whose existential nature is (already) determined, is the modification with its varieties of figuration etc.

(अत्थित्तिणिच्छिदस्स) अपने अस्तित्व द्वारा निश्चित(अत्थस्स) जीव नामा पदार्थ के (हि) निश्चय से (अत्थतरम्मि संभूदो) पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ (अत्थः) नर-नारक आदि विभाव पदार्थ है सो वही (संठाणादिप्पभेदेहिं) संस्थान आदि के भेदों से (पज्जायो) पर्याय है। चिदानन्दमयी एक लक्षण रूप स्वरूप अस्तित्व से निश्चित ज्ञानमयी परमात्मा पदार्थ रूप शुद्धात्मा से अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों के संबंध से उत्पन्न हुआ जो नर-नारक आदि का स्वरूप है वह छः संस्थान व छः संहनन आदि से रहित परमात्मा द्रव्य से विलक्षण संस्थान व संहनन आदि के द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धत्मानुभव लक्षण रूप स्वभाव व्यंजन पर्याय से भिन्न विभाव व्यंजन पर्याय है।

समीक्षा- शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चैतन्य स्वरूप जीव को छोड़कर संसारावस्था में जो जीव की विभिन्न गति और संस्थानादि हैं वे जीव नहीं हैं परन्तु पुद्गल की विभिन्न अवस्था के होने के कारण पौद्गलिक हैं किन्तु व्यवहार नयापेक्षा (जो व्यवहार झूठा नहीं है परन्तु कर्म सापेक्ष होने के कारण यथार्थ भी नहीं है) जीव हैं। कुंदकुंद देव ने समयसार में कहा भी है-

एकं च दोष्णिण तिण्ण य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।

वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।। (65)

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्टाणाउ करणभूदाहिं।

पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहां भण्णदे जीवो।। (66)

निश्चयनय से कर्म और करण में अभेद भाव है, इस न्याय से जो जिससे किया जाये वह वही है। ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पात्र सुवर्ण से किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य तो कुछ नहीं उसी प्रकार ये जीवस्थान हैं, वे बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये सब पर्याप्त-अपर्याप्त हैं, वे सभी पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, वे करण रूप हैं, उनसे किये गये हैं, इसलिये पुद्गल ही हैं, वे जीव नहीं हैं तथा नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता आगम में प्रसिद्ध है और जो प्रत्यक्ष देखने में आने वाले शरीर आदि मूर्तिक भाव हैं

वे पुद्गल कर्म प्रकृतियों के कार्य होने के कारण अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान-संहनन ये भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किये हुए हैं, इसलिये पुद्गल से अभेद रूप हैं इसी कारण जीवस्थान पुद्गलमय कहने चाहिए। इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं हैं ऐसा निश्चयनय का सिद्धांत है।

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।

देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।। (67)

निश्चय से यह जानना कि बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे शरीर को सूत्र में जीव संज्ञा द्वारा कहा है। वहाँ पर की प्रसिद्धि से घृत के घड़े की तरह व्यवहार है। यह व्यवहार अप्रयोजन भूत है। उसको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कहते हैं-जैसे कोई पुरुष ऐसा था कि जिसने जन्म से लेकर घी का घड़ा देखा था, घृत से खाली भिन्न घट नहीं देखा उसको समझाने के लिए ऐसा कहते हैं कि यह जो घृत का घट है, वह मिट्टीमय है, घृतमय नहीं है ऐसे उस पुरुष के घृत के घट की प्रसिद्धि से समझाने वाला भी घृत का घट कहता है ऐसा व्यवहार है। उसी प्रकार इस अज्ञानी प्राणी के अनादि संसार से लेकर अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसको शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ऐसा सूत्र में कहा है कि जो यह वर्णादिमान् जीव कहा जाता है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है। इस प्रकार उस अज्ञानी प्राणी के वर्णादिमान् प्रसिद्ध है। उस प्रसिद्धि से जीव में वर्णादिमान् होने का व्यवहार सूत्र में किया है।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिगया जे इमे गुणट्ठाणा।

ते कहं हवन्ति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।। (68)

जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, वे पुद्गल रूप मोहकर्म की प्रकृति के उदय होने से होते हैं, इसलिये नित्य ही अचेतन है, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही हैं, इस न्याय से वे पुद्गल ही हे जीव नहीं हैं। यहां गुणस्थानों की नित्य अचेतनताओं से सिद्ध है और चैतन्य स्वभाव से व्याप्त आत्मा से भिन्न रूप से भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं प्राप्य है, इस हेतु सिद्ध करना। चैतन्य मात्र आत्मा के अनुभव ये बाह्य हैं इसलिये अचेतन ही हैं। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, आध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान,

स्थितिबंध स्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गल कर्मपूर्वक होने से नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही हैं, जीव नहीं है, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसलिये रागादिक भाव जीव नहीं है, ऐसा भी सिद्ध हुआ।

मनुष्यादि पर्यायें कर्म जनित है

गरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।

पज्जाया जीवाणं उदयदिहिं णामकम्मस्स।। (153) प्र.सा.

Human, heuish, sub-human and divine modifications of the soul are mutually different with regard to the figuration(of the body) etc., because of the operation of Nama-karman.

(णामकम्मस्स उदयदीहीं) नामकर्म के उदय से (निश्चय से) (जीवाणां) संसारी जीवों की (गरणारयतिरियसुरा) नर नारक, तिर्यच और देव(पज्जाया) पर्यायें (संठाणादीहिं) संस्थान आदि के द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्याय से भिन्न अन्य-अन्य रूप (जादा) उत्पन्न होती है। निर्दोष परमात्मा शब्द से कहने योग्य नाम, गोत्रादि से रहित शुद्ध आत्म द्रव्य से भिन्न नामकर्म के बंध, उदय, उदीरणा आदि के वश से जीवों की नर, नारक, तिर्यच तथा देवरूप अवस्थाएँ अर्थात् विभाव व्यंजन पर्यायें अपने भिन्न भिन्न आकारों से भिन्न भिन्न उपजती हैं। मनुष्य भव में जो समुचतुरस्त्रसंस्थान व औदारिक शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भव में उससे भिन्न ही संस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हर एक नए-नए भव में कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध-बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़कर भिन्न नहीं हो जाता है। जैसे-अग्नि, तृण, काष्ठ, पत्र आदि के आकार से भिन्न-भिन्न आकार वाली हो जाती है तो भी अग्निपने के स्वभाव को अग्नि नहीं छोड़ देती है। क्योंकि ये नर-नरकादि पर्यायें कर्मों के उदय से होती हैं इससे ये शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है।

समीक्षा- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में नामकर्म एक अघाति कर्म है। कुम्हार जिस प्रकार मिट्टी से विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार यह नामकर्म भी जीव के विभिन्न प्रकार के शरीर बनाता है। गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में नामकर्म का कार्य कहते हुए कहा है-

गदिआदि जीव भेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च।

गदियंतर परिणमनं करेदि णामं अणेयविहं।। (12)

नामकर्म, गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकी वगैरह जीव की पर्यायों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल के भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है।

जीव में जिनका फल हो सो जीवविपाकी, पुद्गल में जिनका फल हो सो पुद्गल-विपाकी, क्षेत्र विग्रह गति में जिनका फल हो सो क्षेत्र विपाकी तथा “च” शब्द से भवविपाकी। यद्यपि भवविपाकी आयुकर्म को ही कहा जा सकता है। इस तरह “नामकर्म” जीवविपाकी आदि चार तरह की प्रकृतियों रूप परिणमन करता है।

आधुनिक विज्ञान में भी मानते हैं कि शरीर निर्माण के लिए विभिन्न प्रकार के कोश जिन्स, D.N.A. एवं R.N.A. धातु-उपधातु विटामिन्स आदि चाहिए। अर्थात् उपर्युक्त भौतिक वस्तुओं से शरीर का निर्माण होता है। यह सिद्धांत जैन धर्म में अनादि काल से सिद्ध है और लिखित रूप में 2000 वर्ष पहले इसका वर्णन जैन शास्त्रों में पाया जाता है। अभी भी विज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वह सिद्धांत भी बहुत ही स्थूल सिद्धांत है। अभी भी विज्ञान को ज्ञात नहीं हो पाया कि D.N.A. एवं R.N.A. के मूलभूत सूक्ष्म कारण क्या हैं ? वे विभिन्न कार्य करते हैं क्यों करते हैं और किस लिए करते हैं ? परन्तु जैन धर्म में इसका सूक्ष्म वैज्ञानिक वर्णन है कि जीव जिस प्रकार का भाव करता है उस भाव के अनुसार अनंतानंत कर्म परमाणु संश्लेष संबंध को प्राप्त होकर समय आने पर उस प्रकार कार्य करते हैं जैसे-कोई मिथ्यात्व मायाचारी एवं क्रोध से युक्त होता है तब वह ऐसे कर्म परमाणुओं को संचय करता है जो आगे जाकर उस जीव को सर्प, शेरदि क्रूर पशु बना देते हैं। उसका शरीर भी उस प्रकार वीभत्स, हिंसक, हिंस्त्र अंगोपांग से युक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्य-अन्य जीव एवं शरीर के विषय में समझ लेना चाहिए। डार्विन आदि जीव विज्ञानी तथा कुछ मनोविज्ञानी भी मानते हैं कि जीव परिस्थिति और भाव के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जिस प्रकार शेर, चीता आदि पशु अन्य पशु का शिकार करके चीर-फाड़ करके खाते हैं। इसलिये उनके नाखून-दाँत, जीभादि शरीर के आंगोपांग तीक्ष्ण कर्कश होते हैं। जो जिन

अंगों से कार्य लेते हैं वे अंग अधिक सबल एवं विकसित होते हैं और जिन अंगों से काम नहीं लेते हैं वे अंग दुर्बल एवं अविकसित हो जाते हैं। शरीर के कोशादि भी उस रूप परिणमन करते हैं। यह परिणमन वंशानुगत भी होता है ऐसा वैज्ञानिक लोग मानते हैं। इसलिये यह परिणमन संतान अनुक्रम से आगे बढ़ता जाता है। इसे वैज्ञानिक लोग वंशानुगत गुणसूत्र कहते हैं। हमारे जैनाचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि एक जीव जिस भाव से कर्म संचय करता है वह कर्म उस जीव को आगे अनेक भव में भी प्रभावित करता रहता है। कुंदकुंद देव ने उपर्युक्त सिद्धांत का वर्णन पंचास्तिकाय में निम्न प्रकार से किया है-

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।

पापुण्णति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा।। (119)

यहाँ, गति नामकर्म और आयुकर्म के उदय से निष्पन्न होते हैं इसलिये देवत्वादि अनात्म स्वभावभूत है ऐसा दर्शाया है।

जीवों के जिसका फल प्रारंभ हो जाता है, ऐसा अमुक गति नामकर्म और अमुक आयुकर्म क्रमशः क्षय को प्राप्त होता है। ऐसा होने पर भी उन्हें कषाय अनुरंजित योग प्रवृत्ति रूप लेश्या अन्य गति और अन्य आयुष का बीज होती है। (अर्थात् लेश्या अन्य गति नामकर्म और अन्य आयुकर्म के बंध का कारण होती है इसलिये उसके योग्य (उसके अनुसार) ही अन्य गति तथा अन्य आयुष वे प्राप्त करते हैं। इस प्रकार क्षीण-अक्षीणपने को प्राप्त होने पर भी पुनः पुनः नवीन उत्पन्न होने वाली गति नामकर्म और आयुकर्म (प्रवाह रूप से) यद्यपि वे अनात्म स्वभावभूत है तथापि-चिरकाल (जीवों के) साथ-साथ रहते हैं इसलिये आत्मा को न चेतने वाले जीव संसरण करते हैं (अर्थात् आत्मा का अनुभव न करने वाले जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं) और कुछ उदाहरण देकर उपर्युक्त बात स्पष्ट कर रहे हैं जैसे मिर्च का बीज बोने पर जो मिर्च का वृक्ष बनता है और उसमें जो मिर्च लगती है उस मिर्च का स्वाद प्रायः पूर्वोक्त मिर्च के समान रहता है। जिस मिर्च के बीज से वह वृक्ष बना क्योंकि उस मिर्च के बीज में कुछ ऐसे रासायनिक तत्त्व होते हैं और इस मिर्च में जो जीव आकर जन्म लेता है वह ऐसे कर्म लेकर आता है जिस कर्म के उदय से उस मिर्च का स्वाद चरपरा हो जाता है। नामकर्म के सामान्यतः 93 भेद होते हैं। उनमें से एक रस नामकर्म भी है। उस रस नामकर्म

के मुख्य 5 भेद हैं (1) तिक्त रस (तीखा, चरपरा) (2) कटुकरस (कडुवा), कषायला (कषेला), (4) अम्लरस (खट्टा), (5) मधुर रस (मीठा)। जो जीव पूर्व भव में तिक्त रस (तीखा, चरपरा) नामकर्म को संचय करके मर करके विग्रह गति से आकर मिर्च बीज रूप योनि में जन्म लेते हैं और मिर्च बनते हैं उस के फल में चरपरा रस होता है। इसी प्रकार गन्ना का मीठा रस, इमली का खट्टा रस, नीम का कडुआ रस, आँवले का कषायला रस आदि के बारे में जान लेना चाहिए। इसी प्रकार शरीर के स्पर्श गुण, वर्णगुण, आकारादि के बारे में भी जान लेना चाहिए। इसलिये जीव को जो शरीर अंगोपांगादि मिलते हैं, बनते हैं उसका कर्ता (ब्रह्मा) स्वयं ही है। अन्य कोई नहीं है। परमात्म प्रकाश में कहा भी है -

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु- बहु-बिहउ जणेइ।

लिंगन्तय - परिमंडियउ सो परमण्यु हवेइ॥ (40)

जो आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मरूप कारणों को पाकर अनेक प्रकार के जगत् को पैदा करता है अर्थात् कर्म के निमित्त से त्रस स्थावर रूप अनेक जन्म धरता है स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग इन तीन चिह्नों कर सहित हुआ जगत् में भटकता है इसलिए जगत् कर्ता कहा है और शुद्धपने रूप परिणत हुआ विभाव (विकार) परिणामों को हरता है, इसलिये हर्ता है। यह जीव ही ज्ञान ज्ञानदशाकर कर्ता-हर्ता है और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्ता-हर्ता नहीं हैं।

पूर्व में जो शुद्धात्मा कहा था, वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है, तो भी अनादि से संसार में ज्ञानावरणादि कर्म बंध कर ढका हुआ वीतराग, निर्विकल्प सहजानन्द, अद्वितीय सुख के स्वाद को न पाने से व्यवहारनय कर त्रस और स्थावर रूप स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिंगादि सहित होता है, इसलिये जगत्कर्ता कहा जाता है अन्य कोई भी दूसरों कर कल्पित परमात्मा नहीं है। यह आत्मा ही परमात्मा को प्राप्ति के शत्रु तीन वेदों (स्त्रीलिंगादि) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जालों को निर्विकल्प समाधि से जिस समय नाश करता है, उसी समय उपादेयरूप मोक्ष-सुख का कारण होने से उपादेय हो जाता है।

कम्महिं जासु जणंतहिं वि णिउ कज्जु सया वि।

किं पि ण जणिउउ हरिउ णवि सो परमण्यउ भावि॥ (48)

ज्ञानावरणादि कर्म हमेशा अपने-अपने सुख-दुःखादि को प्रगट करते हैं तो भी शुद्ध निश्चयनयकर जिस आत्मा का कुछ भी अर्थात् अनंतज्ञानादि स्वरूप न तो नया पैदा किया और न विनाश किया न दूसरी तरह का किया उस परमात्मा को तू चिंतवन कर।

यद्यपि व्यवहारनय से शुद्धात्म स्वरूप के रोकने वाले ज्ञानावरणादि कर्म अपने-अपने कार्य को करते हैं, अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञान को ढकता है, दर्शनावरण कर्म दर्शन को आच्छादन करता है, वेदनीय साता-असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रिय सुख को घातता है मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र को रोकता है, आयुकर्म स्थिति के प्रमाण शरीर में रखता है, अविनाशी भाव को प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नाना प्रकार गति जाति शरीरादिक को उपजाता है, गोत्रकर्म ऊँच-नीच गोत्र में डाल देता है और अंतरायकर्म अनंतवीर्य (बल) को प्रगट नहीं होने देता इस प्रकार ये कार्य को करते हैं, तो भी शुद्ध-निश्चयनयकर आत्मा का अनंतज्ञानादि स्वरूप का इन कर्मों ने न तो नाश किया और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। ऐसे अखण्ड परमात्मा का तू वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर ध्यान कर। यहाँ पर यह तात्पर्य है, कि जो जीव पदार्थ कर्मों से न हरा गया, न उपजा, किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है। गीता में भी कहा है-

देहिगोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (13)

देह धारी को जैसे इस शरीर में कौमर, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावर जंगमम्।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञय संयोगात्तद्विद्वि भरतर्षभ॥ (26)

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है, वह हे, भारतवर्ष! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई जान।

आत्म उपलब्धि हेतु

गाथा- जिणदेवो होदु सदा मई सु जिणसासणे सया होऊ।

सण्णासेण य मरणं भवे भवे मज्झ संपदओ॥ (48) कल्याणा.

जिणो देवो जिणोदेवो जिणोदेवो जिणो जिणो।

दया धम्मो दया धम्मो दया धम्मो दया सदा।। 49 कल्याणा.

महा साहु महा साहु महासाहु दिगम्बरा।

एवं तच्च सया हुज्ज जावण्णो मुत्ति संगमो।। 50 कल्याणा.

पद्य- भव भव में मेरी हो सदा जिनेन्द्र भक्ति मति हो जिनशासन में।

समाधि मरण हो मेरे भव-भव में जब तक मुझे मुक्ति न मिले।।

जिनदेव जिन देव जिन देव जिन जिन।

दया धर्म दया धर्म दया धर्म दया सदा।।

महासाधव महासाधव महासाधव दिगम्बर।

ऐसा तत्त्व सदा मुझे मिले जब तक न मिले मुक्ति।।

आध्यात्मिक गुरु V/S लौकिक जन

(आध्यात्मिक गुरु के भाव-काम-वचन लौकिक जन से विपरीत।)

(चाल : - हे! जिनवर तेरी कठिन डगरिया...)

हे! गुरुवर तेरे अलौकिक काम/(भाव), रागी-द्वेषी-मोही से होते भिन्न।

रागी-द्वेषी-मोही होते लौकिक, लौकिक से परे आप हो आध्यात्मिक।।

आप का लक्ष्य आत्मा को पाना, लौकिक जीवों का लक्ष्य भौतिक पाना(1)

आत्मा को पाने हेतु लौकिक त्याग, लौकिक जनों का होता आत्मा का
त्याग।

आत्मा को पाने हेतु (आप) त्यागा परिवार, लौकिक जन हेतु प्रमुख परिवार।

स्व-पर-विश्व हित आप का विचार, लौकिक जनों के संकीर्ण विचार।।(3)

आप ने त्यागा धन-जन-नाम, लौकिक जन चाहते धन-जन-नाम।

ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि त्यागा, लौकिक जन हेतु ख्यातिपूजालाभादि
प्रमुख

शत्रु-मित्र-भाई-बन्धु में समता आपकी, लौकिक जनों की राग-द्वेष प्रवृत्ति।

अपना-पराया भेद-भाव परे आप, अपना-पराया भेद-भाव युक्त लौकिक।।

स्व-देह आदि को (आप) मानते हो पर, शरीर आदि में लौकिक करते
ममकार अहंकार।

मोक्ष साधना हेतु (आप) शरीर की करते रक्षा, भोगादि हेतु लौकिक करे
शरीर की रक्षा(6)

ख्याति-पूजा-सत्कार स्वयं मिले आपको, ख्याति-पूजा-सत्कार हेतु लौकिक
संकलेशित
ज्ञान चेतना से आप वीतराग विज्ञानी, कर्मफल-कर्मचेतना के लौकिक
ज्ञानी।।

सत्य-समता-शान्ति आप का स्वरूप, अस्त-व्यस्त-संत्रस्त होते लौकिक।
स्व-सुधार हेतु प्रयत्न करते हो आप, पर को स्व-अनुकूल बनाना चाहे
लौकिक।। (8)

संकल्प-विकल्प-संकलेश रहित संकल्प-विकल्प-संकलेश सहित लौकिक।
आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व रहित हे! गुरु, आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व से सहरागी
द्वेषी(9)

स्व-आलोचना से स्व-शुद्धि करते हे ! गुरु, पर निन्दा से स्व को मलीन
करे मोही-रागी
आप का अनुयायी “मुमुक्षु कनक सूरी”, लौकिक जनों से माध्यस्थ रहते
“कनकसूरी”।(10)

लौकिक जन भी आप को स्व-समान मानते, वे भी आपको स्व(के)
अनुसार चलाना चाहते।
आप से भी लौकिक कार्य कराना चाहते, आप से भी वे राग-द्वेष मोहादि
करते।।(11)

तथापि आप स्व-लक्ष्य से न विचलीत होते, अपाय व विपाक विचय
धर्मध्यान ध्याते
योग्य होने पर उन्हें आत्मज्ञान भी देते, अयोग्य होने पर मौन-समता में
रहते।। (12)

मिथ्यामति-मिथ्यादृष्टि, जीव मिथ्याबुद्धि के अभिमान से मन्दोन्मत्त होकर
मदिरापान करने वाले मार्ग भ्रष्ट भुल्लड मनुष्य के समान यद्वा मिथ्या प्रलाप करते हैं,

ओर वे मोह के उदय से अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं। तब अपनी आत्मा के समता भाव को कैसे जानेगें ? अर्थात् सर्वथा नहीं जानेगें।

कर्मक्षय का हेतु सम्यक्त्व

मिहरो महंधयारं मरूदो मेहं महावणं दाहो।

वज्जो गिरिं जहाविय सिंज्जइ सम्मे तहा कम्मं॥ 42

अर्थ :- जिस प्रकार सूर्य अंधकार को तत्काल नष्ट करता है। वायु मेघ के समूह को नाश कर देती है। दावानल वन को जला देता है। ब्रज पर्वतों का भेदन (चूर्ण) कर देता है। उसी प्रकार एक सम्यक्त्व भी समस्त कर्मों का नाश कर देने में समर्थ है।

सम्यग्दृष्टि जैन होते निजशुद्धता में अनुरक्त

(सम्यग्दृष्टि जैन होते 44 दोष रहित, 77 गुण सहित)

(चाल :- जय हनुमान....)

-आचार्य कनकनन्दी

सम्यग्दृष्टि जैनों के स्वरूप को जानो, निजशुद्ध आत्मा में अनुरक्त मानो।
चवालीस (44) दोष रिक्त सतहत्तर (77) गुणयुक्त, प्राथमिक मुमुक्षु के गुण पहचानो॥ (1)

गाथा- णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी।

जिणमुणिधम्मं मण्णइ गइदुक्खीहोइ सहिद्धी॥ (6) (र.सा.)

मयमूढमणायदणं संकाइवसण भयमईयारं।

जेसिं उदालेदो ण संति ते होंति सहिद्धी॥ (7)

उहयगुणवसण भयमलवेरग्गाइचारभत्तिविग्घं वा।

एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया॥ (8)

सम्यग्दृष्टि श्रद्धान करता स्वयं का, निश्चय से मैं हूँ शुद्ध परमात्मा।

बहिरात्मा व पर पदार्थ रहित मैं हूँ, देव-शास्त्र-गुरु के भक्त भी मैं हूँ॥

आठ (8) मद व तीन (3) मूढ़ता रहित, छह (6) अनायतनों से भी
विरक्त।

शंकादि आठ (8) दोषों से रहित, सप्त (7) व्यसनों से भी विरक्त।। (2)
 सप्त (7) भयों से भी रहित, पंच (5) अतिचारों से भी विरक्त।
 चवालीस गुण अतः प्रगट होते, बारह व्रतों से वे सहित (भी) होते।।
 वैराग्य भाव व भक्ति सहित भी, विघ्न रहित सत्तहत्तर(77) गुण सहित।
 उक्त गुणों में निहित सभी नैतिक गुण,व्यक्तिगत-सामाजिक-राष्ट्रीय भी गुण।
 वे न करते अन्याय-अत्याचार-पापाचार, शोषण-मिलावट व भ्रष्टाचार।
 फैशन-व्यसन व ढोंग-आडम्बर, परनिंदा-अपमान-हत्या-बलात्कार।।
 अंतः वे न करते कभी भी अपराध, अतः उन्हें न होता कानून से भय।
 दान-दया-परोपकार करते सदा,मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ मुद्रा।। (4)
 ज्ञान-वैराग्य-वृद्धि से बनते श्रमण, समता-शांति निस्पृहता से करते ध्यान।
 आत्मविशुद्धि से बनते अरिहंत-सिद्ध 'कनक' का लक्ष्य है अरिहंत-सिद्ध।।

लौकिक जन V/S आध्यात्मिकजन

(सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु के समस्त भाव व लक्ष्य अलौकिक होते हैं!)

(चालः वैष्णव जन तो...2. सायोनारा)

-आचार्य कनकनन्दी

लौकिक जन तो तेने कहिए...जे भौतिक दृष्टि सहित हैं...
 आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'चैतन्य दृष्टि' सहित हैं...
 लौकिक जन तो तेने कहिए...जे शरीर को 'मैं' माने हैं...
 आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे आत्मा को 'मैं' माने हैं...
 लौकिक जन तो तेने कहिए...जे अज्ञान-मोह से सन्तप्त हैं...
 आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'श्रद्धा-प्रज्ञा' से सहित हैं...
 लौकिक जन तो तेने कहिए...जे ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा (से) मूर्च्छित हैं...
 आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे सत्य-समता-शान्ति सहित हैं...
 लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि मोहित हैं...
 आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'आत्म विश्वास ज्ञान चर्या' पूर्ण हैं...

लौकिक जन तो तेने कहिए...जे फैशन-व्यसनों से उत्तप्त/(मस्त) हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे सरल-सहज-सन्तोषी हैं...
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे संकीर्ण स्वार्थ हेतु प्रयत्न हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे परमार्थ साधना में रत हैं...
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'शत्रुता-मित्रता भाव' सह हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'मैत्री प्रमोद करुणा साम्य' युत हैं...
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'दिखावा-आडम्बर' सहित हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'मौन-एकान्त साधना' रत हैं...
लौकिक जन तो तेने कहिए, जे 'दीन-हीन-अहंकार' सहित हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'स्वाभिमान-सोऽहं-अहं' सह हैं।
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'प्रतिस्पर्द्धा-वर्चस्व' सहित हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'आत्मशुद्धि-प्रगति' सह हैं...
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'परनिन्दा-अपमान' सहित है...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'आत्म-विश्लेषण-समीक्षा' सह हैं...
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'संकीर्णता-कट्टरता' सहित हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'उदारता-पावनता' सहित है...
लौकिक जन तो तेने कहिए...जे 'तन-मन-इन्द्रियों के' दास हैं...
आध्यात्मिक जन तेने कहिए...जे 'तन-मन-अक्ष' को बनाते दास हैं...
बाह्य में दोनों समान होने पर भी...भाव व लक्ष्य में भिन्न हैं...
लौकिक जन आध्यात्मिक जनों को न समझ पाते 'कनक' किया वर्णन हैं

अनन्त गतकाल के दुःख के कारण

गाथा- एवमेव गओकालो अणंतो दुक्खसंगमे।

जिणोवदिदुसण्णासे ण यतारोहणा कया।। (51) कल्याणा.

पद्य- अभी तक मेरा अनन्तकाल बिता केवल दुःख भोगने में।

जिन उपदिष्ट सन्यास मरण यत्नपूर्वक नहीं करने से।।

वर्तमान जिन धर्म प्राप्ति से सिद्धि प्राप्ति

गद्य- संपद् एवं संपत्ताराहणा जिणदेसिया।

किं किं ण जायदे मज्झ सिद्धिसंदोहसंपई।। (52) कल्याणा.

अहो धम्ममहो धम्मं अहो मे लब्धि णिम्मला।

संजादा संपया सारा जेण सुक्खमणूपमं। (53)

एव आराहंतो आलोयणवंदणापडिक्कमणं।

पावइ फलं च तेसिं णिद्धिं अजियवम्मेण।। 54

पद्य- वर्तमान जिन देव उपदिष्ट आराधना को प्राप्त कर।

क्या क्या मुझे न मिलेंगे सिद्धि समूह सम्पत्ति।।

अहो धर्म अहो धर्म अहो मुझे प्राप्त हुई निर्मल लब्धि।

जिससे से मुझे प्राप्त होगी अनुपमसुखमय सम्पत्ति सारी।।

आलोचना वन्दना प्रतिक्रमण की ऐसी आराधना से।

जिनेन्द्र कथित फल प्राप्त होता है निश्चय से।।

अज्ञात पूर्व आचार्यकृत (अजितब्रह्म) कल्याणालोचना का पद्यानुवाद।

आठ दिन में हुआ पूर्ण अष्टमूलगुण प्राप्त ही 'कनक' का लक्ष्य।

नन्दौड़ 1.11.2018 रात्रि 8:53

(विशेष - 'अजियवम्मेण' (अजितब्रह्म) संभवतः इस मूल ग्रन्थ के लेखक हो सकते हैं।)